श्रीमान् स्व० सेठ बहादुरमलजी सा० बांठिया

श्रीमान सेठ बहादुरमलजी सा० बांठिया

[संक्षिप्त परिचय]

—★—

स्थानकवासी सम्प्रदाय के पुराने नायकों का स्मरण करने पर, भीनासर (बीकानेर) के श्रीमान सेठ बहादुरमलजी सा० बांठिया का नाम अवश्य याद किया जाता है। आपने विगत वर्षों में समाज की बहुमूल्य सेवाएँ कीं। समाज की अनेक प्रसिद्ध संस्थाओं के साथ आपका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा।

सेठ बहादुरमलजी सा० एक आदर्श, श्रीमान् के समस्त गुणों से युक्त महानुभाव थे। आपके हृदय की उदारता, सदाचारिता सरलता और सेवाप्रेम अनुकरणीय रहीं।

उदारता बांठिया—वंश में परम्परागत वस्तु बन गई है। सेठ बहादुरमलजी सा० को भी यह वसीयत में मिली थी। सेठजी के पितामह श्री हजारीमलजी बांठिया ने एक लाख, एकतालीस हजार रुपये का उदार दान दिया था, जिसका सार्वजनिक कार्यों में सदुपयोग करते हुए आपने भी अपने जीवनकाल में लगभग डेढ़ लाख रुपयों का दान दिया है।

आपकी ओर से भीनासर में एक जैन औषधालय चलता है। बहुत वर्षों तक सेठजी अपने निजी खर्च से और निजी देखरेख में उसका संचालन करते रहे। वि० सं० ९६ में आपने स्थायी रूप प्रदान करने के उद्देश्य से २५०००) रु० दान कर औषधालय का फंड बना दिया।

आपने अन्तिम समय में छत्तीस हजार अपने नाम से और ५७०१) रु० अपने कनिष्ठ पुत्र स्वर्गीय बंशीलाल के नाम से दान किये, जो श्री श्वे० सा० जैन औषधालय, भीनासर को स्थायी बना देने तथा समाज की अन्य संस्थाओं को सहायता देने के निमित्त लगाये गये हैं।

पींजरापोल के लिए आपने अपना एक मकान भेट दिया। पंचायत के लिए मकान और जमीन दी, घोड़ आदि पशुओं की दया से प्रेरित हो गंगाशहर से लेकर भीनासर तक पक्की सड़क बनवाने में आपका मुख्य हाथ रहा और उसके लिए आपने आधा खर्च भी किया।

पूज्य श्री के प्रति आपकी अनुपम भक्ति थी। पूज्य श्री को जब युवाचार्य पदवी देने का श्री संघ ने निश्चय किया, पर पूज्य श्री ने उसे स्वीकार न करते हुये सामान्य मुनि के रूप में ही रहने की इच्छा प्रदर्शित की थी तब स्वर्गीय सेठ वर्धमानजी पीतलिया के साथ आप पूज्य श्री की सेवा में उपस्थित हुए और आपने युवाचार्य पद की स्वीकृति प्राप्त की।

जलगाँव में जब पूज्य श्री का स्वास्थ्य बहुत अधिक खराब हो गया था, तब आप अपने घर-बार की चिन्ता छोड़कर पूज्य श्री की सेवा में उपस्थित रहे। उस समय की आपकी भक्ति अत्यन्त सराहनीय थी। संवत् १९८५, और ९९ में भी आपको पूज्य श्री की सेवा का महत्वपूर्ण लाभ प्राप्त हुआ है।

वि० सं० १९९६ में आप लकवा से ग्रस्त होकर चलने फिरने में असमर्थ हो गये। फिर भी भक्ति के आधिक्य के कारण आप

प्रतिदिन पूज्य श्री [illegible] के दर्शन करने के लिए खास तौर पर बनवाई गई गाड़ी में किसी प्रकार आते, सामायिक करते और व्याख्यान सुनते थे। जब अनेक तन्दुरुस्त लोग धर्मक्रिया में प्रमाद-शील बने रहते हैं तब सेठ सा० की यह धर्मभक्ति देखकर हृदय से "वाह-वाह !" निकल पड़ता था।

सेठ सा० की धर्मपत्नी का जब स्वर्गवास हुआ, तब आपकी उम्र सिर्फ २६ वर्ष की थी। धन की बहुलता और यौवनकाल होने पर भी आपने दूसरा विवाह नहीं किया और पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने की भीष्म प्रतिज्ञा ले ली। जहाँ ६० वर्ष के बूढ़े काम-वासना के गुलाम बने रहते हैं वहाँ सेठ सा० का भर जवानी में पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन निस्सन्देह एक बहुत ऊँचा आदर्श है और इससे उनके जीवन की उच्चता का अनुमान लगाया जा सकता है। आपके ब्रह्मचर्य का ही यह प्रताप था कि लकवा से दीर्घ काल से ग्रस्त होने पर भी आप धर्मध्यान करते रहे।

सेठ बहादुरमलजी सा० को साहित्य से बहुत प्रेम था। आपने अपनी ओर से कई पुस्तकें प्रकाशित की हैं और कइयों के प्रकाशन में सहायता प्रदान की है। 'धर्म-व्याख्या' की दो हजार प्रतियाँ आपने बिना मूल्य वितीर्ण कराईं और 'सत्यमूर्ति हरिश्चन्द्र,' 'ब्रह्मचर्य-व्रत', 'सुदर्शन चरित्र' और 'मुखवस्त्रिका सिद्धि' आदि पुस्तकों को अर्द्ध-मूल्य में विक्रय करने के लिये सहायता दी। 'दिव्य-सन्देश' भी आपकी ही सहायता से प्रकाशित की गई। पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज के जीवन-चरित के लिए आपने दो हजार रुपये की बिना माँगी सहायता दी और अपने साहित्यप्रेम एवं धर्मानुराग का परिचय दिया।

दीक्षाभिलाषी वैरागियों को आपकी ओर से शास्त्र आदि धर्मोपकरण भेंट किये जाते थे। आपने अपने अध्ययन के लिये

पुस्तकों का ग्रन्थालय के रूप में संग्रह किया है जिसमें छपे हुये ग्रंथों के अतिरिक्त हस्तलिखित धर्मग्रन्थ भी हैं।

अन्त तक आप 'हितेच्छु श्रावक मण्डल' रतलाम आदि अनेक संस्थाओं के प्रथम श्रेणी के सदस्य रहे।

आपका कुटुम्ब बीकानेर के प्रसिद्ध धनिकों में गिना जाता है। कलकत्ता और मन्सुख (आसाम) में आपके फर्म चलते हैं और सिंघपुरा (पंजाब) में आपकी विशाल जमींदारी है। कलकत्ते में छतरी का आपका प्रसिद्ध कारखाना है। इस प्रकार धन का भरापूरा भण्डार होने पर भी आपकी सादगी प्रशंसनीय थी। आप अत्यन्त सरल, मिलनसार और भावुक सज्जन थे।

आपके सुपुत्र कुँ० तोलारामजी तथा कुँ० श्यामलालजी भी बड़े सेवाभावी, धर्मानुरागी और सरल हृदय हैं। आपसे समाज को बड़ी बड़ी आशाएँ हैं।

श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी सा० बांठिया का ता० ४ जनवरी सन् १९४५ को ५६ वर्ष की आयु में भीनासर (बीकानेर) में अपने निवासस्थान पर दुःखद स्वर्गवास हो गया। आपका जन्म सं० १९४६ वि० में आषाढ़ शुक्ला तृतीया को हुआ था। आप करीब साढ़े पाँच वर्ष से लकवे से पीड़ित थे।

आज सेठ सा० भौतिक देह से तो अपने साथ में मौजूद नहीं हैं पर आप जो आदर्श समाज के सामने उपस्थित कर गये हैं, वह चिरकाल तक सब लोगों का मार्ग-प्रदर्शन करता रहेगा। अन्त में शासनदेव से प्रार्थना है कि दिवंगत आत्मा को शान्ति और उनके दुःखी परिवार को यह दुःख सहने की शक्ति प्राप्त हो।

श्री बहादुरमलजी सा० बांठिया के हृदयविदारक स्वर्गवास के शोक में जिन-जिन संस्थाओं के शोक-प्रस्ताव व जिन-जिन सज्जनों के और संस्थाओं के समवेदना सूचक पत्र आये उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं:—

—: शोक प्रस्ताव :—

(१) श्री जैनेन्द्र गुरुकुल पंचकूला :—

इस संस्था के समस्त कार्यकर्त्ता व ब्रह्मचारीगण को पत्र द्वारा यह जानकर कि श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी सा० बांठिया का स्वर्गवास हो गया है, हार्दिक शोक हुआ। सेठ सा० अत्यन्त नम्र सरल स्वभावी उदार हृदय व दानी थे। आपके स्वर्गवास से स्थानकवासी जैन-समाज की महान् क्षति हुई है। हमारी हार्दिक भावना है कि स्वर्गस्थ आत्मा को शान्ति व परिवार को धैर्य प्राप्त हो। सेठ सा० के स्वर्गवास के शोक में विद्यालय में अवकाश रक्खा गया।

(२) श्री जैनेन्द्र गुरुकुल पंचकूला की जैनकुमार सभा :—

श्रीमान् दानवीर सेठ बहादुरमलजी सा० बांठिया के स्वर्गवास के हृदय-विदारक समाचार जानकर इस सभा को हार्दिक शोक हुआ। श्रीमान् जैनसमाज के महान् नेता थे। आपने हजारों रुपयों का दान देकर अपनी उदारता का परिचय दिया है। आपके स्वर्गवास से समाज का एक रत्न खो गया है जिसकी पूर्ति होना दुष्कर है। शासनदेव से प्रार्थना है कि दिवंगत आत्मा को शान्ति और इष्टमित्र तथा परिवार को धैर्य प्राप्त हो।

(३) श्री जैन गुरुकुल शिक्षण संघ ब्यावर :—

स्था० जैन-समाज के अनुरागी अग्रगण्य भक्त उदार श्रावक-रत्न श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी सा० बांठिया, भीनासर निवासी के

देहावसान पर यह संस्था हार्दिक खेद प्रकट करती है और स्वर्गस्थ के कुटुम्ब परिवार के साथ समवेदना प्रकट करती है।

(४) श्वे० स्था० जैन सभा कलकत्ता :—

समाज अमूल्य रत्न उदार दानी चरित्रवान धर्मपरायण श्रीमान् बहादुरमलजी बांठिया को खोकर अत्यन्त खेद प्रकट करता है। श्री शासनदेव से प्रार्थना है कि दिवंगत आत्मा को शान्ति और शोकाकुल परिवार को धैर्य प्राप्त हो।

(५) श्री जैन श्वे सा० शिक्षण संघ उदयपुर :—

आज हमारे समक्ष समाज सेवी उग्रदानी श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी सा० बांठिया, भीनासर निवासी नहीं हैं। उनके स्वर्गवास से एक ऐसा स्थान रिक्त हुआ है जिसकी पूर्ति होना कठिन है। आपने स्वर्गीय पूज्य श्री जवाहरलालजी म० सा० की जो आदर्श सेवा की वह अनुकरणीय है। अतः ऐसे सुयोग्य उदार व्यक्ति के वियोग से दुःखी होकर हम सभी करबद्ध श्री अरिहंत देव से प्रार्थना करते हैं कि वे दिवंगत आत्मा को शान्ति एवं सद्गति और उनके वियोग से संतप्त परिवार को यह दुःख सहने की शक्ति प्रदान करें।

(६) श्री जैन ओसवाल बोर्डिंग नासिक सिटी :—

धर्मनिष्ठ श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी सा० बांठिया के आकस्मिक अवसान पर यह संस्था शोक प्रकट करती है और शासनदेव से मृत आत्मा की चिर शान्ति के लिए प्रार्थना करती है, साथ ही दुःखी कुटुम्बी जनों के प्रति सहानुभूति की भावना रखती है।

बहुसंख्यक पत्र एवं तार आये हैं पर स्थानाभाव के कारण सबका विवरण न देकर हम कतिपय पत्रों का ही विवरण लिखते हैं—

श्री अ० भा० श्वे० स्था० जैन कान्फ्रेन्स, बम्बई—

श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी सा० बांठिया ने कान्फ्रेन्स एवं समाज की अनन्य सेवाएँ बजाई थीं। उनके निधन से हमने और समाज ने एक अनुभवी उत्साही कार्यकर्ता और अग्रगण्य नेता खोया है, जिसकी कमी निकट भविष्य में पूर्ण होने वाली नहीं है। हम सद्गत आत्मा की शान्ति चाहते हैं। उनके स्वर्गवास से उनके कुटुम्बी जनों पर जो महादुःख आया है उसमें हमारी हार्दिक सम-वेदना है।

पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम—

श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी सा० बांठिया का स्वर्गवास होना समाज के लिए खेद का विषय है। समाज में और खासकर पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय के श्रावकों में सेठ सा० का स्थान अग्रगण्य था। मर्हूम सेठ सा० ने सम्प्रदाय की व समाज की बहुत सेवा बजाई है। ऐसे नेताओं का वियोग समाज के लिए असह्य है किन्तु कालकराल के आगे लाचारी है। दुःखी परिवार के दुःख में हम समवेदना प्रकट करते हैं।

श्री घाटकोपर सार्वजनिक जीव-दया खाता, घाटकोपर—

श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी सा० बांठिया के आकस्मिक स्वर्गवास के समाचार जानकर यह संस्था अत्यन्त दुःख प्रकट करती है। आप समाज में अग्रगण्य नेता एवं जीवदया के महाप्रेमी थे। आप श्री के अवसान से इस संस्था को और स्था० जैनसमाज को भारी क्षति पहुंची है। उनके कुटुम्ब पर जो महान् दुःख आया है उसमें यह संस्था समवेदना प्रकट करती है और दिवंगत आत्मा की चिर शान्ति के लिए शासनदेव से प्रार्थना करती है।

श्री श्वे० स्था० जैन बोर्डिंग, मद्रास—

जैनसमाज के आधार स्तम्भ माननीय बहादुरमलजी सा० बांठिया के स्वर्गवास के समाचार से बोर्डिंग स्कूल का समस्त परिवार दुःखी है। ऐसे दुःखद अवसर पर हम जिनेश्वर भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि स्वर्गस्थ आत्मा को शान्ति प्राप्त हो और उनके विरह से सन्तप्त परिवार को धैर्य।

श्री जैन एज्यूकेशन सोसायटी, बम्बई—

श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी सा० बांठिया के स्वर्गवास के समाचार से हमें बहुत खेद हुआ है। सेठ सा० ने अपने जीवनकाल में अनेक समाजोपयोगी कार्य किये हैं। आपके स्वर्गवास से समाज को बड़ी क्षति हुई है।

श्री स्था० जैन वीरमंडल, केकड़ी (अजमेर)—

श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी सा० बांठिया के दुःखद अवसान के समाचार पढकर यहां का समस्त श्री स्था० जैन श्री संघ हार्दिक शोक प्रकट करता है और दुःखी परिवार के प्रति हार्दिक समवेदना प्रकट करता हुआ शासनदेव से प्रार्थना करता है कि दिवंगत आत्मा को चिर शान्ति प्राप्त हो।

जैन संघ, कानपुर

श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी सा० बांठिया के अवसान पर यहाँ की सकल जैन समाज अत्यन्त शोक प्रकट करती है कि हमारे जैनसमाज से एक ऐसा दानवीर सुश्रावक उठ गया। ऐसी उच्च महान् आत्मा को ईश्वर सद्गति देवे और दुःखी परिवार को धैर्य देवे।

श्री जैन रत्न विद्यालय, भोपालगढ़—

दीवान बहादुर मोतीलालजी सा० मूथा सतारा सिटी
कोठारीजी गिरधारीसिंहजी सा० चीफ रजिस्ट्रार एण्ड सुपरिन्टेन्डेन्ट
ऑफ स्टाम्प, उदयपुर

भाई धनेचन्द डी० जवेरी, जयपुर
श्री ताराचन्दजी सा० गेलड़ा, फुलेरा
श्री हीरालालजी सा० नांदेचा, खाचरोद
श्री रतनचन्दजी हरजसरायजी, अमृतसर
केशर बहन, बम्बई
श्री लक्ष्मणदासजी गम्भीरमलजी, जलगांव
श्री नथमलजी पीतलिया, रतलाम
शाह कानजी पानाचन्दजी, कलकत्ता
भाई जगजीवन खेतसी, जामनगर
भाई अमीलाल जीवनलाल ढाकी, पोरबन्दर
श्री मुल्तानमलजी किशनलालजी, कलकत्ता
श्री खूबचन्दजी भँवरलालजी चंडालिया, सरदारशहर
श्री श्रीचन्दजी अब्बाणी, ब्यावर
श्री मुल्तानचन्दजी लखमीचन्दजी धाड़ीवाल, धगड़ी
श्री बिजेराजजी चम्पालालजी गुलेछा, खीचन
श्री एस० माणिकचन्दजी पुखराजजी छलानी, मैसूर

श्रीमान सेठ बहादुरमलजी सा० बांठिया के शोक में कलकत्ता अम्ब्रेला मर्चेन्ट एसोसियेशन के आदेशानुसार कलकत्ता के छत्तों का बाजार एक रोज के लिए बन्द रक्खा गया। इस एसोसियेशन के पहले आप बहुत अर्से तक सेक्रेट्री रह चुके थे।

पण्डितजी ने अपना सिर धुनते हुये कहा—'फूटा भाग्य हमारा और तुम्हारा शामिल ही! मैंने कही खेत की, तुमने सुनी खलिहान की!'

इस श्रोता की भूल की पुनरावृत्ति आप न करें। आप कुछ का कुछ न समझ बैठें, इस बात की सावधानी रखिये।

सुबाहुकुमार की कथा, सुबाहुकुमार की ही कथा नहीं है। एक विकासशील पुण्य-पुरुष की जीवन-कथा है। इसे अपने जीवन पर घटित करने का प्रयत्न करने वाला पुरुष सुबाहु के समान कीर्ति-शाली और पुण्यात्मा बन सकता है।

सुबाहुकुमार की यह कथा सभी के लिए आदर्शरूप है। शास्त्रकार ने जन-मन-रंजन के उद्देश्य से यह कथा नहीं कही है। उन्होंने कथा के रूप में एक उच्चतर आदर्श सर्वसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किया है। कथा पढ़ सुनकर उस आदर्श को अपने जीवन में उतार लेना ही कथा सुनने या पढ़ने का सब से बड़ा फल है।

श्रोताओं में बहुत से भाई धनाढ्य हैं। वे इस भ्रमपूर्ण विचार का परित्याग कर दें कि उनकी धनाढ्यता उनके असत्य भाषण करने का, दगाबाजी का, सट्टेबाजी का या अन्याय का परिणाम है। सचाई यह है कि धनवानों को आज जो धन प्राप्त है वह पूर्व आचरित पुण्य का फल है। इसी प्रकार कीर्ति पुण्य का फल है। इसके विपरीत जिन मनुष्यों की जगत् में अपकीर्ति फैलती है, अपयश होता है, तिरस्कार होता है, उन मनुष्यों को भी अपनी पापमय करनी का फल मिल रहा है। इस कथा से आप यह परिणाम निकाल कर कल्याणमार्ग पर चलेंगे तो कथा का श्रवण और वाचन सार्थक होगा।

विषयसूची

सुबाहुकुमार

(१)

विषय--प्रवेश

गवान महावीर स्वामी की दिव्य-ध्वनि, गणधर महाराज की कृपा से द्वादशांगी के रूप में ग्रथित हुई। काल-दोष से यद्यपि उसका बहुभाग विच्छिन्न हो गया है, फिर भी आज जितना भाग हमारे समक्ष उपस्थित है, वह भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। आत्म-कल्याण की इच्छा रखने वाला भव्य पुरुष इस वाणी से लाभ उठाकर अपना परम कल्याण-साधन कर सकता है।

भगवान वीतराग और सर्वज्ञ थे। उनकी आत्मा उस सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त हो चुकी थी, जहाँ पूर्ण कृतकृत्यता आ जाती है, साधना की सफलता के पश्चात अनुत्तर सिद्धि का लाभ हो जाता है, प्राणी-मात्र पर समभाव जाग उठा है और ज्ञान के अलौकिक एवं अविकल आलोक से आत्मा उद्भासित हो जाता है। उसे मानवीय आध्यात्मिक विकास की चरम-सीमा कहिये अथवा

परमात्मपद की उपलब्धि कहिये, जीवन्मुक्त-दशा कहिये अथवा आर्हन्त्य-अवस्था कहिये। वह अवस्था प्राप्त होने पर उस परम-आत्मा की समस्त चेष्टाएँ जगत् के कल्याण के लिये ही होती हैं। उस अवस्था में प्रदर्शित किया हुआ पथ असंदिग्ध रूप से हितावह होता है, क्योंकि वह स्थिति माया, मोह, कामना, काम, क्रोध, मिथ्यात्व आदि से बहुत ऊपर है। यही कारण है कि भगवान् की वाणी में जिस निगूढ़ सत्य का प्रतिपादन है, वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक है।

ऊपर कहा गया है कि भगवान् की वाणी बारह अंगों में ग्रथित की गई थी। प्रस्तुत 'सुबाहुकुमार' की कथा ग्यारहवें अंग विपाकसूत्र में वर्णित है। सूत्र में बहुत संक्षेप-रूप में वह पाई जाती है, अतः सर्वसाधारण जनता उसके असली मर्म को समझने में समर्थ नहीं है। अतएव मूल-कथा के आधार पर उसका कुछ विस्तार के साथ प्रतिपादन करना उपयोगी समझ कर यहाँ यह प्रयत्न किया जाता है।

संसार का प्रत्येक प्राणी, मनुष्य से लेकर छोटे से छोटे कीट-पतंग तक, सुख की अभिलाषा करता है। सभी जीवों की सभी चेष्टाओं को आप सूक्ष्म रूप से देखिए, तो प्रतीत होगा कि प्रत्येक चेष्टा के मूल में एकमात्र सुख की ही इच्छा मूल रूप में मौजूद है। इस विशाल विश्व के विस्तीर्ण प्रांगण में जीव जो खेल खेल रहे हैं, उसका एकमात्र उद्देश्य सुख प्राप्त करना है। यह बात दूसरी है कि कोई सुख के समीचीन मार्ग से और उपाय से अनभिज्ञ हो और दुःख-जनक कार्य करता हो, लेकिन उद्देश्य तो उसका भी सुख प्राप्त

करना ही है। संसार में बहुत से ऐसे प्राणी हैं, जो सुख की इच्छा से प्रेरित होकर, भ्रम या अज्ञान के कारण विपरीत मार्ग पकड़ते हैं और परिणाम यह होता है कि उन्हें दुःख भुगतना पड़ता है। प्राणी की यह स्थिति बड़ी ही दयनीय है। दलदल में फँसा मनुष्य उससे बाहर निकलने के लिए हाथ-पैर पछाड़ता है, मगर ज्यों ज्यों वह हाथ-पैर पछाड़ता है, त्यों त्यों अधिकाधिक दलदल में धँसता जाता है। संसार के अधिकांश प्राणियों की यही स्थिति है।

परम-दयालु ज्ञानी पुरुष अज्ञानी जीवों की यह दुर्दशा देख कर दया से द्रवित हो जाते हैं और उन्होंने जिस राज-मार्ग का अवलम्बन करके सुख की प्राप्ति की है, वही राज-मार्ग जगत् के लिए प्रकाशित करते हैं। ऐसे ही एक प्रयत्न से सुबाहुकुमार की कथा का आविर्भाव हुआ है।

(२)

कथा--प्रारम्भ

—o:::o—

जम्बू स्वामी ने श्री सुधर्मा स्वामी से प्रश्न किया—भगवन्! संसार के सभी प्राणी सुख के अभिलाषी हैं और सुखप्राप्ति के लिये ही निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। लेकिन अधिकांश प्राणी दुःख के भागी हो रहे हैं। अतः आप अनुग्रह करके यह बताइये कि सुख का सच्चा मार्ग क्या है? मनुष्य को सुख-रूप फल की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है?

जम्बू स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में सुधर्मा स्वामी ने कथा द्वारा ही सुख का मार्ग प्रकट करना उचित समझा। कथा द्वारा वस्तु तत्त्व का निरूपण करने से दो लाभ होते हैं। प्रथम यह कि कथा के माध्यम से बात जल्दी और अच्छी तरह समझ में आ जाती है। दूसरे, श्रोता को ऐसी प्रतीति होजाती है कि हमें जो मार्ग बतलाया जारहा है वह एकदम नूतन या अनाचरित नहीं है, वरन् उस पथ पर अनेक महापुरुष चल चुके हैं और उन्होंने इष्ट-सिद्धि प्राप्त की है। अतएव उस पर चलना न तो असम्भव है और न इष्ट-सिद्धि की दृष्टि से संदिग्ध है, वरन् वह अनुभूत प्रयोग है। यही कारण है कि कथा द्वारा वस्तु को सिद्ध करने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आरही है।

जम्बू स्वामी को उनके प्रश्न का उत्तर समझाने के लिये भगवान् श्री सुधर्मा स्वामी सुबाहुकुमार की कथा कहने लगे। उन्होंने फर्माया:—

मूल—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं हत्थिसीसे णामं णयरे होत्था रिद्धत्थमियसमिद्धे । तत्थ णं हत्थिसीसस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं पुप्फकरंडए णामं उज्जाणे होत्था । सव्वउयपुप्फफलसमिद्धे । तत्थ णं कयवणमालपियस्स जक्खस्स जक्खायतणे होत्था दिव्वे । तत्थ णं हत्थिसीसे णयरे अदीणसत्तू णामं राया होत्था । महया० । अदीणसत्तुस्स रण्णो धारिणी पामोक्खाणं देवीसहस्सं ओरोहे यावि होत्था ।

तए णं सा धारिणी देवी अण्णया कयाइ तंसि तारिसगंसि वासभवणंसि सीहं सुमिणं—जहा मेहजम्मणं तहा भाणियव्वं, णवरं सुबाहुकुमारं जाव अलं भोगसमत्थं वा विजाणंति, विजाणित्ता अम्मापियरो पंच पासायवडंसगसयाइं करावेंति करावेत्ता जाव पुप्फचूलापामोक्खाणं पंचण्हं रायवरकण्णसयाणं एगदिवसेणं पाणिं गिण्हावेइ । तहेव पंचसयदाओ जाव उप्पिं पासायवरगए फुट्ट जाव विहरइ ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरिए । परिसा णिग्गया, अदीणसत्तू जहा कोणिए णिग्गए, सुबाहु वि जहा जमाली जहा रहेणं णिग्गए । जाव-धम्मो कहिओ । राया परिसा पडिगया ।

शब्दार्थ—श्री सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी से कहने लगे:—हे जम्बू ! उस काल और उस समय हस्तिशीर्ष नामक नगर था । वह ऋद्धि सम्पत्ति से परिपूर्ण था । उस हस्तिशीर्ष नगर के बाहर उत्तर-

पूर्व दिशा कोण-ईशान कोण में पुष्पकरंडक नामक उद्यान था। वह सब ऋतुओं के फूलों फलों से युक्त था। वहाँ कृतवन मालप्रिय यक्ष का दिव्य यक्षायतन (मंदिर) था। हस्तिशीर्ष नगर का राजा अदीन-शत्रु था। वह बल, विक्रम आदि राजोचित गुणों से सम्पन्न था। अदीनशत्रु राजा के रनवास में धारिणी आदि, एक हजार रानियाँ थीं।

धारिणी देवी ने किसी समय अपने निवास भवन में सोते समय सिंह का स्वप्न देखा। ज्ञाता सूत्र में वर्णित मेघकुमार के जन्म के समान सुबाहुकुमार के जन्म का वृत्तान्त कहना चाहिए। विशेष बात यह है कि जब सुबाहुकुमार के माता पिता ने उसे भोग भोगने में समर्थ जाना, तब उन्होंने पांच सौ उत्तम भवनों का निर्माण कराया। यावत्—पुष्पचूला प्रभृति पांच सौ श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ, एक ही दिन में परिग्रहण कराया। पाँच पाँच सौ का दायजा दिया। सुबाहुकुमार मनुष्य सम्बन्धी भोग भोगते हुए विचरने लगा।

उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर वहां पधारे। परिषद निकली। कोणिक राजा के समान अदीनशत्रु राजा भी निकला। सुबाहुकुमार भी जमाली की तरह रथ में बैठ कर निकला। यावत्—भगवान् ने धर्मकथा कही। राजा और परिषद (जन समूह) वापिस लौटे।

संशय ज्ञान का दाता भी है और आत्मा का पतनकर्त्ता भी है। बिना संशय के पूरी तरह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। जितना अधिक संशय होगा प्राप्त-ज्ञान उतना ही अधिक पुष्ट भी होगा। परन्तु अनुचित संशय या वह संशय, जिसको समाधान करके न

मिटाया गया हो, आत्मा को गिरा देता है। इसलिये एक अपेक्षा से तो संशय अच्छा है और दूसरी अपेक्षा से बुरा भी।

संशय का विपक्षी विश्वास है। संशय का नाश उस समय तक कदापि नहीं हो सकता, जब तक कि विश्वास न हो। चाहे संशय को मिटाने के लिये ठीक बात कही गई हो, सच्चा उपाय बतलाया गया हो, परन्तु जब तक विश्वास न होगा, वह ठीक बात और सच्चा उपाय संशय को मिटाने में समर्थ न हो सकेगा। इसलिये संशय के साथ विश्वास की भी आवश्यकता है। जिस आत्मा में संशय तो है, परन्तु विश्वास नहीं है, उस आत्मा का पतन हो जाता है।

अपने हृदय में उत्पन्न संशय को मिटाने के लिये ही श्री जम्बूस्वामी, श्री सुधर्मास्वामी की सेवा में उपस्थित हुए। सुधर्मास्वामी के समीप पहुँच कर जम्बूस्वामी ने अपने गुरु सुधर्मास्वामी की तीन बार प्रदक्षिणा की और स्तुति नमस्कार करके सम्मुख बैठ गये। पश्चात् हाथ जोड़कर जम्बूस्वामी ने विनयपूर्वक सुधर्मास्वामी से कहा—हे भगवन्! भगवान् महावीर द्वारा कथित उन कारणों को तो मैंने सुना है, जिनका परिणाम दुःख है, परन्तु भगवान् ने उन कारणों का वर्णन किस प्रकार किया है, जिनका परिणाम सुख है? मैं आपके द्वारा यह जानने का इच्छुक हूँ, कि सुख कैसे मिलता है? अर्थात् सुख प्राप्त होने का उपाय क्या है?

जम्बू स्वामी की विनयभक्ति और उनकी जिज्ञासा जानकर सुधर्मास्वामी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने जम्बू स्वामी के प्रश्न के उत्तर

में पुण्य का फल सुख और उसकी प्राप्ति का उपाय कथा द्वारा समझाया।

सुधर्मास्वामी ने कहा—हे जम्बू! इसी अवसर्पिणी काल के इसी चौथे आरे में हस्तिशीर्ष नाम का एक नगर था। अनेक विशाल भवनों से विभूषित, धन-धान्य से समृद्ध और जन-समूह से भरा हुआ वह नगर, बड़ा ही सुन्दर था। वहां के निवासी सब प्रकार से सुखी तथा विश्वासपात्र थे। कृषि भी खूब होती थी। कृषक लोग कृषि द्वारा ईख, जौ, चावल आदि अन्न पैदा करते थे। नगर में गायें भैंसे आदि दूध देने वाले पशु भी बहुत थे। बाग, कुएं, तालाब आदि से वह नगर चारों ओर से सुशोभित था। उसमें सभी तरह के लोग, जैसे व्यापारी, कृषक, राजकर्मचारी, नर्तक, गायक, मल्ल, विदूषक, तैराक, ज्योतिषी, चित्रकार, कुम्हार आदि रहते थे। नगर का बाजार बहुत ही सुहावना था, जिसमें वहाँ के व्यापारी अपना व्यापार करते थे। वहाँ के निवासी बड़े सहृदय और सज्जन थे। चोरों, उचक्कों और डाकुओं आदि का तो उस नगर में अभाव सा था। नगर के बाहर ईशान कोण में पुष्पकरण्ड नाम का एक उद्यान था, जो नगर की रमणीयता को बढ़ा रहा था। वह उद्यान नन्दनवन के समान रमणीय तथा सुखदायक था। उस उद्यान में अनेक तरह के सुन्दर-सुन्दर वृक्ष थे। उद्यान सभी ऋतुओं में फल फूल से भरा रहता था। उद्यान में कृतवनमालप्रिय नाम के एक यक्ष का यक्षायतन था, जो चारों ओर से सघन तथा ऊँचे वृक्षों से घिरा हुआ था और उन वृक्षों पर भौंरे सदा गुंजार किया करते थे।

सुधर्मास्वामी के इस वर्णन से भारत की प्राचीन स्थिति का भी पता चलता है। आज तो यह स्थिति प्रायः भारतीयों की कल्पना

से भी परे की हो रही होगी, परन्तु आज की स्थिति को दो सौ वर्ष पूर्व के इतिहास से मिलाकर देखा जाय तथा उसी हिसाब से ढाई हजार वर्ष पूर्व की स्थिति का अन्दाज किया जावे तो मालूम हो जावेगा, कि वास्तव में यह बात अयुक्तिपूर्ण नहीं, किन्तु साधारण है।

उस हस्तिशीर्ष नगर में अदीनशत्रु नाम का राजा था। वह राजा क्षत्रिय था। हस्तिशीर्ष का राज्य उसके पूर्वजों से उसे प्राप्त हुआ था। सुन्दर शोभनीय तथा राज-लक्षणों से युक्त वह अदीनशत्रु राजा, सब गुणों से सम्पन्न था। राजनीति का धुरन्धर जानकार, राजनियमों के बनाने में चतुर तथा मर्यादा और प्रजा का पालन करने वाला था। स्वभाव से वह दयालु तथा नम्र था, परन्तु अपराधियों को दण्ड देने, दुष्टों का विनाश करने और शत्रुओं का मान मर्दन करने में क्रूर भी था। वह अदीनशत्रु राजा सब तरह से सम्पन्न था। भूमि, हाथी, घोड़े, सोना, चांदी, सेना, दास, दासी आदि सब कुछ उसके पास थे। अपने शत्रुओं को उसने निस्तेज कर रखा था। उसके बल पराक्रम आदि के सामने किसी राजा की यह शक्ति न थी कि गर्दन उठा सके। प्रबन्ध की विशेषता के कारण उस नृपोत्तम अदीनशत्रु के राज्य में दुष्काल, महामारी, चोर, डाकू आदि के उपद्रव प्रायः नहीं होते थे। सदा सुभिक्ष बना रहता था। राजा अदीनशत्रु इस प्रकार अपने पैत्रिक राज्य का आनन्दपूर्वक शासन करता था।

राजा अदीनशत्रु के धारिणी नामकी पटरानी थी। धारिणी बहुत ही सुन्दरी सर्वाङ्गसम्पन्न तथा सुलक्षणा थी। उसका मुख शरद्चन्द्र के समान निर्मल और सौम्य था। शृङ्गार सहित वेष,

देखने वाले के चित्त को प्रसन्न करता था। धारिणी रानी बोलचाल में कुशल और लोक-व्यवहार में चतुर थी। अपने पति के प्रति वह सदा अनुरक्त रहा करती थी, तथा तन, मन, से सेवा किया करती थी। इस प्रकार अपने पति की प्रसन्नता में प्रसन्न रहने वाली धारिणी रानी आनन्द-पूर्वक दिन व्यतीत करती थी।

कई लोग कहा करते हैं कि साधुओं को स्त्री-सौन्दर्य और सांसारिक बातों के वर्णन की क्या आवश्यकता? इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त है कि वास्तविक बात को, बिना बतलाये काम नहीं चलता। यदि वास्तविक बात—स्त्रीसौन्दर्य या सांसारिक बातों का वर्णन साधुओं के लिये वर्ज्य होता, तो गणधर लोग हस्तिशिखर नगर, अदीनशत्रु राजा और धारिणी रानी आदि के प्रशंसात्मक वर्णन में बड़े २ पाठ न देते, अपितु उनका अस्तित्व बतला देना ही पर्याप्त समझते। लेकिन गणधरों ने सब बातों का—फिर वे बातें चाहे सांसारिक विषय की हों, या स्त्री-सौन्दर्य विषय की—पूरी तरह वर्णन किया है। केवल धारिणी रानी के वर्णन में ही कितना और किस भावार्थ का पाठ दिया है, यह देख लेने मात्र से मालूम हो जावेगा कि साधुओं के लिए वास्तविक वर्णन वर्ज्य नहीं है। धारिणी रानी के विषय में शास्त्रपाठ है :—

तस्स णं अदीणसत्तुस्स रण्णो धारिणीणामं देवी सुकुमालपाणिपाया, अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा, लक्खणपंजणगुणोववेया, माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगी, ससिसोमाकारकांतपियदंसणा, सुरूवा, करयलपरि-

सियपसत्थतिवलियवलियमज्झा, कुण्डलुल्लियहियगंडलेहा, कोमुइयरयणिकरविमलपडिपुण्णसोमवयणा, सिंगारागारचारुवेसा, संगयगयहसियभणियविहियविलाससललियसंलावणिउणजुत्तोवयारकुसला, पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा अदीणसत्तु एणं रण्णा सिद्धिं अणुरत्ता अविरत्ता इट्ठे सद्दफरिसरसरूवगंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोगे पच्चुब्भवमाणी विहरति ।

भावार्थ—उस अदीनशत्रु राजा की धारिणी नाम की रानी के हाथ पैर बड़े ही कोमल थे। उसका शरीर सब लक्षणों से सम्पन्न और परिपूर्ण पांचों इन्द्रियों से युक्त था। उसके शरीर में स्वस्तिक चक्र आदि लक्षण और तिल आदि व्यञ्जन थे। उसके शरीर के सब अंग मान-उन्मान और प्रमाण के अनुसार ही बने थे। उसका चन्द्रमा के समान सौम्य और मनोहर अंग वाला रूप देखने वालों को बड़ा ही प्यारा लगता था। उसकी त्रिवलियुक्त कमर मुट्ठी में आ जाती थी। गालों की पत्र-रचना, कानों के कुण्डल से चमकदार हो गई थी। उसका मुख कार्तिक में उदय होने वाले चन्द्रमा की चन्द्रिका ऐसा था। उसका वेश, शृङ्गार-रस का स्थान सा होगया था। उसका चलना, हँसना चेष्टा और कटाक्ष उचित था। वह प्रसन्नता-पूर्वक परस्पर भाषण करने में कुशल तथा लोक-व्यवहार में चतुर थी। वह मनोहर तथा दर्शनीय थी; इसलिये देखने वाले का चित्त उसे देखते ही प्रसन्न हो जाता था। वह, अदीनशत्रु राजा

अनुरक्त थी। उसका शब्द रूप रस गंध और स्पर्श प्रिय था। वह मनुष्यों के पाँच प्रकार के काम भोगों को भोगती हुई रहती थी।

मतलब यह कि वास्तविक बात का वर्णन करने से साधुओं को नहीं रोका गया है। क्योंकि ऐसी बातें भी प्रायः पुण्य-प्रभाव प्रकट करती हैं। फिर ऐसे वर्णन से जिसका जैसा अध्यवसाय होगा, वह वैसा पुण्य या पाप का फल प्राप्त करेगा। अच्छे अध्यवसाय वाला पाप स्थान में भी पुण्य-प्रकृति बांध सकता है और बुरे अध्यवसाय वाला धर्म-स्थान में भी पाप प्रकृति बांध सकता है। इसके लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक नगर में दो मित्र रहते थे। उसी नगर में कुछ महात्मा भी आये थे और वेश्या भी आयी थी। एक ही समय पर एक जगह तो महात्मा का उपदेश होने वाला था और दूसरी जगह वेश्या का का नाच। एक मित्र ने दूसरे से कहा कि चलो उस नयी आयी हुई वेश्या का नाच देखने चलें। दूसरे मित्र ने कहा—नहीं, मैं नाच देखने नहीं चलूँगा, किन्तु महात्मा का उपदेश सुनने जाऊँगा। दोनों मित्र अपनी अपनी रुचि के अनुसार दोनों स्थानों पर गये।

वेश्या का नाच हो रहा था। वेश्या चारों ओर घूम-घूम कर कटाक्षपूर्वक सब की ओर देखती हुई नाच रही थी। लोग वेश्या की प्रशंसा के पुल बांधे देते थे। उसी समय उक मित्र उस नाच की महफिल में पहुँचा। वेश्या को इस प्रकार नाचते और लोगों को उसकी प्रशंसा करते देखकर उस मित्र को विचार हुआ कि आत्मा तो इस वेश्या का भी शुद्ध है, परन्तु न मालूम किन पापों के कारण

इसके आत्मा पर अज्ञान का आवरण है। इसी से यह अपने इस सुन्दर शरीर को विषय-भोग में लगा रही है और थोड़े से धन के लोभ में अपना शरीर कोढ़ी को सौंपने में भी संकोच नहीं करती है। हाय! हाय!! यह तो साक्षात ही नरक की खान है। ये देखने वाले भी कैसे मूर्ख हैं, जो इसके चारों ओर इस प्रकार लगे हुए हैं, जैसे मरे हुए पशु को कुत्ते घेर लेते हैं। यद्यपि यह वेश्या किसी व्यक्ति विशेष को नहीं देखती है—सब को उल्लू बनाने के लिये उनकी तरफ देखती है—फिर भी ये सब लोग अपने अपने मन में यही समझ रहे हैं कि यह मुझे ही देख रही है। मैं इस पापस्थान में कहाँ आगया! मित्र ने कहा था, फिर भी मैं महात्मा का उपदेश सुनने के लिये नहीं गया। धन्य है मित्र को! जो इस समय महा-त्माओं के पास बैठा हुआ धर्मोपदेश श्रवण कर रहा होगा और अपना कल्याण साधता होगा।

वेश्या की महफिल में गया हुआ मित्र तो इस प्रकार विचार कर रहा है तथा महात्माओं का उपदेश सुनने के लिये गये हुए मित्र को धन्य मान रहा है, परन्तु जो मित्र महात्मा के समीप गया था, वह कुछ और ही विचारता है। जिस समय वह महात्माओं के समीप पहुँचा, उस समय महात्मा लोग विषयों के प्रति घृणोत्पादक वैराग्य का उपदेश सुना रहे थे। इस मित्र को महात्माओं का उपदेश रुचि-कर नहीं हुआ, इससे वह अपने मन में कहने लगा कि मैं कहाँ आगया! मित्र ने कहा था, फिर भी मैं नाच देखने नहीं गया। धन्य है मित्र को, जो इस समय महफिल में बैठा हुआ आनन्द से नाच देख रहा होगा और गाना सुन रहा होगा।

दोनों मित्र इस प्रकार अपने २ मन में विचार कर रहे हैं और अपनी निन्दा करते हुये दूसरे मित्र की प्रशंसा कर रहे हैं। वेश्या के यहाँ गया हुआ मित्र, वेश्या के नाच को घृणा पूर्वक देखता है, उसका मन साधुओं के उपदेश में लगा हुआ है, और साधुओं के यहाँ गये हुये मित्र का मन वेश्या के नाच में लगा हुआ है तथा वह नाच देखने के लिए गये हुये मित्र की प्रशंसा कर रहा है। इस तरह वेश्या के नाच—जो पापस्थान है, में बैठा हुआ मित्र तो पुण्य प्रकृति बांध रहा है और साधु के स्थान—जो धर्म स्थान है, में बैठा हुआ मित्र पाप-प्रकृति बांध रहा है। क्योंकि पाप पुण्य या धर्म अध्यवसाय पर निर्भर है और वेश्या के नाच में बैठे हुए मित्र के अध्यवसाय अच्छे तथा साधुओं के उपदेश स्थान में बैठे हुए मित्र के अध्यवसाय बुरे हैं।

तात्पर्य यह कि पुण्य पाप अध्यवसाय पर निर्भर है, वर्णित बात पर नहीं। इसलिये किसी भी बात का वर्णन करना अनुचित नहीं है। हाँ, वर्णन करने का उद्देश्य शुद्ध और पाप से बचाने का होना चाहिए। पुण्यवानी का प्रारम्भ संसार से ही होता है, इसलिए संसार की बातों को पाप ही पाप मान कर उनकी ओर ध्यान न देना उचित नहीं। प्रत्येक सुधार तभी हो सकता है, जब मूल भी सुधारा जावे। संयम का मूल संसार है। यदि संसार को सुधारने की ओर से उपेक्षा की जाय, संसार में होने वाले कार्यों में से किस में पाप और किस में धर्म या पुण्य तथा किस में महापाप और किस में अल्प पाप होता है, यह न बताया जाय। पाप-कार्य को रोक कर धर्म कार्य की वृद्धि का उपाय न दिखाया जाय—तो ऐसे

संसार से निकल कर होने वाले साधु, अपने कर्त्तव्य का पूरी तरह पालन नहीं कर सकते। क्योंकि उन्हें जब प्रारम्भ से ही कर्त्तव्य-पालन की शिक्षा नहीं मिली है, तो वे अब इस नीति को ठीक तरह से कैसे निभा सकते हैं? इसलिये प्रत्येक बात पर ध्यान देकर विधि या निषेध बताना साधु का कर्त्तव्य है।

(३)

स्वप्न

निद्रावस्था मृत्युकाल का नमूना है और स्वप्नावस्था पुनर्जन्म का नमूना है। निद्रावस्था में जिस प्रकार शरीर के निश्चल पड़े रहने पर भी आत्मा स्वप्न-सृष्टि में जन्म लेता है, उसी प्रकार मृत्यु होने पर और शरीर के निश्चल हो जाने पर भी आत्मा दूसरी जगह जन्म लेता है। यदि निद्रावस्था और स्वप्नावस्था पर मनुष्य भले प्रकार विचार करें, तो उसे आत्मा के अस्तित्व और पुनर्जन्म के विषय में कोई सन्देह न रहे।

हे जम्बू! धारिणी रानी अपने सुन्दर सुसज्जित तथा सुगन्धित शयनागार में कोमल शय्या पर सो रही थी। वह न तो गाढ़ निद्रा में ही थी और न जाग ही रही थी। इतने में उसने एक कल्याणकारी स्वप्न देखा। स्वप्न में उसने यह देखा कि एक केसरी-सिंह जिसकी गर्दन पर सुन्दर २ सुनहरी बाल बिखर रहे हैं, दोनों आँखें चमकीली हैं, कन्धे उठे हुये हैं, पूंछ टेढ़ी हो रही है, जंभाई (बगासी) लेता हुआ आकाश से उतर कर मेरे मुँह में घुस गया है। स्वप्न को देखने से धारिणी रानी की नींद खुल गई। शुभ स्वप्न के देखने से धारिणी रानी को बहुत प्रसन्नता हुई। वह शय्या से उठ कर बैठ गई और अपना स्वप्न पति को सुनाने के लिये पति की शय्या

की ओर चली। चपलता रहित स्थिर मन तथा हंस गति से चलती हुई, धारिणी रानी अदीनशत्रु की सेज के समीप पहुँची।

शास्त्र के कथन से यह प्रकट है कि अदीनशत्रु राजा और धारिणी रानी एक स्थान पर नहीं, किन्तु पृथक्-पृथक् शय्या पर सोते थे। शास्त्र में आयी हुई दूसरे स्थान की कथाओं से भी ऐसा ही प्रकट है। इससे सिद्ध है कि उस समय के सभी लोगों की यह नीति थी। इस नीति का पालन करने से ही दम्पती स्वस्थ रहते थे तथा सन्तान सशक्त और दीर्घजीवी होती थी। आज इस नीति का पालन शायद ही कहीं होता हो, नहीं तो प्रायः इस नीति के विरुद्ध ही कार्य होता है। इसका परिणाम भी वही हो रहा है, जो नीति भंग करने का होता है। यही कारण है कि आज के स्त्री-पुरुष दुर्बल, अनेक रोगों से घिरे हुए, निस्साहस और उत्साहहीन दिखाई देते हैं। ऐसे स्त्री-पुरुष की सन्तान भी बलवान् और दीर्घजीवी कैसे हो सकती है? इसलिये सन्तान को न तो उत्पन्न होते ही देर लगती है, न मरते ही।

अपने पति के समीप पहुँच कर धारिणी रानी ने उन्हें मधुर और प्रिय शब्दों द्वारा जगाया। अदीनशत्रु राजा की नींद खुल गई। वह उठ कर बैठ गया। अपने सामने रानी को खड़ी अभिवादन करती देख, राजा अदीनशत्रु ने, रानी को पास ही पड़े हुए रत्न-मंडित भद्रासन पर बैठने की आज्ञा दी। पति की आज्ञा पाकर धारिणी रानी आसन पर बैठ गई। चलने के श्रम को मिटा तथा हर्ष को रोककर धारिणी रानी सरल, मधुर और नम्रता भरे शब्दों में राजा अदीनशत्रु से कहने लगी—नाथ! मैं अभी अपनी सेज पर सो रही थी, तब मैंने यह स्वप्न देखा कि एक विशाल सिंह जंभाई

लेता हुआ आकाश से उतर कर मेरे मुँह में घुस गया। इस स्वप्न को देखते ही मेरी नींद खुल गयी। कृपा करके यह बताइये कि इस शुभ स्वप्न का क्या फल होगा?

धारिणी रानी के स्वप्न को सुनकर राजा अदीनशत्रु को बहुत प्रसन्नता हुई। कुछ विचार करने के पश्चात् राजा ने धारिणी रानी से कहा—प्रिये! तुम्हारा यह स्वप्न बहुत कल्याणकारी है। इस स्वप्न का फल अर्थ-लाभ, पुत्र-लाभ और राज्य-लाभ है। अर्थ और राज्य की तो तुम्हें कमी नहीं है, यदि कमी है तो केवल पुत्र की। मेरी समझ से इस स्वप्न के फलस्वरूप तुम्हारी कूँख से एक ऐसे पुत्र का जन्म होगा, जो प्रियदर्शी, यशस्वी, वीर कुल का सूर्य और सर्वगुणसम्पन्न होगा।

अपने देखे हुए स्वप्न का पति के मुख से यह शुभ फल सुन कर रानी धारिणी को बहुत प्रसन्नता हुई। धारिणी ने पति को पुनः अभिवादन किया और धन्यवाद देकर तथा असमय में जगाने के लिये क्षमाप्रार्थना करके प्रसन्नमन, मन्द गति से अपने शयनस्थान को लौट आई। सेज पर बैठकर वह धर्म का स्मरण करने लगी। पुनः सो जाने से इस शुभ स्वप्न का फल किसी दूसरे दुःस्वप्न से नष्ट हो जावेगा, यह विचार कर धारिणी रानी ने शेष रात्रि धर्म-जागरण में ही बितायी, सोयी नहीं।

प्रातःकाल होने पर राजा अदीनशत्रु ने अपने सेवकों को बुलाकर सभा-भवन को विशेष रूप से शीघ्र सजाने की आज्ञा दी। सेवकों को यह आज्ञा देकर अदीनशत्रु ने हाथ-मुँह धोकर, व्यायामशाला में जा व्यायाम किया। पश्चात् सुगन्धित और शक्ति-

द्वारा तेल का मर्दन कराया। थकावट दूर होजाने पर राजा अदीन-शत्रु व्यायामशाला से निकल स्नानागार में गया। वहाँ भली-भाँति स्नान किया। स्नान कर चुकने पर शरीर में सुगन्धित चन्दन केसर का लेप किया और सुन्दर वस्त्राभूषण पहिनकर फूल मालाएँ धारण कीं। शरीर पर मुकुट रख, हाथों में वीर * वलय पहन, गले में दुपट्टा डाल, राजा अदीनशत्रु स्नानागार से बाहर निकला। स्नानागार के बाहर मांडलिक राजा-मन्त्री-सेनापति, सेठ साहूकार, दूसरे राजाओं के दूत आदि लोग राजा की प्रतीक्षा में खड़े थे। राजा के निकलते ही जयघोष के साथ सबने उसका उचित अभिवादन किया। इन सब लोगों से घिरा हुआ राजा ऐसा जान पड़ता था, जैसे ताराओं के बीच में चन्द्रमा।

इस प्रकार सब लोगों सहित राजा अदीनशत्रु सभा-भवन में आ, पूर्व की ओर मुख करके सिंहासन पर बैठा। राजा ने सिंहासन के समीप ही मंगल द्रव्य रखवा उन पर आसन बिछवाये। रानी धारिणी भी आकर उचित स्थान पर रखे हुये भद्रासन पर बैठी।

सबके यथास्थान बैठ जाने पर अदीनशत्रु ने स्वप्न-शास्त्रियों को बुला लाने के लिये सेवकों को आज्ञा दी। राजा की आज्ञा पाकर सेवक लोग स्वप्न-शास्त्रियों को बुला लाये। राजा के सामने पहुँच कर स्वप्न-शास्त्रियों ने 'जय हो' कह कर राजा को आशीर्वाद

* वीरवलय उन कड़ों का नाम है, जिन्हें राजा लोग अपना दर्प बताने के लिये पहिनते थे; कि कोई दूसरा राजा यदि मुझसे अधिक शक्ति रखता हो, तो इन कड़ों को मुझसे छीन ले।

दिया। राजा अदीनशत्रु ने भी स्वप्न-शास्त्रियों की वन्दना पूजा की और सम्मान सहित उन्हें मंगल द्रव्य बिछे हुए आसनों पर बैठाया।

स्वप्न-शास्त्रियों के बैठ जाने और सावधान हो जाने पर राजा अदीनशत्रु ने धारिणी रानी का स्वप्न स्वप्न-शास्त्रियों को सुना कर उनसे उसका फल पूछा। स्वप्न-पाठकों ने गणित करके तथा आपस में अपने अपने गणित के फल को मिला कर राजा अदीन-शत्रु से कहा—स्वामिन्! स्वप्नशास्त्र में हमने बहत्तर शुभ स्वप्न देखे हैं। इन बहत्तर शुभ स्वप्नों में बयालीस साधारण फल के देने वाले हैं और तीस स्वप्न महान् फल के देने वाले हैं। जब अर्हंत या चक्रवर्ती अपनी माता के गर्भ में आते हैं, तब उनकी माताएँ इन तीस महान् फलदायक स्वप्नों में से चौदह स्वप्नों को देखकर जागती हैं। जब वासुदेव गर्भ में आते हैं, तब उनकी माताएँ इन चौदह स्वप्नों में से किन्हीं सात, और जब बलदेव गर्भ में आते हैं, तब उनकी माताएँ इन चौदह स्वप्नों में से किन्हीं चार स्वप्नों को देखकर जागती हैं। इसी प्रकार माण्डलिक राजा के गर्भ में होने पर उनकी माताएँ इन चौदह स्वप्नों में से किसी एक स्वप्न को देखकर जागती हैं। रानी धारिणी भी इन्हीं चौदह स्वप्नों में से एक स्वप्न को देखकर जागी हैं, इसलिये इनके गर्भ से पुत्र का जन्म होगा। वह बालक बाल्यावस्था का त्याग करते ही सब कलाओं का ज्ञाता होगा। युवा अवस्था में प्रवेश करने पर या तो वह दानी वीर और राज्य को बढ़ाने वाला राजा होगा या आत्मकल्याण करने वाला मुनि होगा।

प्राचीन कालीन राजाओं के लिये दोनों बातें समान-रूप से आनन्द-दायक होती थीं—अगर पुत्र मुनि बन कर आत्म-कल्याण करे तो भी अच्छा और यदि राजा हो तो भी अच्छा। बल्कि माता-पिता की विशेष रूप से यह भावना बनी रहती थी कि हमारा पुत्र धर्म-निष्ठ बने तो अधिक श्रेयस्कर है।

राजा और मुनि की स्थिति पर अगर विचार किया जाय तो दोनों में पर्याप्त भेद होने पर भी कई बातों में समानता है। आज राजाओं का आदर्श बहुत नीचे गिर गया है और प्रजा के हित के बलिदान की इमारत पर उन्होंने अपने हितों की इमारत खड़ी की है। अतएव राजा के प्रति आज प्रजा में वैसी भावना नहीं रही है। मगर जिस काल की यह कथा है, उस काल में राजा का आदर्श बहुत ऊँचा था। समस्त प्रजा, राजा का एक वृहत् परिवार थी और उसका सुख-दुःख ही राजा का सुख-दुःख समझा जाता था। राजा, प्रजा के हित और सुख का नियामक था। वह प्रजा का महान् सेवक था और प्रजा को अन्याय, अत्याचार और दुःखों से बचाता था। प्रजा को कुमार्ग की ओर जाने से बचाना और नीति-मार्ग पर चलना राजा का पवित्र उत्तरदायित्व था।

मुनि का कार्यक्षेत्र भी आत्मसाधना के साथ दुनिया को कुमार्ग पर जाने से बचाना और सन्मार्ग पर ले जाना है। मुनि अपने आत्मिक तेज से और अपने पावन आचार के आदर्श से यह कार्य सम्पन्न करते हैं, जब कि राजा शासन-दण्ड से अपना कर्त्तव्य पूर्ण करता है। इस प्रकार साधनों में भिन्नता होने पर भी प्रजा का वास्तविक हित-साधन करना दोनों का लक्ष्य समान है।

दोनों ही जन-समूह के आदरपात्र होते हुये भी महान् सेवक हैं। इस प्रकार की समानता के कारण प्राचीन काल के नृपतिगण अपने पुत्र के राजा होने में भी और मुनि होने में भी प्रसन्न होते थे। उन्हें इस बात से बड़ी प्रसन्नता होती थी कि हमारा पुत्र सिर्फ अपने ही लिए न जीयेगा, वरन् उसका जीवन जनता के श्रेयस् में व्यतीत होगा।

यथासमय रानी गर्भवती हुई। गर्भ धारण करने का वास्तविक ध्येय क्या है और गर्भ-धारण के पश्चात् क्या २ उत्तर-दायित्व सिर पर आ जाते हैं, इत्यादि बातों पर सूक्ष्म विचार करने के लिए वहुत समय की आवश्यकता है। अतएव यहाँ सिर्फ इतना ही कह कर संतोष किया जायगा कि किसी भी वस्तु के उत्पन्न करने में आरम्भ का दोष अवश्य है, लेकिन उत्पन्न होने के अनन्तर उसे अनुकम्पा आदि अनेक सत्कार्यों का साधन भी बनाया जा सकता है। साथ ही उत्पन्न हुई सन्तान पर अनुकम्पा आदि का भी उत्तर-दायित्व आ जाता है। ऐसा होने पर भी आजकल के कुछ लोग सब कामों में—यहां तक कि संतति का पालन-पोषण करने में भी एकान्ततः पाप ही पाप बतलाते हैं। उनकी यह प्ररूपणा गृहस्थ-धर्म को किस प्रकार क्रूरता के रूप में परिणत करने वाली है, पाठक स्वयं इस बात पर विचार कर सकते हैं।

अपने गर्भ में बालक को जान कर धारिणी रानी ने ऐसी वस्तुओं को—जिनके भोगोपभोग से गर्भ को कष्ट हो सकता था,—भोगोपभोग में लेना त्याग दिया। उसने अधिक सर्द, अधिक गर्म, अधिक तीखे, अधिक कड़ुए, अधिक कसायले, अधिक खट्टे और अधिक मीठे पदार्थों का भोजन करना छोड़ दिया। इनके स्थान पर वह गर्भ की दया के लिये ऐसे पदार्थों का भोजन करती और ऐसी

वस्तुओं का उपभोग करती, जो देश काल के अनुसार हों, और गर्भ के लिये हानिकर अपथ्य और उसका नाश करने वाली न हों।

दम्पती को यह अधिकार तो है कि ब्रह्मचर्य पालन करके सन्तानोत्पत्ति के प्रपञ्च में ही न पड़ें, परन्तु यह अधिकार नहीं है कि गर्भ-स्थिति के पश्चात् गर्भ की व्यवस्था न करें। जिस प्रकार कैदी—और विशेषतः ऐसे कैदी, जिसे कि अपने हानि-लाभ का ज्ञान नहीं है—की व्यवस्था का भार जेल अधिकारियों पर होता है, उसी प्रकार गर्भ के बालक की व्यवस्था का भार माता-पिता पर होता है। कैदी की व्यवस्था न करने वाला जेल अधिकारी जैसे निर्दयी कहलाता है, उसी तरह गर्भ के बालक की व्यवस्था न करने वाली, गर्भ की उपेक्षा करने वाली—स्त्री भी निर्दयिनी कहलाती है। इसलिए गर्भ के बालक की हर तरह रक्षा करना और उस पर अनुकम्पा करना, गर्भवती का कर्त्तव्य है। इसी प्रकार जो पुरुष गर्भ का ध्यान न करके गर्भ को हानि पहुँचाने वाले कार्य करता है, वह भी हत्यारा है।

गर्भवती स्त्री के लिये तपस्या करना वर्ज्य है। पेट में गर्भ के होते हुये तपस्या करना, अनुकम्पा का नाश करना है। क्योंकि गर्भ का भोजन माता के भोजन पर निर्भर है। भगवती सूत्र में भी गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान महावीर ने यही कहा है कि माता के भोजन में से ही गर्भ के बालक को भोजन मिलता है। जब माता के भोजन से ही गर्भ के बालक को भोजन मिलता है तो माता के उपवास करने पर गर्भ को भोजन न मिलना स्वाभाविक है। माता तो अपने आप की हानि और लाभ को जानती है, वह तो स्वेच्छा-पूर्वक उपवास करती है परन्तु गर्भ का बालक अपनी हानि-लाभ को नहीं जानता और उसे अनिच्छा-पूर्वक भोजन से

वञ्चित रहना पड़ता है। जो जीव अपने आश्रित है उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध भात-पानी से वञ्चित रखना ही भात-पानी विच्छेद नाम का अहिंसा-व्रत का अतिचार है। इसलिए गर्भवती को तपस्या करने का अधिकार नहीं है। मूर्खतावश कई गर्भवती स्त्रियाँ गर्भ की उपेक्षा करके तपस्या करती हैं। इस मूर्खता के कार्य का परिणाम भी बड़ा भयंकर होता है। कुछ घटनाएँ तो ऐसी तक सुनी गई हैं कि गर्भवती के तपस्या करने से गर्भ का बालक भूख के मारे पेट में ही मर गया, जिससे गर्भवती को भी अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा।

बालक पर गर्भ के समय के संस्कार बहुत जबरदस्त प्रभाव जमाते हैं। गर्भ पर माता के कार्य का ही नहीं किन्तु माता की भावनाओं का भी प्रभाव पड़ता है। माता की जैसी भावनाएँ होंगी गर्भ के संस्कार भी वैसे ही होंगे। भारतीय सन्तान की दुर्बलता के कारणों में से एक कारण यह भी है कि गर्भ के पालन-पोषण और उस पर पड़ने वाले संस्कारों के विषय में बहुत कम ध्यान रक्खा जाता है। गर्भ-धारण के पश्चात् पुरुष संसर्ग न करना ही उचित है, परन्तु इस नियम का पालन भी बहुत कम स्त्रियाँ करती होंगी। यही कारण है कि आजकल के पुत्र दुर्बल, अल्पायुषी और बुरे संस्कार वाले होते हैं।

धारिणी रानी ऐसी समस्त वस्तुओं और समस्त करणों से बचती रहती, जो गर्भ के लिए हानिप्रद या गर्भ पर बुरे संस्कार डालने वाले होते। उसकी जो भी इच्छाएँ होतीं, उन उत्तम इच्छाओं को पूर्ण करती रहने से धारिणी रानी रोग, मोह तथा भय रहित हो गई।

जन्म और शिक्षा-संस्कार
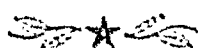
धारिणी रानी ने भली-भांति गर्भ की रक्षा की और अन्त में उसके यथा-समय पुत्र की उत्पत्ति हुई। जातकर्म आदि संस्कार होने के पश्चात् उस पुत्र का नाम 'सुबाहुकुमार' रक्खा गया। पुत्र का यह नाम क्यों रक्खा, यह बताने का समय नहीं है।

अनुक्रम से बालक के सभी संस्कार किये गये। पाँच धायों की सेवा से पलता हुआ बालक ऐसा बढ़ने लगा, जैसे गिरिकन्दरा में लता की वृद्धि होती है। सुबाहुकुमार की अवस्था जब आठ वर्ष की हुई तब उसका विद्यारम्भ-संस्कार किया गया। सुबाहुकुमार के माता-पिता ने सुबाहुकुमार को बहत्तर कलाओं के पारङ्गत आचार्य को शिक्षा के लिए सौंप दिया। आचार्य ने थोड़े ही समय में सुबाहुकुमार को गणितादि बहत्तर कलाएँ सिखा दीं। सुबाहुकुमार प्रत्येक कला में दक्ष होगया। कलाचार्य ने सुबाहुकुमार को लाकर उसके माता-पिता को सौंप दिया। अपने पुत्र को समस्त कलाओं में पारंगत देख, धारिणी रानी और राजा अदीनशत्रु बहुत प्रसन्न हुए। दम्पती ने कलाचार्य को सन्मान सत्कार सहित इतना दान दिया, जो उसके जीवन भर के लिये पर्याप्त था।

उक्त बात से प्रकट है कि उस समय में गुरुकुल की व्यवस्था बहुत उत्तम थी। राजाओं के पुत्र भी घर पर रह कर शिक्षा नहीं

प्राप्त करते थे, किन्तु गुरुकुल में आचार्य के समीप रह कर शिक्षा प्राप्त करते थे। घर पर रह कर प्राप्त की हुई शिक्षा में और गुरुकुल में रह कर प्राप्त की हुई शिक्षा में अन्तर भी बहुत होता है। गुरुकुल में प्रत्येक छात्र के लिये स्वावलम्बन की शिक्षा अनिवार्य थी। इस लिये छात्र को बहत्तर कलाएँ सिखाई जाती थीं। बहत्तर कलाएँ जानने वाला बालक भविष्य में कभी न तो किसी के आश्रित ही रहता है और न उसे आजीविका सम्बन्धी कोई कष्ट ही भोगना पड़ता है। आज की शिक्षा अधिकांश में ऐसी होती है कि जिसमें स्वावलम्बी बनने के स्थान पर परावलम्बी बनना सिखाया जाता है। आधुनिक शिक्षा से बालकों के स्वतन्त्रता के विचार नष्ट हो जाते हैं। वे खाने, पीने, पहिनने, ओढ़ने और यहाँ तक कि बोलने चालने में भी दूसरों के आश्रित रहने में अपना गौरव मानने लगते हैं। सदाचार की जगह दुराचार सिखलाया जाना आज की शिक्षा की विशेषता है। स्वतन्त्र विचार न रहने के कारण वर्त्तमान समय के अधिकांश शिक्षित लोग दूसरे के बताये हुये मार्ग पर ही चलते हैं। उनकी विचार-शक्ति ऐसी नष्ट हो जाती है कि वे किसी नये न्याय-मार्ग की खोज नहीं कर सकते। लेकिन प्राचीन काल की शिक्षा में स्वतन्त्रता का प्राधान्य रहता था।

टॉलस्टॉय ने, आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की आलोचना करते हुये लिखा है कि आजकल की शिक्षा बहुत दूषित और हानिप्रद है। छात्रों के स्वास्थ्य, इच्छा आदि का ध्यान न रख कर उन पर जबरदस्ती कोर्स का इतना अधिक बोझ डाल दिया जाता है, जिसे उठाना उनकी शक्ति से परे और रुचि के विरुद्ध होता है। शिक्षा भी केवल वही दी जाती है जिसमें शिक्षित होने पर भी छात्रगण धनिकों

के आश्रित रहें, उनके सुख-वैभव में सहायक बनें और स्वयं पराधीनता की बेड़ी से मुक्त होने का भी विचार न कर सकें।

प्राचीन समय के शिक्षक लोग भी ऐसे होते थे, कि इस छात्र को आगे चल कर क्या काम करना है, इस बात को दृष्टि में रख कर शिक्षा दिया करते थे। उचित शिक्षा देने में वे प्रत्येक उपाय का अवलम्बन करते थे। फिर चाहे ऐसा करने में उनको विपत्ति में ही क्यों न पड़ना पड़े। छात्रों के माता-पिता भी ऐसे शिक्षक की आन्तरिक भावना का विचार करके शिक्षक के द्वारा अपने बालक को कोई कष्ट हुआ हो, तब भी शिक्षक का अपराध नहीं मानते थे, किन्तु आभार मानते थे। इसके लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक राजा था। उसके एक लड़का था, जो गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करता था। इधर राजा को अपने शरीर पर कुछ ऐसे चिह्न दिखाई दिये जो वृद्धावस्था के द्योतक थे। उन चिह्नों को देख कर राजा ने विचारा कि बुढ़ापे का नोटिस आ गया है इसलिये मुझे कोई ऐसा काम करना चाहिये, जो भावी सन्तान के लिए आदर्श-रूप भी हो और जिसके करने से मेरे आत्मा का भी हित हो। इसलिये मुझे राजपाट राज-पुत्र को सौंप कर दीक्षा ले लेनी उचित है।

इस प्रकार निश्चय कर, राजा ने प्रधान को बुला कर अपने विचार प्रकट करते हुये राजकुमार के राज्याभिषेक की तैयारी करने का हुक्म दिया। सारे नगर में यह समाचार फैल गया कि राजा अपने राजपाट का भार पुत्र को सौंप कर आप दीक्षा ले रहा है। होते होते यह खबर उस गुरुकुल में भी पहुँची, जिसमें कि कुमार पढ़

रहा था। कुमार को पढ़ाने वाले शिक्षक ने विचार किया कि राजकुमार कल राजा बनेगा, लेकिन अभी इसे वह शिक्षा तो देनी रह ही गई है, जिस शिक्षा से जनता का हित होने वाला है। आज तो मैं इसका गुरु हूँ और यह मेरा विद्यार्थी है। आज, मैं इसे जैसी और जिस २ तरह चाहूँ, शिक्षा दे सकता हूँ, परन्तु कल जब कि यह राजा हो जावेगा, इसे कुछ न तो कह ही सकूँगा, न यह मानेगा ही। इसे जो शिक्षा देनी है, वह कई दिन में दी जाने की है और यह मेरे पास केवल आज भर है। कल तो चला ही जावेगा। अब बहुत दिन में दी जाने वाली शिक्षा इसे आज ही कैसे दे दूँ ?

शिक्षक इस चिन्ता में पड़ गया। सोचते-सोचते उसने वह उपाय सोच लिया, जिससे कुमार को वह आज ही में शेष शिक्षा दे सके। उसने कुमार को एकान्त में बुलाकर उसके हाथ-पैर बाँध दिये और एक बेंत से उसे खूब पीटा। राजकुमार एक तो सुकुमार था, दूसरे उसने मार के नाम पर कभी एक थप्पड़ भी नहीं खाया था, इसलिये उसे शिक्षक का उक्त व्यवहार बहुत दुःखदायी हुआ। उसके शरीर की चमड़ी निकल आई। वह अपने मन में, दुःख करने के साथ ही शिक्षक के विषय में बहुत से बुरे संकल्प कर रहा था। यद्यपि इस मार से राजकुमार को बहुत पीड़ा हुई, परन्तु शिक्षक ने उसे इतने में ही नहीं छोड़ा, अपितु एक अन्धेरी कोठरी में बन्द कर दिया। निश्चित समय तक राजकुमार को एक कोठरी में बन्द रखकर शिक्षक ने उसे कोठरी से निकाला और अपने शिष्यों के साथ उसे उसके घर भेजकर राजा से कहलवा दिया कि तुम्हारा पुत्र सब शिक्षा प्राप्त कर चुका है, अतः शिक्षक ने इसे आपके पास लौटा दिया है।

राजकुमार अपने पिता के पास पहुँचा। अपने शरीर को बताते हुए उसने राजा से शिक्षक के निर्दयतापूर्ण व्यवहार की शिकायत की। पुत्र के शरीर पर मार के चिह्न देख और उसकी शिकायतें सुनकर राजा को शिक्षक के ऊपर बहुत ही क्रोध हुआ। उसने उसी क्रोधावेश में यह आज्ञा दी कि शिक्षक को पकड़ कर फाँसी लगा दी जावे।

राजा की आज्ञा पाकर राज-सेवक शिक्षक को पकड़ लाये। शिक्षक अपने मन में समझ गया कि यह सजा राजकुमार को शिक्षा देने की ही है। उसने राजकर्मचारियों से पूछा कि मैं क्यों पकड़ा जाता हूँ ? उन्होंने उत्तर दिया कि यह हम नहीं जानते, परन्तु राजा की आज्ञा तुम्हें फाँसी देने की है। अतः तुम फाँसी पर चढ़ने को तैयार हो जाओ।

फाँसी के समय नियमानुसार शिक्षक से उसकी अन्तिम इच्छा पूछी गई। शिक्षक ने कहा कि मेरी इच्छा केवल यही है कि मैं राजा से मिलकर एक बात पूछ लूँ। अधिकारियों ने शिक्षक की इस इच्छा की सूचना राजा को दी। राजा ने पहिले तो यह कह कर कि ऐसे आदमी का मुँह नहीं देखना चाहता, शिक्षक से मिलना अस्वीकार कर दिया, परन्तु अधिकारियों के समझाने-बुझाने पर उसने शिक्षक से मिलना और उसकी बात का उत्तर देना स्वीकार कर लिया।

शिक्षक को राजा के सामने लाया गया। राजा को शिक्षक का प्रसन्न चेहरा देखकर आश्चर्य हुआ। शिक्षक के चेहरे से यह ज्ञात होता था कि जैसे इसे मरने का दुःख नहीं, किन्तु सुख है।

राजा ने शिक्षक से कहा कि क्या कहना चाहते हो ? कहो ! शिक्षक ने कहा कि मैं आपके पास प्राण-भिक्षा के लिये नहीं आया हूँ। मुझे, फाँसी लगने का किंचित् भी भय नहीं है। मैं केवल आपसे यह जानना चाहता हूँ कि आपने मुझे किस अपराध पर फाँसी का हुक्म दिया है ? सब को मेरा अपराध मालूम हो जाना अच्छा है, नहीं तो मुझ पर यह कलंक रह जावेगा, कि शिक्षक ने न मालूम कौनसा गुप्त अपराध किया था, जिससे उसे फाँसी दे दी गई।

शिक्षक की इस बात ने तो राजा का आश्चर्य और भी बढ़ा दिया। वह विचारने लगा, कि यह भी कैसा विचित्र आदमी है, जो मरने से भय नहीं करता है ? उसने शिक्षक की बात के उत्तर में कहा कि क्या तुमको अपने अपराध का पता नहीं है ? तुमने कुमार को बड़ी निर्दयतापूर्वक पीटा और कोठरी में बन्द कर दिया, फिर भी अपना अपराध पूछते हो ?

राजा के उत्तर के प्रत्युत्तर में शिक्षक ने कहा कि मैंने तो कुमार को नहीं मारा ! शिक्षक की यह बात सुनकर राजा का आश्चर्य क्रोध में परिणत हो गया। वह, शिक्षक तथा वहाँ पर उपस्थित लोगों को कुमार का शरीर दिखाकर कहने लगा कि मैं शिक्षक की अब तक की बात से तो प्रसन्न हुआ था, परन्तु अब यह मरने के भय से झूठ बोलता है। देखो, इसके शरीर पर अब तक मार के चिह्न मौजूद हैं, फिर भी यह कहता है कि नहीं मारा।

राजा ने कुमार के मुँह से घटना की समस्त बातें कहलवाई। सब लोग शिक्षक की निन्दा करते हुए कहने लगे कि वास्तव

में इसने फाँसी का ही काम किया है। शिक्षक ने कहा कि मैंने इसे मारा ज़रा भी नहीं है, जिसे आप मार कहते हैं वह तो मने शिक्षा दी है। यदि शिक्षा देने के पुरस्कार में ही आप मुझे फाँसी दिलवाते हैं, तो यह आपकी इच्छा। मुझे आपसे इतनी बात करनी थी, अब आप मुझे फांसी लगवा दीजिये।

शिक्षक की इस बात ने तो सभी को आश्चर्य में डाल दिया। राजा ने शिक्षक से कहा कि तुम्हारी इस बात का अर्थ समझ में नहीं आया, कि तुमने इसको इतना कष्ट दिया और फिर कहते हो कि मैंने मारा नहीं, किन्तु शिक्षा दी है? बतलाओ कि तुम्हारे इस कथन का रहस्य क्या है? शिक्षक कहने लगा, कि मुझे मालूम हुआ कि राजकुमार कल राजा होगा। मैंने विचारा कि कुमार अब तक सुख में ही रहा है, दुःख का इसे किंचित् भी अनुभव नहीं है। इससे यह राज्याधिकार में मत्त होकर बिना विचार किये ही प्रजा में से किसी को कैद करने की आज्ञा देगा। यह इस बात का विचार नहीं करेगा कि मारने, बाँधने और कैद करने से इसे कैसा दुःख होगा। इस प्रकार विचार कर मैंने निश्चय किया कि कुमार को इसका अनुभव करा दिया जावे, जिससे यह आज्ञा देते समय अपने अनुभव पर से दूसरे के कष्ट को जान सके और विचार कर आज्ञा दे। यद्यपि यह मैं पहले ही जानता था कि कुमार को जो शिक्षा मैं दे रहा हूँ, इसके बदले में सम्भव है कि मुझे फाँसी की सजा भी मिले। लेकिन इसके लिये मैंने यही निश्चय किया कि मेरी फाँसी से अनेकों आदमी कष्ट से बचेंगे, इसलिये मुझे फाँसी का भय न करना चाहिये और कुमार को शिक्षा दे देनी चाहिए। यही विचार कर मैंने कुमार को शिक्षा दी है, कुमार को मारा नहीं।

शिक्षक की बात सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। वह शिक्षक की प्रशंसा करने लगा और कहने लगा कि तुमने वह काम किया है जिसके विषय में मुझे अब तक चिन्ता थी, तुमने मुझे चिन्तामुक्त कर दिया। यद्यपि तुम्हारे इस कार्य से प्रसन्न होकर मुझे उचित था कि मैं तुम्हें पुरस्कार देता, परन्तु मैं इस रहस्य को अब तक न जान सका था इसलिये मैंने तुम्हें फाँसी देने की आज्ञा दे दी। अब मैं तुम्हें फाँसी देने की अपनी आज्ञा को वापिस लेता हूँ और दस ग्राम की जागीर देकर तुम्हारे सिर पर यह भार देता हूँ कि जिस तरह इस बार तुमने अपने प्राणों की परवाह न करके कुमार को शिक्षा दी है, इसी प्रकार सदा शिक्षा देते रहना। राजा की बात के उत्तर में शिक्षक ने कहा कि आपकी यह आज्ञा शिरोधार्य है, परन्तु मैं जागीर नहीं ले सकता। यदि जागीर लूँगा तो फिर आपकी आज्ञा का पालन नहीं कर सकूँगा। क्योंकि तब मैं शिक्षक न रहूँगा किन्तु गुलाम होऊँगा। मुझे अपनी जागीर छिन जाने का सदा भय बना रहेगा, जिससे मैं सच्ची बात न कह कर ठकुर-सुहाती बात कहूँगा।

मतलब यह कि प्राचीन समय के शिक्षक प्रायः ऐसे उत्तम होते थे कि छात्र को उचित शिक्षा देने में वे प्राणों तक की भी पर-वाह नहीं करते थे। साथ ही शिक्षा भी ऐसी होती थी कि जिससे छात्र स्वतन्त्र स्वावलम्बी और दूसरे के दुःख को जानता था। अस्तु। थोड़े ही दिनों में बालक सुबाहुकुमार बहत्तर कलाओं में प्रवीण होगया।

पुराने जमाने के लोग, चाहे वह कितने ही सम्पन्न या राजा ही क्यों न हों, अपने बालक को बहत्तर कलाएँ सिखलाते थे। इसका उद्देश्य यह था कि बालक बड़ा होने पर किसी भी परिस्थिति

में और किसी भी कार्य में दूसरों का मोहताज न रहे। दूसरों पर अवलम्बित होकर रहना, पराया आसरा ताकना, स्पष्ट ही एक प्रकार की गुलामी है। एक बड़ी दीनता है। आजकल के बहुत से लोग इस गुलामी एवं दीनता को गौरव मानते हैं। इसी में अपना बड़प्पन समझते हैं। मगर यह पतन-अवस्था का एक चिह्न है।

सुबाहुकुमार, राजकुमार होते हुए भी खेती करना, कपड़े बनाना आदि सब कार्य सीखा। ये सब कार्य बहत्तर कलाओं में गर्भित हो जाते हैं।

जिन कार्यों से जीवन की रक्षा होती है और जिनके बिना जगत् का काम नहीं चल सकता, उनमें से एक को अच्छा बताना और दूसरे को बुरा मानना, इस प्रकार का भेदभाव ही खराब है। उदाहरणार्थ—आप वस्त्र पहनना तो अच्छा मानते हैं, मगर वस्त्र बुनना बुरा समझते हैं। यह आपका पक्षपात है। जो मनुष्य कपड़े पहनने में ठसक रखता है मगर कपड़ा बुनना बुरा समझता है, वह अपने आपको मिट्टी के पुतले के समान बनाता है अथवा गनगौर या उसके साथ बनाये जाने वाले ईश्वर के समान बनाता है जो दूसरे के पहनाने से वस्त्र पहन लेते हैं और छीन लेने पर धरे रह जाते हैं। संसार में ऐसे लोगों का मान नहीं रहता। इसी कारण ज्ञानी जनों का कथन है कि जीवन की स्वतन्त्रता को पहचानो। यह तो सम्भव नहीं है कि कोई व्यक्ति किसी भी अंश में दूसरे पर निर्भर न रहे, तथापि जो दूसरों से थोड़ासा लेकर दूसरों को बहुत कुछ देता है—दूसरों को सुखी बनाता है, वही स्वतन्त्र-जीवी व्यक्ति है। पराधीन जीवन में कहीं सुख नहीं है। स्वतन्त्रता सुख नहीं, दुख

है। जितने अंशों में जो पराधीन है, उतने ही अंशों में वह दुखी है। ऐसा विचार कर सुबाहुकुमार को बहत्तर कलाओं का शिक्षण दिया गया।

सुबाहुकुमार समस्त कलाओं में कुशल हो गया। उसके माता-पिता को यह शौक नहीं चर्राया कि इसे जल्दी ब्याह दिया जाय और गुड्डा-गुड्डी के समान पुत्र एवं पुत्रवधू को देखकर जल्दी अपनी आँखें शीतल करें। उन्होंने बाल्यावस्था में उसका विवाह नहीं किया।

बहत्तर कलाएँ सीख कर सुबाहुकुमार ने यौवनावस्था में पदार्पण किया। पिता ने जब देखा कि अब सुबाहुकुमार गृहस्थी का भार अपने सिर पर उठा लेने योग्य हो गया है, तब उन्होंने पाँच सौ कन्याओं के साथ सुबाहुकुमार का विवाह कर दिया।

यहाँ यह बात विचारणीय है कि सुबाहुकुमार के एक साथ इतने विवाह क्यों किये गये? इस प्रश्न को हल करने के लिये अनेक बातें कही जा सकती हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि बहुविवाह जैनशास्त्र का कोई विधान नहीं है। विवाह का प्रधान सम्बन्ध तत्कालीन रीति-रिवाज से है। मगर जिन लोगों का जैन शास्त्र पर ध्यान हो, उन्हें यह भी याद रखना चाहिये कि ऐसे बहुत विवाह करने वाले पुरुषों के शरीर में बहुधा वैक्रिय लब्धि होती थी। इस विषय में एक बात सुनने योग्य है।

कहा जाता है कि एक बार नारदजी ने श्रीकृष्ण से कहा— आप इतने महान् पुरुष गिने जाते हैं, फिर इतने विवाह करना

आपके लिए क्या उचित है ? श्रीकृष्णजी ने उत्तर दिया—मेरे सिर्फ एक ही पत्नी है, दूसरी नहीं है।

नारद—आपका यह कथन मेरी समझ में नहीं आता ! महल के महल रानियों से भरे पड़े हैं और आप कहते हैं—मेरे सिर्फ एक पत्नी है।

श्रीकृष्ण—अगर आपको विश्वास नहीं है तो अन्तःपुर में जाकर देख आइये कि एक रानी के साथ एक कृष्ण है या नहीं। जिस रानी के साथ मैं न होऊँ, समझ लीजिए कि वह मेरी पत्नी नहीं है।

नारदजी ने सोचा—देखें, कृष्णजी कहाँ कहाँ दौड़ेंगे। मैं एक मुहूर्त्त में पैंतालीस लाख योजन चलने वाला हूँ।' ऐसा सोच नारदजी दौड़ कर प्रत्येक महल में गये। मगर उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जिस महल में वह पहुँचे, कृष्णजी वहीं मौजूद हैं। कृष्ण की रानियों में उन्हें एक भी ऐसी न मिली जो बिना कृष्ण की हो। इस प्रकार नारदजी सब महल देखकर जब सभा भवन में लौटे तो उन्होंने कृष्ण को सिंहासन पर बैठे देखा। नारदजी बोले—आप यहाँ भी मौजूद हैं ? कृष्णजी मुस्कराहट के साथ बोले—कहाँ जाऊँ? मेरे तो स्त्री ही नहीं है। 'आपकी लीला अपरम्पार है।' कह कर नारदजी चल दिये।

आज के लोग सहज ही यह कह सकते हैं कि ऐसी असंभव बातों को सुनना भी वृथा है, लेकिन जो लोग वैक्रियलब्धि नहीं मानते उन्हें बहुविवाह भी नहीं मानना चाहिए। जिस शास्त्र की एक

बात को आप अस्वीकार करते हैं, उसी की दूसरी बात स्वीकार कैसे कर सकते हैं?

तो सुबाहुकुमार का पाँच सौ राज—कन्याओं से विवाह हुआ। एक ओर राजाओं की कन्याएँ और दूसरी ओर राजकुमार है। सब राजकन्याओं के साथ, एक ही दिन विवाह होना आज के लोगों के लिए आश्चर्य की बात है। आज के लोग एक ही कन्या के विवाह में न जाने क्या क्या कर डालते हैं। मगर मित्रो! इस कथा में एक ऐसी जीवनी रक्खी गई है, जिसके पढ़ने, सुनने और मनन करने से हृदय के फाटक खुल जाएँ।

पाँच सौ कन्याओं के साथ एक ही दिन में विवाह करने का अर्थ यह था कि लोगों के समय, शक्ति और स्वास्थ्य आदि का बचाव किया जाय। एक एक कन्या के साथ अलग-अलग समय पर विवाह किया जाता तो न जाने कितना समय लग जाता और कितनी शक्ति खर्च होती! लगातार बहुत दिनों के वैवाहिक खान-पान से लोगों के स्वास्थ्य को भी हानि पहुँचती। यह सब विचारकर पहले के समय में प्रायः एक ही दिन और एक ही मण्डप में विवाह होता था। प्राचीन काल के लोग समय की बचत का बहुत ध्यान रखते थे और खान पान तथा मौज-मजे के लिये समय का अनुचित व्यय नहीं करते थे। आप अपने समय का कितना मूल्य आँकते हैं, यह आप ही सोच लें। गिरा हुआ एक पैसा खोजने में एक पूरा घण्टा खर्च कर देने वाले आप में कई मिल सकते हैं। यह आपके समय की कद्र है, जो आप स्वयं करते हैं। भारतवर्ष के अधिकांश निवासियों में यह एक बड़ी त्रुटि है कि वे समय की अपेक्षा पैसे को अधिक मूल्यवान् मानते हैं। बुद्धिमान् पुरुष ऐसा नहीं मानते।

पैसे की अपेक्षा समय को अत्यधिक कीमती समझते हैं। समय का मूल्य समझे बिना जीवन अव्यवस्थित रहता है और अच्छे कार्य नहीं हो पाते। अच्छे कार्य हुए बिना आत्मा निराधार हो जाती है। आशय यह है कि समय की बचत के लिहाज से सुबाहुकुमार का पाँच सौ राज-कन्याओं के साथ, एक दिन में ही विवाह किया गया।

विवाह के पश्चात् सुबाहुकुमार ऊँचे महलों में नाटक, नृत्य आदि देखते हुये रहने लगे। संसारी जीव इस स्थिति को सुखमय मानते हैं, मगर वास्तव में यह सुख का कलेवर मात्र है। यद्यपि आत्मा के लिये कलेवर की भी आवश्यकता है, लेकिन आत्मा-विहीन कलेवर मुर्दा है। हिन्दू लोग आत्महीन मुर्दा कलेवर को भी सिंगारते हैं, पर क्या इससे उसे सुख का अनुभव होता है?

नहीं।'

इसी प्रकार विवाह सम्बन्धी तथा भोगोपभोग सम्बन्धी सुख, सुखाभास है—सुख का कलेवर मात्र है। वह सच्चा सुख नहीं है। सच्चे सुख का द्वार कहाँ और किस प्रकार खुलता है, यह आगे आता है। सुखविपाक की इस कथा में सुख का रस कैसे पड़ता है और कलेवर में आत्मा का दर्शन किस प्रकार होता है, यह ध्यान-पूर्वक देखना चाहिये।

जिसका आत्मा आध्यात्मिक सुख को न देख, केवल भोग के कलेवर का ही कीड़ा बना रहा, उसका मानव-जीवन निःसार है। उसने बहुमूल्य अवसर खो दिया।

---

(५)

भगवान् का पदार्पण
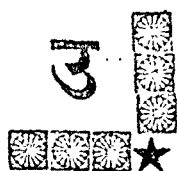
उस समय चौवीसवें तीर्थङ्कर श्रमण भगवान् महावीर एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विचरते हुए हस्तिशीर्ष नगर में पधारे।

भगवान् रथ, पालकी या विमान में बैठकर नहीं, वरन् पैदल ही विहार करते थे। वे अपने पैरों से ही गांव-गांव में भ्रमण करते थे। जिन भगवान् की सेवा के लिये एक करोड़ देवता सदा प्रस्तुत रहते थे, उनके लिये एक रथ क्या दुर्लभ था? देव एक लाख योजन का रथ बना कर और उसमें बैठकर भगवान् की सेवा लिये आवें और भगवान् स्वयं पैदल विहार करें! मगर जीवन की कला को प्रकट करने के लिए भगवान् पैदल ही चलते थे। वास्तव में सच्चा सुख सादगी और आत्मदमन से ही मिल सकता है।

भगवान् महावीर हस्तिशीर्ष नगर में आकर (नगर से बाहर) पुष्पकरण्डक नामक उद्यान में ठहरे और तप एवं संयम द्वारा आत्मा को अच्छे लगने वाले आनन्द में विचरने लगे।

भगवान् महावीर का आगमन सुन कर अदीनशत्रु राजा उन्हें वन्दना करने के लिए सारे लवाजमे के साथ गया, जैसे कोणिक

गया था। सुबाहुकुमार भी उसी प्रकार रथ में बैठ कर वन्दना करने निकला, जैसे जमाली निकला था।

यहाँ आशंका हो सकती है कि जब अदीनशत्रु और सुबाहुकुमार आदि सवारी पर सवार होकर भगवान् की वन्दना करने गये थे, तो यदि आज हम लोग मोटर आदि पर चढ़कर मुनि-दर्शन के लिये जायें तो क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो वह राजा थे और राजा को अपने गौरव की रक्षा के लिये कुछ विशेषता रखनी पड़ती है। वह पैदल कहीं भी नहीं जाते। क्या आप बिना सवारी कहीं नहीं जाते हैं? इसके अतिरिक्त अगर राजा बिना सवारी और सामान के जाते तो लोगों पर वह छाप न पड़ती, जो इस अवस्था में पड़ी थी।

सब लोग भगवान् की वन्दना करने गये। भगवान् ने उपस्थित विशाल जनसमूह को धम-देशना दी। भगवान् ने वह धर्म सुनाया जो आत्मा का जीवन, प्राण और उसकी जाज्वल्यमान शक्ति है।

प्रश्न हो सकता है कि धर्म अरूपी और शब्द रूपी है। फिर रूपी के द्वारा अरूपी को कैसे व्यक्त किया जा सकता है? और इस धर्म सुनने का तत्त्व क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि धर्म में जो शक्ति है. वह शब्दों द्वारा ही प्रकट की जाती है। चाहे शब्द धर्म की सम्पूर्ण शक्ति को प्रकट करने में असमर्थ है, फिर भी शब्द को छोड़ कर उसे प्रकाशित करने का दूसरा कोई उपयोगी माध्यम नहीं है। जैसे आत्मा अरूपी हो करके भी रूपी शरीर में ठहरा है, उसी प्रकार आत्मा का धर्म अरूपी होकर भी शब्द में रहा हुआ है।

भगवान् ने जो धर्म सुनाया, उसका विस्तार शास्त्र में
[illegible]मान है। भगवान् ने धर्म के दो प्रकार सुनाये—सूत्र धर्म और
[illegible]रित्र-धर्म। अथवा धर्म के दो प्रकार अगार-धर्म और अनगार
भी होते हैं। अगार का अर्थ है—घर। घर गृहस्थी में रहते हुये
[illegible] बच्चे, धन, मकान आदि का परित्याग न करके भी जिस धर्म
पालन किया जाता है, वह अगारधर्म या गृहस्थधर्म कहलाता
इससे विपरीत धन, जन, भवन आदि का त्याग करके वनवास
[illegible]ीकार करना, जगत् के समस्त सजीव और निर्जीव पदार्थों से
तरह नाता तोड़ लेना और फिर धर्म का आराधन करना
[illegible]गार-धर्म कहलाता है। इसे साधुधर्म भी कहते हैं।

अनगार-धर्म ही उच्च-कोटि का धर्म है, किन्तु सभी लोग
[illegible]दम अनगार-धर्म का पालन नहीं कर सकते। इस कारण
[illegible]वान् ने धर्म को दो भागों में विभक्त कर दिया है। अथवा यों
[illegible]हेए कि भगवान् ने धर्म की दो कक्षाएँ स्थापित कर दी हैं।

थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं।

अर्थात् गृहस्थ-धर्म में पहला व्रत स्थूल प्राणी की हिंसा
[illegible]ागना है। स्थावर जीव सूक्ष्म और हिलने चलने वाले त्रस प्राणी
[illegible]ल कहलाते हैं। श्रावक सूक्ष्म अहिंसा का पालन नहीं कर
[illegible]कता। उस पर अगर सूक्ष्म अहिंसा-पालन का बोझा लाद दिया
[illegible]ाय तो वह अधिक अपराधी बनेगा। इसलिये भगवान् ने ऐसा
[illegible]ायुक्त धर्म बतलाया है कि चक्रवर्ती राजा भी उसका सरलता-
[illegible]क पालन कर सकता है।

गृहस्थ श्रावक को भगवान् ने स्थूल-हिंसा का त्याग बतलाया है। अगर उसके लिये सूक्ष्म हिंसा का त्याग अनिवार्य कर दिया जाता तो संसार कैसे चलता ? चूले का और चक्की का, कृषि और गोपालन आदि का कार्य यदि सभी मनुष्य एक साथ छोड़ दें तो काम कैसे चल सकता है ? भगवान् ने श्रावक के लिए स्थूल-हिंसा का त्याग बता कर उसमें भी दो कोटियां बताई हैं—एक आकुट्टि और दूसरी अणाकुट्टि। अर्थात् संकल्पजा हिंसा और आरम्भजा हिंसा। गाड़ी में बैठने का उद्देश्य कीड़े-मकोड़े मारना नहीं है, फिर भी वह मरते तो हैं ही, इस प्रकार की हिंसा आरम्भजा हिंसा है। एक आदमी पत्थर से चीटियों को मारता है। उसका यह कार्य संकल्पजा हिंसा है। तात्पर्य यह है कि मारने का उद्देश्य न होने पर भी गृहस्थी का काम–काज करते समय जो अबुद्धि-पूर्वक हिंसा हो जाती है वह आरम्भजा हिंसा कहलाती है।

गृहस्थ के लिये आरम्भजा हिंसा त्यागना ही अशक्य नहीं है, वरन् संकल्पजा हिंसा का भी पूर्णरूप से त्याग करना कठिन होता है। इसलिये भगवान् ने संकल्पजा हिंसा के भी दो भेद कर दिये हैं–अपराधी की संकल्पजा हिंसा और निरपराध की संकल्पजा हिंसा। गृहस्थ श्रावक निरपराध की संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है। तात्पर्य यह निकला कि निरपराध त्रस प्राणी को मारने के संकल्प से (जान-बूझ कर) न मारना स्थूल अहिंसा है।

बारह व्रतों पर पूज्यश्री के व्याख्यान पृथक पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। श्री हितेच्छु श्रावक मंडल, रतलाम, से प्राप्त किये जा सकते हैं।

इसी प्रकार भगवान् ने श्रावक के बारह व्रतों का स्वरूप बतलाया, जिनका विवेचन कई बार किया जा चुका है।

इस धर्म को सुनने से बहुतों को बोध होना सम्भव है, लेकिन कथा में अत्यधिक विस्तार हो जाने के भय से मूल बात ही कहता हूँ।

सब लोग धर्म-श्रवण करके अपने-अपने स्थान पर चले गये, परन्तु सुबाहुकुमार भगवान् के पास ही ठहर गये। सुबाहुकुमार ने धर्म श्रवण कर उसे दूसरे कान से नहीं निकाल दिया। उसने उस पर मनन किया। भगवान् द्वारा प्रतिपादित धर्म ने सुबाहुकुमार के अन्तस्तल का स्पर्श किया।

(६)

श्रावक व्रत-धारणा

—★—

मूलपाठ—तए णं से सुबाहुकुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे, जाव एवं वयासी:—

सद्दहामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं, जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे राईसर० जाव मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया, णो खलु अहं तहा संचाएमि मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए। अहं णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं—दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि।

'अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।'

तए णं से सुबाहुकुमारे समणस्स भगवओ अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं—दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जइ, २ त्ता तमेव दुरूहइ, २ त्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए।

शब्दार्थ—तदनन्तर सुबाहुकुमार श्रमण भगवान् महावीर के निकट धर्म श्रवण करके और अवधारण करके हर्षित और संतुष्ट हुआ। यावत्—इस प्रकार कहने लगा:—

भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ। आप देवों के वल्लभ के समीप जैसे बहुत से राजा और ईश्वर (राजकुमार आदि) मुंडित होकर, गृहस्थी का त्याग करके अनगारता धारण करते हैं, उस प्रकार मैं आपके निकट अनगार धर्म की दीक्षा लेने में समर्थ नहीं हूँ। मैं आप देवानुप्रिय के निकट पाँच अणुव्रत और सात शिक्षा-व्रत रूप द्वादश प्रकार के गृहस्थ-धर्म को धारण करूँगा धारण करने की अभिलाषा करता हूँ।

(भगवान् ने फर्माया—) 'देवानुप्रिय ! जिस प्रकार सुख उपजे, वैसा करो। धर्म कार्य में ढील मत करो।'

तब सुबाहुकुमार ने श्रमण भगवान् महावीर के निकट पाँच अणुव्रत और सात शिक्षा-व्रत रूप बारह प्रकार का गृहस्थ-धर्म स्वीकार किया। गृहस्थ-धर्म स्वीकार करके उसी रथ पर सवार होकर जिस ओर से आया था, उसी ओर लौट गया।

× × × × ×

भोजन तो किया जाय, मगर उसे पचाया न जाय तो वह बलदायक नहीं होता। इसी प्रकार धर्म सुनकर उस पर मनन न किया जाय तो वह ज्ञानदाता नहीं होता। जैसे किये हुए भोजन का पचाना आवश्यक है, उसी प्रकार सुने हुये धर्म पर मनन करना भी आवश्यक है।

भगवान् के सुनाये हुये धर्म पर विचार करने से सुबाहुकुमार को वैसा ही हर्ष हुआ जैसा प्यासे को पानी, भूखे को भोजन और धूप से दुःखी को शीतल छाया मिलने से होता है। सुबाहुकुमार का हृदय हर्ष-विभोर हो उठा। उसका चित्त प्रफुल्लित हो गया। सुबाहु-

कुमार को धर्म सुन कर ऐसी अपूर्व शान्ति मिली कि उसका रोम-रोम खिल उठा। सुबाहुकुमार को विचार आया कि इस समय मुझे जो हर्ष हो रहा है, उसे सार्थक करना चाहिये।

कोई भी अच्छा कार्य उमंग के समय अधिक अच्छी तरह होता है। उमंग आई और कार्य न किया तो विना उमंग के वह कव हो सकता है? हर्ष में जो काम होता है, वह रोते-रोते करने से नहीं होता। वास्तव में किसी भी सत्कार्य के विषय में हर्ष की उमंग को जाने देना बुद्धिमानी नहीं है। जिस समय लोहा तपा कर लाल सुर्ख कर दिया जाता है, उसी समय उस पर घन की चोट न लगा कर बाद में लगाने से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार उमंग के समय काम न करके बाद में करने से यथेष्ट लाभ नहीं हो सकता।

भगवान् के सुनाये धर्म को सुन कर सुबाहु बोले—भगवान् ने जिस निर्ग्रन्थ प्रवचन का श्रवण कराया है; वह सार्थक है। इस निर्ग्रन्थ प्रवचन पर मेरी बड़ी श्रद्धा और रुचि है।

वैद्य ने किसी रोगी को देख कर उसका रोग पहचान लिया और रोगी को बतला दिया कि तुम्हें अमुक रोग है। यह निदान रोगी को ठीक मालूम हुआ, अतएव वैद्य पर उसकी श्रद्धा हो गई। लेकिन अभी तक रोगी को यह नहीं मालूम है कि वैद्य ने जो औषध बताई है वह कैसा लाभ पहुँचाती है? और इससे किसी को लाभ भी हुआ है या नहीं? इसके पश्चात् कुछ ऐसे लोग मिल गये, जो उसी औषध से स्वस्थ हुए थे। उन्होंने उस दवा की प्रशंसा की। तब रोगी को उस दवा पर भी श्रद्धा हो गई। लेकिन दवाई कडुवी है और इसका सेवन करते समय पथ्य भी रखना पड़ता है। इस

भय के कारण रोगी अगर औषध का सेवन नहीं करता तो उसे क्या लाभ हो सकता है? हाँ, अगर रोगी इस बात पर विचार करेगा कि मैं जिस रोग से पीड़ित हूँ, उसकी अपेक्षा औषध अधिक कडुवी नहीं है, और ऐसा विचार कर वह औषध सेवन करेगा तब उसका रोग अवश्य मिट जायगा।

सुबाहुकुमार कहते हैं—प्रभो! आपने कर्मरूप महारोग की चिदानन्द द्वारा अनुभूत औषध—(सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) फर्माई, यह मुझे बहुत ही रुचिकर प्रतीत हुई है। इससे अनादि का कर्म-मलीन आत्मा निर्मल बनता है-शुद्ध हो जाता है। आपकी बताई यह दवा समस्त भव-रोगों को उपशमन करने वाली है। प्रभो! आपके द्वारा प्रतिपादित मार्ग में भोग का तिरस्कार है। जिनकी भोग के प्रति तीव्र लालसा है, उन्हें यह मार्ग अच्छा नहीं लगता। इस मार्ग का नाम निर्ग्रन्थ-प्रवचन मार्ग है। यह भोग से दूर है। भोग की आशा रखने वाले को यह धर्म प्यारा नहीं लग सकता। ऐसे लोगों को इस धर्म में कठिनाई मालूम होती है। किन्तु जिस प्रकार कडुवी होने पर भी औषध आरोग्य-सुख देती है, इसी प्रकार भोगों से दूर होने पर भी यह धर्म मुझे प्रिय है। इस धर्म की कठिनाई समझ कर रत्नत्रय का अराधन न करूँगा तो क्या वे भोग मुझे नरक में नहीं ले जाएँगे? भोग के कारण उत्पन्न होने वाले दुःखों को देखते हुए भोग-त्याग का सुख कुछ कम नहीं है। यह अक्षय असीम और अनन्त सुख देने वाला है।

लोग धर्म-पालन में कठिनाई ही कठिनाई देखते हैं और धर्म के न पालने में सुविधा दिखाई देती है। वास्तव में यह एक बड़ा

भ्रम है। यह ठीक है कि कोई एक ही छलांग में आसमान पर नहीं पहुँच सकता, तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि धर्म के आराधन से किसी को कष्ट हो सकता है।

सुबाहुकुमार कहने लगे—यद्यपि मैंने समझ लिया है कि यह सब संसार तजने योग्य है, फिर भी सहसा एक साथ तजना मेरे लिए शक्य नहीं है। इस प्रकार अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए वह बोले—भगवन्! आपके बताये महाव्रत पूर्ण लाभदायक हैं, परन्तु उनका पालन करने में मैं अभी असमर्थ हूँ। अतएव अभी मैं गृहस्थ के बारह व्रत ही धारण करना चाहता हूँ। उनका मैं सुभीते से पालन कर सकूँगा।

महाव्रतों के पालन करने में अपनी असमर्थता प्रकट करने का अर्थ यह नहीं है कि सुबाहुकुमार शरीर से अशक्य थे। इस असमर्थता का अर्थ यह है कि प्रत्येक कार्य के विषय में अपना अन्तर्नाद पहचानना ही चाहिये। अन्तर्नाद की अवज्ञा करके या उसे बिना पहचाने बाहरी आवेश से प्रेरित होकर जो काम किया जाता है, उस काम में प्रायः 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है। ऊपरी आवेश में आकर महाव्रत धारण कर लेने से न तो भली-भाँति महाव्रतों का ही पालन होता है, न अणुव्रतों का ही।

भोग-तृष्णा से रहित होकर जब मनुष्य अन्तर्नाद पर विचार करता है, तब उसके चित्त में एक प्रेरणा जागृत होती है। अन्तर्नाद की उस प्रेरणा को ठीक तरह पहचान कर काम करने वाला मनुष्य कभी चक्कर में नहीं पड़ता। अन्तर्नाद से कैसी प्रेरणा उठती है, यह बात महापुरुषों के जीवन-चरित्र से भली-भाँति मालूम

हो सकती है। महापुरुष के हृदय में अवश्य ही अन्त:प्रेरणा होती है। फिर चाहे सारा संसार उसकी अवहेलना करे, मगर महापुरुष वही कार्य करेगा, जिसके लिए उसे अन्त:प्रेरणा हुई है। बलवती अन्त:प्रेरणा के सामने सारे संसार की शक्ति भी नगण्य हो जाती है।

सुबाहुकुमार कहते हैं—'अभी महाव्रत धारण करने की मुझ में शक्ति नहीं है।' इसका अर्थ यही है कि मेरी अन्त:प्रेरणा अभी महाव्रत धारण करने को प्रेरित नहीं करती और अन्त:प्रेरणा के बिना कोई भी महत्वपूर्ण कार्य पूर्ण-रूप से सफल नहीं होता। अतएव इस समय मैं श्रावक के बारह व्रत ही धारण करना चाहता हूँ।

सुबाहुकुमार की बात सुन कर भगवान् ने कहा—'अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।'

अर्थात्—हे सुबाहु ! तुम्हें जैसे सुख उपजे, वही करो। अगर श्रावक व्रत धारण करना चाहते हो तो यह भी श्रेष्ठ है। परन्तु शुभ काम में देर मत करो।

सुबाहुकुमार ने भगवान् के समीप श्रावक के बारह व्रत धारण किये और अपने घर लौट गया।

भगवान् महावीर ने सुबाहु से यह नहीं कहा कि तुम महाव्रत धारण करके साधु बन ही जाओ। उन्होंने सामान्य-रूप से उपदेश दिया मगर संयम धारण करना या न करना श्रोताओं की इच्छा पर ही छोड़ दिया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वक्ता का यह कर्त्तव्य है कि वह श्रोता की इच्छा के अनुसार ही उसे त्याग व्रत आदि दे; किसी को बाध्य करके, जोर-जबर्दस्ती से, बहका कर या दबाकर नहीं। ऐसा करने वाला वक्ता धर्म की सेवा नहीं करता,

वरन् धर्म के उपहास का साधन बनता है। यह बात दूसरी है कि किसी के हित के लिए, किसी बात को वक्ता अधिक कहे, प्रेरणा-जनक शब्दों का प्रयोग करे, लेकिन श्रोता की स्वतन्त्रता को ठेस पहुँचाना उचित नहीं है। श्रोता अपने स्वतन्त्र भाव से जो नियम, व्रत आदि धारण करता है, उसके पालन में उसका विशेष उत्साह होता है और उसके लिए वही विशेष कल्याणकर हो सकता है।

समवसरण सभा में अनेकानेक साधु, साध्वियाँ, श्रावक और श्राविकाएँ मौजूद थीं। सुबाहुकुमार के वार्तालाप के समय भी उनमें से अनेक वहाँ उपस्थित होंगे। सुबाहुकुमार का यह सौम्य स्वभाव देखकर कौन जाने, किस किस के हृदय में क्या-क्या भावनाएँ उत्पन्न हुई होंगी ! उन सब की भावनाओं का उल्लेख शास्त्र में नहीं किया गया है। परन्तु भगवान् के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति अनगार—जो गौतम स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हैं—को बैठे-बैठे जो विचार आया उसका वर्णन शास्त्र में मिलता है। गौतम स्वामी ने विचार किया—सुबाहु ने ऐसा कौनसा पुण्य किया था कि जिसके प्रताप से वह श्रावक-व्रत धारण करने में समर्थ हुआ ? सब लोग अपने-अपने मन में कहते हैं कि सुबाहुकुमार को सब सुख प्राप्त हैं; लेकिन यह पुण्य कहाँ से उदित हुआ कि उसमें धर्म रूपी प्राण का संचार हुआ ? सुबाहुकुमार इतना इष्ट कैसे हुआ ? उसमें एक साथ इतनी विशेषताएँ कैसे आईं ? इत्यादि विचार आने पर गौतमस्वामी ने भगवान् के चरणों में उपस्थित होकर उन्हें प्रकट करने का तथा उन पर भगवान् का निर्णय जानने का निश्चय किया।

★★★

(७)
इन्द्रभूति की जिज्ञासा

मूलपाठ—ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई जाव एवं वयासी—अहो णं भंते ! सुबाहुकुमारे इट्ठे, इट्ठरूवे, कंते, कंतरूवे, पिए, पियरूवे, मणुण्णे, मणुण्णरूवे, मणामे, मणामरूवे, सोमे, सुभगे, पियदंसणे, सुरूवे; बहुजणस्स वि य णं भंते ! सुबाहुकुमारे इट्ठे, इट्ठरूवे, जाव—सुरूवे; साहुजणस्स वि य णं भंते ! सुबाहुकुमारे इट्ठे, इट्ठरूवे जाव सुरूवे; सुबाहुणा भंते ! कुमारेणं इमेयारूवा उराला माणुस्सरिद्धी किण्णा लद्धा, किण्णा पत्ता, किण्णा अभिसमण्णागया ? के वा एस आसी पुव्वे भवे ? किं नामए वा ? किं वा गोएणं ? कयरंसि वा गामंसि वा, सन्निवेसंसि वा? किं वा दच्चा, किं वा भोच्चा, किंवा किच्चा, किं वा समायरित्ता, कस्स वा तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमपि आयरियं सुवयणं सोच्चा, निसम्म, सुबाहुणा कुमारेणं इमा एयारूवा उराला माणुस्सरिद्धी लद्धा, पत्ता, अभिसमण्णागया ?

अर्थात्—उस काल और उस समय भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति, यावत्-इस प्रकार कहने लगे-भंते ! सुबाहुकुमार इष्ट है, इष्ट रूप वाला है, कान्त है कान्त रूप वाला है, प्रिय है, प्रिय रूप

वाला है, मनोज्ञ है, मनोज्ञ रूप वाला है, मणाम है, मणाम रूप वाला है, सौम्य है, सुभग है, प्रियदर्शन है, सुरुप है। भगवन् ! सुबाहुकुमार बहु जन-समाज को और साधुजनों को भी इष्ट, इष्ट रूप यावत्-सुरूप है। भगवन् ! सुबाहुकुमार को यह उदार मनुष्य-ऋद्धि कैसे लब्ध हुई है ? कैसे प्राप्त हुई है ? इसके सामने यह कैसे आई है ? पूर्व भव में यह कौन था ? इसका नाम और गोत्र क्या था ? कौन-सा दान देकर, क्या भोगकर, कौनसा आचरण करके, किस तथारूप श्रमण या माहन (ब्राह्मण-श्रावक) से एक भी आर्य वचन सुनकर और हृदय में धरकर सुबाहुकुमार ने इस प्रकार की यह उदार मनुष्य-ऋद्धि लब्ध की है, पाई है ? या यह स्वयं इसके सामने आई है।

* * * *

गौतम स्वामी सुबाहुकुमार की फैलती हुई कीर्ति देखकर मन ही मन विचार करने लगे।

आह ! सुबाहुकुमार में कौनसे लोकोत्तर गुण हैं, जिनसे आकृष्ट हुई जनता सुबाहुकुमार की ओर आदर का भाव रखती है ? सुबाहुकुमार की किन-किन विशेषताओं ने जनता के मन को बन्दी बना लिया है ? किन-किन गुणों के कारण सुबाहुकुमार की इतनी कीर्त्ति फैल रही है ? सुबाहुकुमार का यह चतुर्दिक्-व्यापी यश-सौरभ कौनसे सद्गुण रूप प्रसूनों से प्रसूत हुआ है ? किस कर्म-प्रकृति का बंध करके सुबाहु दूसरों को शान्ति प्रदान करने वाले बने हैं ? किस पुण्याचरण से वे दूसरों का दुख दूर करने में समर्थ हुए हैं ?

इस प्रकार के अनेक प्रश्नों से गौतम स्वामी का चित्त व्यग्र सा हो गया। पर उनके मन ने इनका समाधान नहीं किया। तब उन्होंने भगवान् महावीर स्वामी का सहारा लिया।

इन्द्रभूति के प्रश्न

श्री

गौतम के प्रश्नों की संक्षेप में व्याख्या कर देना आवश्यक है। श्रीगौतमस्वामी पूछते हैं—सुबाहुकुमार इष्ट और इष्ट रूपवान् क्यों है ?

इष्ट रूप किसे कहना चाहिये ? यह बात स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार ने अतिव्याप्ति दोष का निवारण करते हुए तीन प्रकार से बतला दी है। जिसे जिससे स्वार्थ होता है अथवा जिसकी जिसके प्रति आसक्ति होती है, उसे उसका रूप इष्ट प्रतीत होता है। मगर सुबाहुकुमार का रूप ऐसा इष्ट नहीं था। इसे स्पष्ट करने के लिए कहा गया है कि सुबाहुकुमार का रूप साधुओं को भी इष्ट है। साधु न तो स्वार्थपरायण होते हैं और न आसक्ति वाले ही। फिर भी उन्हें जो रूप इष्ट मालूम होता है वह कुछ साधारण नहीं वरन् अलौकिक होना चाहिए। उस रूप की इष्टता कुछ और ही प्रकार की होनी चाहिए।

श्री गौतमस्वामी ने सुबाहुकुमार के जिस रूप को इष्ट बतलाया है, उसका आशय यह है। जो रूप अपने आप में रूपवान् होकर भी दूसरे को कल्याणमार्ग में इष्ट अनुभव हो और जिसे देखकर दर्शक की कल्याणमार्ग की ओर प्रवृत्ति बढ़े वह रूप इष्ट

है। जिस रूप पर दृष्टिपात होते ही पाप काँप उठता है—पाप पलायन कर जाता है और अन्तरङ्ग में दबी हुई विशुद्ध धर्मभावना खिल उठती है वह रूप इष्टकारी है।

एक ओर वल्कल वस्त्रधारी रामचन्द्र हों और दूसरी ओर उत्तम वस्त्राभूषणों से सुसज्जित रावण हो। सोचिये, आपको दोनों में से कौन इष्टकारी प्रतीत होगा ? राम। रावण का रूप आप अनिष्टकर अनुभव करेंगे।

राम-रावण की कथा को आप पौराणिक समझकर कदाचित् कल्पित मान लें तो दूसरा उदाहरण लीजिये। एक वह पण्डित मोतीलाल नेहरू हैं जो अपने अंग्रेजी वेषभूषा की चमक-दमक से अनेक अंग्रेजों को मात करते थे और दूसरे खद्दरधारी मोतीलाल हैं। दोनों की तुलना करके देखिये, आपको इष्टकारी कौन प्रतीत होता है ?

'खद्दरधारी'

इससे भी अधिक सादगी का उदाहरण देखना हो तो गांधीजी को देखो। दुबला-पतला शरीर, दांतों का ठिकाना नहीं। लँगोटा मार रक्खा है। फिर भी क्यों उन्हें देखने के लिये हजारों आदमी टूट पड़ते हैं ? क्या उनकी अपेक्षा साहबी पोशाक पहनने वाला, तड़क-भड़क पसन्द करने वाला नया ग्रेज्यूएट कम दर्शनीय है ? अगर यह सत्य है तो इसका कारण क्या है ? सादगी, संयतता और सात्विकता में क्यों इतना अधिक आकर्षण है ? और उस आकर्षण में लौकिकता का क्यों अभाव है ? इस पर विचार करने से आप सुबाहुकुमार के इष्ट रूप का आशय समझ जाएँगे। चमड़े की चमक चर्म-चक्षुओं को चकित कर सकती है, मगर संयम का

ओज अन्तरात्मा को आकर्षित करता है। ऊपरी ठस्सा आँखों को आनन्द दे सकता है मगर हृदय का सौन्दर्य हृदय को प्रफुल्लित कर देता है—वह आत्मा का प्रमोद बढाता है।

मित्रो ! आप यदि गणधर की बात की तुलना करके उस पर गहराई के साथ विचार करेंगे तो मालूम होगा कि असल में पुण्यशाली कौन है ? गहनों-कपड़ों से सजने वाला अधर्मी पुण्यवान् है कि सादगी वाला धर्मात्मा ?

फकीरी खुदा को प्यारी है,
अमीरी कौन विचारी है।

फकीरी खुदा को भी प्यारी लगती है। खुदा का अर्थ है—खुद से होने वाला। अर्थात् जो बनावटी नहीं है बल्कि स्वयं से है। संस्कृत में उसे स्वयंभू कह सकते हैं। इस दृष्टि से हमारा आत्मा भी खुदा ही है। हाँ, नाशवान् चीजों पर जिसकी मालिकी है, जो माया का बन्दा है वह खुदा नहीं हो सकता। मगर जिसने नश्वर पदार्थों से अपना ममत्व और स्वामित्व हटा लिया है, वह खुदा है और फकीरी उसका रूप है। अमीरी और फकीरी में क्या अन्तर है ? और उनका परिणाम कैसे भोगना पड़ता है, इसे समझने के लिए एक उदाहरण उपयुक्त होगा।

अरब के रेतीले मैदान में एक फकीर घूम रहा था। प्रथम तो ग्रीष्म-ऋतु थी, तिस पर दोपहर का सूरज आकाश से आग बरसा रहा था। पृथ्वी तवे की तरह तपी हुई थी। फिर भी फकीर अपनी मस्ती में ऐसे घूम रहा था, मानो किसी शीतल उद्यान में भ्रमण कर रहा हो।

किसी आवश्यक कार्य से, एक अमीर उधर होकर निकला। अमीर ऊँट पर सवार था। खाने-पीने का सामान उसके साथ था। अमीर के पीछे उसी ऊँट पर उसका एक नौकर बैठा था। उसके बाँयें हाथ में छाता था और दाहिने हाथ में पंखा। अमीर महाशय को धूप और गर्मी से बचाने के लिए नौकर पूरा उद्योग कर रहा था। उत्तम वस्त्र और आभूषण अमीर की शोभा बढ़ा रहे थे।

अमीर की नजर मस्त फकीर पर पड़ी। उसने कहा—यह भी कोई आदमी है! कैसा बदशक्ल और मनहूस है! इसे अपनी जिंदगी की भी चिन्ता नहीं है। धूप में बिना कपड़ा-लत्ता, बिना छाता, प्रेत की तरह घूम रहा है!

अमीर की उत्सुकता बहुत बढ़ गई! उसने फकीर को रोका और पूछा—तू कौन है? फकीर ने लापरवाही से उत्तर दिया—जो तू है सो मैं हूँ?

अमीर की त्यौरियाँ चढ़ गईं। यह नाचीज मेरी बराबरी करता है? उसने क्रोध से कहा—मनुष्यता का कोई चिह्न तो तुझ में नजर नहीं आता; अलबत्ता तू मनुष्यता को बदनाम करता है। तुझ जैसे बेवकूफ फकीरों ने ही दुनिया को दुःखी बना रक्खा है। तेरी जिन्दगी से तो तेरी मौत बेहतर है। मौत आ जाय तो मनुष्यों का एक कलंक कम हो जाय!

अमीर लोग मनुष्यता को शायद वस्त्रों और आभूषणों से नापते हैं। अगर मनुष्यता को नापने का यही गज न हो तो वे मनुष्यता की प्रतिस्पर्द्धा में बहुत पिछड़ जावें। इसी कारण उन्होंने

यह गज मान लिया है। उनकी निगाह में वह मनुष्य निरा जंगली पशु है, जिसके पास पहनने को कपड़ा नहीं और सजने को आभूषण नहीं। मगर बात उलटी है। जिनके पास मनुष्यता का बहुमूल्य आभूषण है, उन्हें जड़ आभूषणों की क्या आवश्यकता है? जिन्हें मनुष्यत्व का वास्तविक और सहज आभूषण प्राप्त नहीं है वही लोग ऊपरी आभूषण लाद कर अपने आपको आभूषित घोषित करते हैं।

अमीर की बात के उत्तर में फ़कीर ने कहा—'हम क्यों मरें? मरेंगे तो अमीर मरेंगे।'

अमीर ने फकीर को फटकार बताई और सामने से हट जाने को कहा। फकीर पहले की तरह, मस्त भाव से चल दिया।

थोड़ी ही देर हुई थी कि बड़े जोर से आँधी आई। आँधी में छाता उड़ गया और छाता उड़ने के कारण ऊँट भड़क उठा। ऊँट भड़कने से अमीर और उसका नौकर धड़ाम से धरती पर आ गिरे। दोनों की मृत्यु हो गई।

आँधी जब थम गई तो वही फकीर घूमता-घामता उधर से आ निकला, जहाँ अमीर और उसका नौकर मरा पड़ा था। फकीर ने अमीर की लाश को पैर की ठोकर लगाते हुये कहा—साली अमीरी! तूने मेरे दोस्त को इतने जल्दी मार डाला! वह था तो मुझ-सा ही मनुष्य, पर तूने बात की बात में उसके प्राण ले लिये।

फकीरी इस तरह खुदा को प्यारी है। सब लोग फकीर नहीं हो सकते, मगर इतना तो सभी कर सकते हैं कि वे फकीर की निन्दा न करें।

तात्पर्य यह है कि ऊपरी चमक-दमक को इष्ट-रूप नहीं समझना चाहिये। जिस रूप को देखकर पाप काँपता है और धर्म प्रसन्न होता है, वही सच्चा इष्ट-रूप है। जिसके पुण्य का उदय होता है उसी को इष्टकारी रूप प्राप्त होता है। मित्रो! आपका खाना-पीना पहनना-ओढ़ना आदि ऐसा हो कि उसके सामने पाप लजा जावे। आपके खान-पान से तथा व्यवहार से संसार का बिगाड़ नहीं होना चाहिये। जिन कामों को लोग पाप मानते हैं, उन्हें करने से कोई बड़ाई नहीं होती। संसार के कल्याण में जितना भाग लोगे उतनी ही तुम्हारी बड़ाई है। गाय को दुह कर फाग खेलने की तरह मेरी बात को यों ही मत उड़ा देना। उस पर मनन करो और इष्ट-रूप प्राप्त करो। इष्ट-रूप दया-धर्म के पालन से प्राप्त होता है। कहा भी है:-

दया-धर्म पावे तो कोई पुण्यवन्त पावे।
जाने दया की बात सुहावे ॥ दया० ॥

दया के गुण वर्णन करने के लिये भाषा पर्याप्त नहीं है। शब्दों में इतनी शक्ति नहीं है कि उनके द्वारा दया की महत्ता चित्रित की जा सके। दया का दूसरा नाम अनुकम्पा है। किसी भी प्राणी को दुःखी देखकर, हृदय उस दुःख को अपना ही अनुभव करने लगे—हृदय में सहानुभूति की भावना उमड़ उठे, तो समझना कि मेरे हृदय में दया विद्यमान है। जो मनुष्य दुःखी जन को देखकर उपेक्षा-पूर्वक कहता है—'अपने किये का फल भोग रहा है। इसके और इसके किये के बीच में पड़ने की मुझे क्या जरूरत है?' उसके दिल में दया का वास नहीं है। ऐसा विचार आना एक प्रकार की निर्दयता है—क्रूरता है, अधार्मिकता है। खेद है कि आजकल कुछ भाई धर्म के नाम पर इस निर्दयता का पोषण करते हैं। वे इस दया

को मोह-अनुकम्पा कह कर त्याज्य ठहराते हैं। वास्तव में पुण्यवान् पुरुष ही दया-धर्म का पालन कर सकता है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट होगा—

कहते हैं, काशी में एक मेला था। विश्वनाथ के मन्दिर में सोने का एक थाल आया। किसी देवता ने वह थाल मन्दिर में रख कर आवाज दी—जो सब से अधिक भक्त हो उसे यह थाल उपहार में दिया जाय। सब से बड़े भक्त की पहचान यह है कि भक्त का हाथ लगने से थाल देदीप्यमान हो उठेगा और जो सच्चा भक्त न होगा उसका हाथ लगने से वह लोहे या पीतल का दिखाई देगा।

थाल को देखकर विश्वनाथ के पंडे काँप उठे। उन्होंने सोचा यह थाल हमें हजम न हो सकेगा। इसे किसी को दान में ही दे डालना चाहिये। यह सोचकर एक पंडे ने, ऊँचे स्थान पर खड़े होकर थाल का हाल बताया।

एक तो सोने का थाल हाथ लगता है और दूसरे सब से बड़े धर्मात्मा की पदवी मिलती है। भला किसका मन न चलता! सबके मुंह में पानी भर आया। सभी थाल लेने दौड़ पड़े।

मेले में एक सेठ लाखों का दान करने वाला आया था। उसे अपने दान का बड़ा अभिमान था। वह समझता था—मुझसा दानी धर्मात्मा कोई है ही नहीं। वह पुजारी के पास आया और अपने दान-धर्म का बखान करके थाल पाने का अधिकारी बताने लगा। लेकिन पुजारी ने जैसे ही उसके हाथ में थाल दिया कि थाल काला पड़ गया। थाल के काला होते ही सेठजी का चेहरा भी काला

होगया। वह मन ही मन लज्जित हुआ, पछताया और नीची निगाह किये चलता बना।

उसके बाद दूसरा, तीसरा, चौथा और पाँचवाँ व्यक्ति आया। किसी को अपने तप का अभिमान था, किसी को अपने चरित्र पर नाज था। कोई अपने दान के अभिमान में डूबा था और कोई ठाकुरजी की भक्ति के अहंकार में चूर था। सभी ने थाल को हाथ में लिया, पर थाल ने सबकी पोल खोल दी। थाल काला पड़ गया। जब उन्होंने थाल को यथास्थान रक्खा तो थाल पहले की तरह चमकने लगा।

एक गरीब किसान कंधे पर हल लादे खेत की तरफ जा रहा था। रास्ते में उसने एक मूर्च्छित मनुष्य को पड़ा देखा। कृषक स्वभाव से दयालु था, उसे दया आ गई। वह उसके पास गया। उसे उठाया और बड़े यत्न के साथ अपने झोंपड़े में ले गया। वहाँ उसने अपनी गाय दुह कर उसे ताजा दूध पिलाया, शीतल उपचार किया। तब उसकी मूर्छा हटी। मूर्छा हटने पर उसने कृषक से पूछा-'भाई, तुम कौन हो ?'

कृषक ने कहा—मैं एक गरीब किसान हूँ। इसी झोंपड़े में रहता हूँ। इसके सिवाय मेरा और कोई परिचय नहीं है।

किसान की सरलता से अजनबी मुग्ध होगया। बोला—'मेले में मेरे कई जान-पहचान वाले हैं, कई सम्बन्धी भी हैं। उनमें से किसी ने मुझे सँभाला नहीं। तुमने बिना किसी जान-पहचान ही मुझे उठा लिया और जीवन दिया। मैं इस उपकार का बदला कैसे चुका सकूंगा ?'

कृषक ने कहा—'मैंने अपना कर्त्तव्य पाला है। कर्त्तव्य-पालन में बदला लेने की भावना नहीं होती। आप कृपा करके मुझे किसी प्रलोभन में न डालिये। आपकी सेवा से मुझे जो सन्तोष और सुख हुआ है, वही मेरे कर्त्तव्य का उपयुक्त पुरस्कार है। सेवा को आजीविका बनाना मुझे नहीं रुचता और आप कहते हैं कि तुम्हारा हमारा कोई नाता नहीं, सो वास्तव में ऐसी बात नहीं है। आपके साथ मेरा ठाकुरजी के द्वारा नाता है। आप मेरे भाई हैं। मैं अपने एक भाई को बेहोश पड़ा छोड़ जाता तो मेरी मनुष्यता मुझे छोड़ जाती।'

अजनबी जब स्वस्थ हो गया तब किसान खेत पर जाने को उद्यत हुआ। परन्तु वह भी किसान के पीछे-पीछे चला। 'किसान बड़ा धर्मात्मा है' 'इस किसान के मुकाबिले का कोई धर्मात्मा नहीं है,' इस प्रकार चिल्लाता-चिल्लाता वह चलता चला। किसान ने कहा—'भाई मेरे, तुम क्यों वृथा चिल्लाते हो! मैंने कोई बड़ा काम नहीं किया है। मैं एक मामूली गरीब किसान हूँ। इतने पर भी अजनबी न माना और चिल्लाता ही चला गया।

लोगों ने चिल्लाहट सुनी तो दंग रह गये। किसी ने पूछा—'इसने धर्म का कौनसा काम किया है?' उसने उत्तर दिया—'मनुष्य के प्राण बचाये हैं।'

आखिर दोनों उधर से निकले, जहाँ पुजारी थाल देने के लिये खड़ा था। उस मनुष्य ने कहा—'पुजारीजी, थाल इन्हें दो; थाल के सच्चे अधिकारी यही हैं।'

पुजारी ऐंठ कर बोला—ऐसे ऐरे-गैरे के लिए यह थाल नहीं है। यह एक मामूली किसान है। खेत जोत कर पेट भरता है। यह सब से बड़ा धर्मात्मा कैसे हो सकता है ?

वह बोला—'तो जाँच कर लेने में हानि ही क्या है ? तुम्हारे पास धर्मात्मापन की पहचान तो है ही। भले ही यह किसान तिलक झापा नहीं लगाता, मन्दिर में आकर अपनी भक्ति की घोषणा नहीं करता, फिर भी है यह बड़ा धर्मात्मा। एक बार थाल हाथ में देकर देख तो लो !'

पुजारी ने किसान को थाल लेने के लिये बुलाया। किसान संकोच में पड़ गया। वह थाल लेने से इन्कार करने लगा। जो इन्कार करता है उसे सभी देना चाहते हैं। सभी लोग आग्रह करने लगे। पुजारी ने उसके हाथ पर थाल रख दिया। किसान के हाथ में आते ही थाल एकदम देदीप्यमान हो उठा। मानो दया का तेज थाल में से फूट पड़ा हो।

लोग दंग रह गये। एक स्वर से सभी उसकी सराहना करने लगे। लोगों को जिज्ञासा हुई—'इसने क्या धर्माचरण किया है ?' किसान के साथी ने किसान की मानव-दया का वर्णन करके सब का समाधान किया।

वास्तव में दया-धर्म का आचरण करने से पुण्य की प्राप्ति होती है और पुण्य के उदय से इष्ट-रूप प्राप्त होता है। कोई व्यक्ति चाहे कुरूप दीखता हो, चाहे सुन्दर, वेष चाहे राजकुमार का हो चाहे दरिद्री का, मगर इष्टकारी रूप कुछ और ही चीज है।

बहुजन-समाज को जो प्रिय लगता है वह इष्ट कहलाता है। जिसका रूप देखकर जन-समाज कह उठे—'यह मेरा है,' वही इष्ट-रूप है। इष्टकारी रूप नीतिज्ञता, सुशीलता और धार्मिकता पर निर्भर है। जो जितना नीतिज्ञ, शीलवान्, और धर्मनिष्ठ होगा, उसका रूप उतना ही इष्टकारी होगा। इससे विपरीत जिसके देखने से पाप फैलता हो, वह देखने में भले ही सुन्दर मालूम होता हो, परन्तु अनिष्टकारी रूप कहा जायगा।

इष्ट और इष्ट-रूप के आगे गौतमस्वामी ने 'कन्ते, कन्तरूवे' कहा है अर्थात् सुबाहुकुमार को कान्त और कान्तरूप वाला बतलाया है।

इष्ट और कान्त में क्या अन्तर है, यह थोड़े में समझ लेना आवश्यक है। कोई वस्तु इष्टकारी तो है मगर वह किसी के लिए इच्छा करने योग्य नहीं होती। अथवा देश, काल के अनुसार वह कमनीय है, मगर कभी-कभी कमनीय नहीं होती। उदाहरण के लिये घी-दूध को लीजिये। घी और दूध इष्टकारी माना जाता है परन्तु जीम लेने के पश्चात् क्या कोई उनकी इच्छा करता है? नहीं। उस समय घी-दूध कमनीय नहीं रहता, क्योंकि उसमें रुचि नहीं रह जाती।

यह दोष सुबाहु में नहीं है। वह कभी अरुचिजनक रूप वाला नहीं होता। उसका रूप सदैव आह्लाद-जनक होता है। अतः सुबाहुकुमार इष्ट, इष्ट-रूप वाला और कान्त तथा कान्तरूप वाला है। तात्पर्य यह है कि सुबाहु इष्टकारी होने के साथ-साथ सदा कमनीय है।

इस प्रकार का रूप मिलना बड़े पुण्य का कार्य है। शास्त्र में पुण्य दो प्रकार का बतलाया गया है—(१) पुण्यानुबंधी पुण्य और (२) पापानुबंधी पुण्य। पुण्यानुबंधी पुण्य के प्राप्त होने पर प्राणी अपना भी कल्याण करता है और दूसरों का भी। मगर पापानुबंधी पुण्य वह है, जिसके द्वारा धन-वैभव तो मिलता है, पर बहुतों का अकल्याण करके अन्त में नरकगति भोगनी पड़ती है।

कान्त और कान्तरूप कहने के पश्चात श्री गौतम ने सुबाहुकुमार को प्रिय और प्रिय रूप कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई वस्तु इष्टकारी और कमनीय होने पर भी प्रीति के योग्य नहीं होती। उदाहरणार्थ—आपके भोजन में एक कटोरा भरा आम-रस आया और एक कटोरा कढ़ी आई। भूख होने के कारण दोनों ही वांछनीय हैं और दोनों से भूख शान्त करने में सुविधा होती है पर आपकी प्रीति किस तरफ दौड़ेगी? आम-रस की तरफ। इसी प्रकार संसार में इष्टकारी और कमनीय तो बहुत होंगे, परन्तु कढ़ी और आम-रस में जो अन्तर है वही उन मनुष्यों में और सुबाहुकुमार में अन्तर है। आशय यह है कि सुबाहुकुमार संसार को अत्यन्त प्रिय लगता है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी ने 'मणुन्ने' और 'मणुन्नरूवे' कहा है। अर्थात् सुबाहुकुमार मनोज्ञ और मनोज्ञ रूप वाला है सो किस पुण्य का फल है?'

कई वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनसे प्रीति तो होती है, परन्तु वे मनोज्ञ नहीं होतीं, अर्थात् उनसे मन को और इन्द्रियों को शान्ति

नहीं मिलती। कोई भोज्य वस्तु ऐसी हो सकती है जो इष्ट, कमनीय और प्रीतिकारी तो है लेकिन खाने के पश्चात् विकार उत्पन्न करती है। यथा-अम्ब रोग से ग्रस्त राजा को आम बहुत प्रिय था, परन्तु खाने पर वह हानिकर सिद्ध हुआ। अतएव आम उस रोगी राजा के लिए मनोज्ञ न कहलाया। दुर्बल मनुष्य को मूँग की दाल का हलुवा प्रिय तो होता है पर उसे वह हजम नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में हलुवा उसके लिए मनोज्ञ नहीं। तात्पर्य यह है कि अन्यान्य वस्तुएँ किसी के लिए मनोज्ञ होती हैं, किसी के लिए नहीं—एक ही वस्तु सबके लिए मनोज्ञ नहीं होती, मगर सुबाहुकुमार इस त्रुटि से रहित है। वह सबके लिए मनोज्ञ है।

तदनन्तर गौतम स्वामी ने सुबाहुकुमार को 'मणामे', और 'मणामरूवे' बतलाया है। अर्थात् सुबाहु लाभदायक और लाभदायक रूप वाला है।

कोई वस्तु मनोज्ञ भी हो सकती है और पथ्य भी, मगर शक्तिदायक नहीं भी हो सकती। भगवती सूत्र में आहार के गुण बतलाते हुये पथ्यापथ्य का निर्णय किया गया है। वहां कहा है कि जिस आहार से हड्डियों को शक्ति मिले, वह मोटी हों और खून, चर्बी आदि में पतलापन आवे, वह सब के लिए इष्टकारी है। इससे विपरीत जो भोजन हड्डी में पतलापन पैदा करके रक्त आदि को गाढ़ा बनाता है वह भोजन अनिष्टकारी है।

सुबाहुकुमार मणाम और मणाम रूप वाला है, इसका तात्पर्य यह है कि वह ताकत देने वाला और उसका रूप भी ताकत

देने वाला है। अन्य वस्तुएँ किसी को शक्ति देती हैं, किसी को नहीं; पर सुबाहुकुमार सभी को शक्तिदाता है।

गौतम स्वामी ने सुबाहु को सोमे, सोमरूवे, सुभगे, सुभग-रूवे भी कहा है। अर्थात् सुबाहुकुमार का चन्द्रमा सरीखा यह रूप, जिसे देखकर सब लोग सुबाहु को आत्मीय मानते हैं—किस पुण्य का फल है?

आजकल के लोग बढ़िया खाना और बढ़िया पहनना ही पुण्य का फल मानते हैं। उन्हें इस बात का पता नहीं कि उनके इस खाने और पहनने से कितने गरीबों के कलेजे तड़पते हैं? लोग चाहते हैं—उनके भोजन वस्त्रों की उत्तमता से लोग खुश हो जाएँ, लेकिन उन्हें वास्तविक खुशी किस प्रकार हो सकती है, यह उन्हें पता नहीं है।

भगवान् गौतम कहते हैं—सुबाहुकुमार सौम्य और सुभग है। चन्द्रमा देखने में प्रिय लगता है और शीतलता का संचार करता है, पर वह 'सुभागी' नहीं बनाता। चन्द्रमा शीतलता तो देता है मगर भूख का कष्ट नहीं भगाता। मगर सुबाहुकुमार सब दुःखों को दूर कर देता है।

उत्तमोत्तम स्वादिष्ट भोजन करना, बहुमूल्य आभूषणों को धारण करना और यथेच्छ आमोद-प्रमोद करना 'सुभागी' होने का लक्षण नहीं है। कबीरजी कहते हैं:—

कबीर सौ कोस्याँ फिरयो, मनखा बड़ा सुकाल।
जिनके देखे दुःख टले, उनका बड़ा दुकाल॥

अर्थात्—संसार में मनुष्यों की कमी नहीं है, परन्तु जिनके देखने से दुःख दूर हो, ऐसे मनुष्यों की बहुत कमी है।

भगवान् गौतम के कथन से स्पष्ट है कि सुबाहुकुमार में उल्लिखित सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। वे सुबाहुकुमार को बहुजन समाज का प्रिय कहते हैं। अर्थात् सुबाहु किसी किसी को ही प्यारा नहीं लगता वरन् मनुष्य मात्र को प्यारा है।

बहुजन-समाज कदाचित् भय, स्वार्थ या खुशामद से भी प्यारा कह सकता है, पर साधुओं को किसका भय है? उन्हें किसी की खुशामद से क्या प्रयोजन है? लेकिन गौतम स्वामी कहते हैं—सुबाहु साधु-जनों को भी इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मणाम, सौम्य, सुभग, सुरूप और प्रियकारी लगता है।

जो निष्पृह महात्मा आरम्भ-समारम्भ से दूर हैं, जिनके मन में तृण और मणि तुल्य हैं, जो कञ्चन--कामिनी के त्यागी हैं, जिन्होंने संसार के समस्त प्रलोभनों पर विजय प्राप्त की है, उन्हें भी सुबाहुकुमार इष्ट, कान्त आदि प्रतीत होता है। अतएव सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि संतों को प्यारा लगने वाले व्यक्ति में क्या विशेषताएँ होनी चाहिये? निःसंदेह वह विशेषताएँ भौतिक नहीं, आधिभौतिक भी नहीं, वरन् आत्मिक ही हो सकती हैं।

संत-जन खुशामद के कारण किसी को प्रिय नहीं समझते। जैसे पवन, किसी की खुशामद की अपेक्षा न रखकर सर्वत्र समान रूप से सौरभ फैलाता है और प्राणियों को जीवन देता है, इसी प्रकार संत पुरुष, परोपकार को ही स्वोपकार समझकर, सब को

समान भाव से धर्म का उपदेश देते हैं और जनता में नवीन जीवन फूँकते हैं। जो मनुष्य अपने में गुण प्रकट नहीं करता, या गुण होने पर भी उन्हें संत-समागम रूपी पवन नहीं लगने देता, वह साधुओं को प्यारा कैसे लग सकता है ?

राम और महावीर अपने आप प्रसिद्ध नहीं हुये थे, संतों ने उन्हें प्रसिद्ध किया था। संत इनकी खुशामद नहीं करते थे, बल्कि इनके गुणों की पूजा करते थे। संत गुणों के भूखे हैं। सत्य पर चलने से संतजन निश्चय ही तुम्हारे गुणों को प्रकट करेंगे और तुम सुबाहु की तरह इस लोक में तथा परलोक में सब को प्रिय लगोगे।

मूलपाठ में एकार्थक प्रतीत होने वाले 'लद्धा' और 'पत्ता' दो शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। यहाँ दोनों शब्दों के अर्थ में थोड़ा अन्तर है। एक दृष्टान्त से उनका अन्तर समझना ठीक होगा:—

किसी मनुष्य को राजा की ओर से इनाम देने की आज्ञा हुई। आज्ञा खजांची के पास पहुँच गई, पर अब तक इनाम नहीं मिला। इस अवस्था में इनाम 'लद्ध' (लब्ध) तो हो गया है मगर 'पत्त' (प्राप्त) नहीं हुआ है। इनाम की रकम हाथ में आ जाने पर पत्त-प्राप्त कहलायेगी। रकम जब तक हाथ में न आ जावे तब तक संभव है और कोई बाधा आ पड़े और राजाज्ञा होने पर भी इनाम न मिल पावे। अतएव लब्ध और प्राप्त होने पर ही सिद्धि होती है। यथा—मनुष्य-शरीर की प्राप्ति के योग्य कर्म बँध जाना 'लद्ध' है और उस शरीर का मिल जाना 'पत्त' है। अतएव यहाँ दोनों पदों का अर्थ यह हुआ कि सुबाहुकुमार को सुन्दर मनुष्य-शरीर आदि ऋद्धि का लाभ भी हुआ है और अपने सुकृत को सुरक्षित रखने की सामग्री भी प्राप्त हो गई है।

लद्धा और पत्ता के पश्चात् गौतम स्वामी ने 'अभिसमण्णागया' कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि एक मनुष्य को इनाम का हुक्म हुआ और इनाम भी मिल गया। परन्तु वह बीमार हो गया या और कोई ऐसा कारण उपस्थित हो गया जिससे इनाम उसके काम न आया। इस स्थिति में कहा जायगा कि इनाम 'अभिसमण्णागय' नहीं हुआ। सुबाहुकुमार को मानव-शरीर की सामग्री प्राप्त हुई है, सुकृत से उसे सुरक्षित रखने की सामग्री भी मिली है और वह अपने सुकृत को बढ़ा भी रहा है।

ज्ञानी जन यह नहीं देखते कि आत्मा की किसी विशेष समय में उत्पत्ति हुई है। उन्हें भलीभाँति विदित है कि जैसे कोई पुरुष नये वस्त्र धारण कर लेने से नया नहीं हो सकता उसी प्रकार आत्मा नवीन शरीर धारण करने मात्र से नया नहीं होता। आत्मा की सत्ता त्रैकालिक है-आदि-अन्त से हीन, काल की सीमाओं से परे। न उसकी कभी उत्पत्ति है, न कभी विनाश है। इस अक्षय सत्य को ध्यान में रखकर श्री गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से सुबाहुकुमार का पूर्वभव और तत्कालीन नाम जानने की अभिलाषा प्रकट की है।

संसार का कोई भी पदार्थ विना नाम व्यवहार में नहीं आता। आज कोई मनुष्य किसी पर दावा करने जाए तो उसे उसका नाम बताना होगा। नाम के विना न्यायालय में कोई बात नहीं सुनेगा। मगर एक नाम वाले अनेक व्यक्ति देखे जाते हैं। उनमें भिन्नता समझने के लिए गोत्र का व्यवहार किया जाता है। इसी उद्देश्य से गौतम ने नाम के साथ पूर्वभव का गोत्र भी पूछा है।

(९)

किं वा दच्चा ?

—०:०—
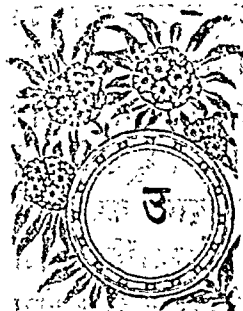
उपकारी पुरुष के उपकार को स्वीकार करके उपकार का बदला चुकाना कृतज्ञ पुरुष का कर्त्तव्य है। जो पुरुष कृतघ्न होते हैं, गुणों के चोर होते हैं, वे भले ही इससे विपरीत आचरण करें, मगर कृतज्ञ सज्जन ऐसा नहीं करते। उपकारी का उपकार मानना, उसका आदर करना, उसकी पूजा करना कृतज्ञता का खास लक्षण है। माता पूजनीय क्यों मानी जाती है? इसीलिए कि माता का सन्तान पर अप्रतिम उपकार है। माता ने गीली जगह सोकर सन्तान को सूखे में सुलाया है। माता ने अपनी सन्तान के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है। जननी ने अपनी प्यारी सन्तान के लिए क्या-क्या मुसीबतें नहीं झेलीं?

दान देने से पुण्य का बंध होता है। आज आप जो सेठ-साहूकार बने हैं सो यह किस का प्रताप है? यह सब पूर्वाचरित पुण्य का ही परिणाम है। अगर आप इस सत्य को सदा ध्यान में रक्खें तो आपका जीवन बहुत उच्च बन सकता है।

भगवान् महावीर से गौतम स्वामी का दूसरा प्रश्न यह है कि पूर्वभव में सुबाहुकुमार ने कौनसा दान दिया था, जिसके फल-स्वरूप उसे यह मनुष्यजन्म सम्बन्धी सम्पत्ति मिली है?

शास्त्रकारों ने दान के दस भेद बताये हैं:-१ अनुकम्पादान, २ संग्रहदान, ३ भयदान, ४ कारुण्यदान, ५ लज्जादान, ६ गर्वदान, ७ अधर्मदान ८ धर्मदान, ९ काहिदान और १० कतन्तीदान।

किसी दीन दुःखी पर दया करके उसकी सहायतार्थ जो दान दिया जाता है, उसे अनुकम्पादान कहते हैं। जैसे भूख से चिल्लाते हुए को भोजन देना। अपने आपका कष्ट मिटाने के लिये जो दान दिया जाता है, उसे संग्रहदान कहते हैं। जैसे घूँस देना। भय के कारण जो दान दिया जाता है, उसे भयदान कहते हैं। जैसे—ये हमारे स्वामी के गुरु हैं, इन्हें आहार न देने से स्वामी नाराज होगा, इस भय से साधु को आहार देना। किसी प्रियजन के वियोग में दिया गया दान कारुण्यदान कहलाता है। जैसे शय्यादान देना। लज्जा के वश होकर दिया गया दान लज्जादान कहलाता है। जैसे—ये साधु हमारे घर आये हैं, यदि इन्हें आहार न देंगे तो अप-कीर्ति होगी—इस विचार से साधु को रोटी देना। बात पर चढ़कर यानी गर्वावेश में जो दान दिया जाता है, वह गर्वदान कहलाता है। जैसे जोश में आकर भांड आदि को देना। अधर्म का पोषण करने के लिये जो दान दिया जाता है, उसे अधर्मदान कहते हैं। जैसे विषय-भोग के लिये वेश्या को देना या चोरी करवाने, झूठ बुलवाने आदि के लिये देना। धर्म का पोषण करने के लिये दिया गया दान धर्मदान कहलाता है। जैसे—इन साधुओं ने धर्मवृत्ति के लिये ही संसार

छोड़ा है, इनको देने से धर्म की वृद्धि होगी—इस विचार से देना। भविष्य में किसी उपकार की आशा से दिये गये दान को काहिदान कहते हैं। जैसे—मैं इन्हें दूंगा, तो ये मुझे पढ़ाएँगे, इस विचार से देना। किसी उपकार के बदले में दिया गया दान कतन्तीदान कहलाता है। जैसे—इनने मुझे पढ़ाने का उपकार किया है, इनने मेरा पालन-पोषण किया है या इनने मेरा अमुक काम किया है—इस विचार से देना।

इन दस प्रकार के दानों का फल, दान के नामों से ही प्रकट हैं। जैसे—अधर्मदान से अधर्म का फल होगा, और अनुकम्पादान से अनुकम्पा का फल होगा। इसी प्रकार लज्जादान से लज्जा का रहना, भयदान से भय का मिटना और संग्रहदान से कष्ट का मिटना आदि।

कुछ लोगों का कथन है कि धर्मदान के सिवा और सब दान, अधर्मदान के ही समान हैं और धर्मदान के सिवा दूसरे दानों का देना मांस-भक्षण तथा वेश्या-गमन के समान पाप है, फिर चाहे अनुकम्पा करके किसी अन्धे या कोढ़ी को दिया गया हो या अपने पर उपकार समझ कर माता-पिता को। लेकिन धर्मदान के सिवा शेष सभी दानों को अधर्मदान में मानना, जैन-सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है। यदि ऐसा होता तो शास्त्रकारों को दान के दो ही भेद करने की आवश्यकता होती अर्थात् दस भेद न करके धर्मदान और अधर्मदान ये दो भेद ही किये जाते। लेकिन ऐसा नहीं किया गया। इससे इन दस प्रकार के दानों में से नौ प्रकार के दान को एक ही श्रेणी में मानना उचित नहीं। इसके सिवा विचार-शक्ति से काम

लेने पर भी धर्मदान के सिवाय शेष दान, अधर्मदान में नहीं ठहरते। उदाहरण के लिए—अपने घर आये हुए मुनि को रोटी न देंगे तो अपकीर्ति होगी—इस लज्जा से या ये मेरे स्वामी के गुरु हैं, इन्हें रोटी न देने से मालिक नाराज हो जावेगा, इस भय से मुनि को दिया गया दान अधर्मदान, जो मांस-भक्षण और वेश्या-गमन के समान पाप माना जाता है—कैसे हो सकता है? मतलब यह कि एकान्त धर्म तो धर्मदान में है और एकान्त पाप अधर्मदान में है। शेष आठ दानों में न एकान्त धर्म या पुण्य ही कहा जा सकता है, न एकान्त पाप ही कहा जा सकता है।

4999

(१०)

किं वा भुच्चा ?

★

भगवान् महावीर से गौतम स्वामी ने तीसरा प्रश्न यह किया है कि सुबाहुकुमार ने पूर्वभव में क्या खाया था ?

संसार में दो प्रकार के जीव हैं। एक तो वे जो खाने के लिये जीते हैं और दूसरे वे जो जीने के लिये खाते हैं। जो लोग खाने के लिये जीते हैं उनकी भावना यह रहती है कि मैं खाने के लिये ही जन्मा हूँ अतः खूब खालूँ। ऐसी भावना वाले लोग भक्ष्याभक्ष्य तथा समय असमय नहीं देखते। वे तो केवल खाने ही में ध्यान रखते हैं। वे यह विचारना भी अनावश्यक समझते हैं कि हमारी इस भोजन-शूरता से किसी जीव को कष्ट तो नहीं होता ? भक्ष्याभक्ष्यविवेकरहित लोगों के लिये ही पशु-पक्षी मारे जाते हैं, दीन-दुःखी सताये जाते हैं और अनेक प्रकार के पाप होते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि संसार में पाप की वृद्धि भूखों मरने वाले लोगों की अपेक्षा इन खाने के लिये जीने वाले लोगों ने अधिक की है। यदि भक्ष्याभक्ष्य का ध्यान रखा जावे तो इतना अधिक पाप न फैले। लेकिन भक्ष्याभक्ष्य का ध्यान वे ही लोग रख सकते हैं जो खाने के लिये न जीते हों किन्तु जीने के लिये खाते हों।

जो लोग जीने के लिये खाते हैं, उन लोगों का ध्येय यह नहीं रहता कि हम खाकर शरीर तथा उसकी शक्ति बढ़ावें और फिर पाप करें। किन्तु वे इस लिए खाते हैं कि हमारा शरीर बना रहे, जिससे हम धर्म की सेवा कर सकें। क्योंकि धर्म-सेवा के लिए शरीर का होना आवश्यक है और शरीर-रक्षा के लिए भोजन करना आवश्यक है। जीने के लिये खाने वाले भक्ष्याभक्ष्य का ध्यान रखते हैं। वे इस बात के लिए सदा चिन्तित रहते हैं कि हमारे खाने के कारण किसी जीव को अनावश्यक कष्ट न हो। और वह दिन कौनसा होगा जब हमारे कारण से किसी भी जीव को कष्ट न होगा। यद्यपि खाने को तो दोनों ही तरह के लोग खाते हैं, परन्तु खाने के लिए जीने वाला तो पाप प्रकृति बाँधता है और जीने के लिए खाने वाला खाकर भी पुण्य-प्रकृति बाँध सकता है! मतलब यह कि खाने में भी भेद है। एक खाना पाप के लिये होता है और एक धर्म के लिये। इसी को दृष्टि में रख कर गौतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछ रहे हैं कि सुबाहुकुमार ने ऐसा क्या खाया था, जिससे इसने पुण्य-प्रकृति बाँध ली और इसे यह सम्पत्ति मिली ?

मित्रो! आप इस प्रश्न पर गहराई से विचार कीजिये। गौतम स्वामी के इस प्रश्न से स्पष्ट ध्वनित होता है कि खाना-खाना सब एक नहीं होता और भोजन भी भावी जीवन के निर्माण में निमित्तभूत होता है। मनुष्य का भोजन क्या होना चाहिये, इस सम्बन्ध में भलीभांति विचार करने की आवश्यकता है। मगर इस प्रकार का विचार सन्तों साधुओं की संगति करने से आता है। दुनियादारी के आरम्भमय काम-काज पापबंध के कारण बनते हैं और साधु के सत्संग से उन पापों का अन्त आ जाता है। प्रभव

चोर चिलायती सन्त के संग में आकर पवित्रात्मा बन गया था। इसी प्रकार बाल्मीकि अपने जीवन में महाकवि ऋषि बन गया, जिसकी बनाई हुई रामायण को लोग बड़ी भक्ति के साथ पढ़ते हैं और अपने जीवन को आदर्श बनाते हैं।

सच्चा सन्त वह है जो दूसरों का दुख देखकर पसीज उठता है, जो प्रत्येक आत्मा को आत्मतुल्य मानता है और जिसकी बुद्धि परोपकार में लगी रहती है।

गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है—'किं वा भुच्चा ? क्या खाना चाहिए ?' यह प्रश्न भक्ष्याभक्ष्य का प्रश्न है। अर्थात् मनुष्य को क्या खाना चाहिए और क्या नहीं खाना चाहिए ? वास्तव में जिस मनुष्य ने भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं किया वह मनुष्य नहीं, राक्षस है। स्मरण रखना चाहिए कि जिस मनुष्य को भक्ष्याभक्ष्य का भान नहीं है उसे गम्यागम्य का भी अवगम नहीं रहता और जिसे गम्यागम्य का अवगम नहीं रहता वह अपनी स्त्री के समान समस्त स्त्रियों को गम्य समझ लेता है। उसका मन इतना मलीन हो जाता है कि बड़े से बड़ा कुकर्म करने से भी नहीं हिचकता। जिसे गम्य और अगम्य का विचार करना है उसे भक्ष्य और अभक्ष्य का भी विचार करना चाहिए। यह कितने परिताप की बात है कि जिस आर्यावर्त्त के निवासी सब से पहले यह विचार करते थे कि—मेरे खाने योग्य क्या चीज है ? वही लोग आज इस विचार को भूलते जा रहे हैं।

दौलत के लोभ से जिस अनार्य (साहब) के सामने आर्य कहलाने वाले आज थर-थर काँपते हैं उसके चरित्र के साथ जरा

अपने चरित्र का मिलान तो कीजिये। उन्नति के शिखर पर पहुँचे कहलाने वाले इंग्लेण्ड और अमेरिका आदि देशों में कितनी और कैसी कुचालें चली जाती हैं, इस बात का विचार मात्र ही हृदय में कँपकँपी पैदा कर देता है। वहाँ कुमारी कहलाने वाली कन्या २-१ गर्भ धारण कर प्रसूतिगृह में बच्चा पैदा कर आती है, फिर भी वह कुमारी कहलाती है। क्या ऐसी घृणित सभ्यता आर्यों की है? आर्यों ने अपनी समाज-व्यवस्था में इस प्रकार की गन्दगी को स्थान दिया है? पर भाइयो, खेद है कि आप ऐसे चरित्रहीनों को पैसे के लोभ के मारे देवता मान बैठे हो। ऐसी स्थिति में अपने देश में जन्मे हुये सच्चे चरित्रवान् पुरुष की कौन कद्र करे?

आपको यह नहीं भूल जाना चाहिए कि आपने आर्य-देश में जन्म धारण किया है। आपकी जाति के, आपके कुल के और आपके समाज के नियम बड़े अच्छे उद्देश्य से और अच्छे ढंग से निर्माण किये गये हैं। इन नियमों को इंग्लेण्ड और अमेरिका के विद्वान् पुरुष समझाने पर भी सरलता से उतनी जल्दी नहीं समझ सकते, जितनी जल्दी और सरलता से हमारे यहां का धर्मभीरु मूर्ख कहलाने वाला मनुष्य समझ सकता है। यह पुण्यभूमि का ही प्रताप है। जिसका पुण्य प्रकृष्ट होता है वही इस पुण्यभूमि में जन्म लेता है। अफसोस है कि धनाढ्य लोग यहाँ, अपने भाइयों की— जो उच्च चरित्रवान् हैं, आर्य हैं, कद्र नहीं करते। अलबत्ता मजूरी कराते समय उन्हें सब से पहले याद करते हैं। एक ही जन्मभूमि में जन्मे हुए भाई का मान क्या इसी प्रकार करना चाहिए?

देश के दुर्भाग्य से इस देश के, किसी जमाने के सुधारक, ब्राह्मण भाई भी पैसे के लोभ में फँसकर इस ओर कुछ भी ध्यान

नहीं देते। न उन्हें देश की मान-मर्यादा का विचार रहा है और न अपने परमोच्च सामाजिक आदर्शों के संरक्षण की ही चिन्ता है। वे अपने जाति-भाइयों की दुर्दशा का विचार ही नहीं करते। आज उनकी स्थिति भी वही है जो अन्य लोगों की है।

वैदिक शास्त्र के अनुसार सम्पूर्ण मानव-समाज विराट का रूप है। अस्पृश्य समझे जाने वाले भाई उस विराट के पैर माने गये हैं। अतएव अस्पृश्यों की सेवा करना उस विराट पुरुष की सेवा करना है। अस्पृश्यों-अछूतों का उद्धार करना आर्य-जाति का उद्धार करना है। ऐसा करने से ही आर्य-जाति अक्षुण्ण बनी रह सकती है।

शान्त चित्त से विचार तो कीजिए कि हमारे देश की वर्ण-व्यवस्था कितने ऊँचे दर्जे की सभ्यता की द्योतक है ? हमारे देश का रहन-सहन किस उच्च आशय पर अवलम्बित है ? पर आज हम घोर अज्ञान में पड़ कर आर्यों की रीति-नीति को उनके रहन-सहन को, उनके खान-पान को और उनकी उत्तम प्रणाली को धिक्कारते हैं, उससे घृणा करते हैं और अनार्यों की प्रणाली, उनका वेष-भूषा एवं खान-पान अपनाने में अपना गौरव मानते हैं। मगर तुम जिस देश में रहते हो उस देश की उत्तम से उत्तम सभ्यता को धिक्कारने में तुम्हें लाज नहीं आती ? तुम आर्य-पोशाक को, आर्य-भाषा को, आर्य-खानपान को मूर्खों की चलाई हुई रीति मानते हो और अनार्यों की पोशाक, अनार्यों की भाषा, अनार्यों का खान-पान तुम्हें अच्छा लगता है ! तुम उसकी सराहना करते नहीं अघाते। ऐसी दशा में क्या तुम्हें आर्य-माता का सपूत कहा जा सकता है ? जो पुत्र अपनी माता की वास्तविक महिमा को कलंकित करता है,

उसके सद्गुणों को दुर्गुण समझता है, जिसे अपनी माता की महत्ता का अभिमान नहीं है, वह अपनी माता का सपूत कैसे कहला सकता है ! पुत्र का अर्थ है—दुखों को निवारण करने वाला। क्या तुम अपनी माता के दुःखों को दूर करने की ओर ध्यान देते हो ? क्या माता की विपदाओं को हरने के लिये कभी आपने कोई छोटी-सी विपदा भी सहन करने का विचार किया है ? जो माता का वंश नहीं दिपाता वह पुत्र कैसा ?

तुम्हारे देश में १० हजार मील दूर इंग्लेण्ड, अमेरिका आदि देशों से लोग आते हैं। उनमें से कोई वायसराय बनता है, कोई गवर्नर बनता है, कोई कलक्टर बनकर आता है। क्या उनमें से किसी एक ने भी तुम्हारे देश की पगड़ी पहनी है ? भारतीय भोजन खाया है ?

'नहीं'।

क्यों ? इसलिये कि वे दस हजार मील दूर से आये तो क्या हुआ, पर वे इतनी दूर अपनी प्यारी मातृभूमि को भूलने नहीं आये हैं। वे यह सोचकर आये हैं कि हम अपनी मातृभूमि की छाप तुम्हारे हृदय पर अंकित करें, जिससे यहाँ के लोग मातृभूमि इंग्लेण्ड आदि को आदर के साथ स्मरण करें।

आप अंग्रेजों के साथ अपनी वर्तमान दशा की तुलना कीजिये। एक वे अंग्रेज हैं जो कभी अपने वेष-भूषा और खान-पान आदि का भारत में आ करके भी त्याग नहीं करते और दूसरे आप हैं जो भारत में बैठे २ अपनी मातृभूमि को धिक्कारते हैं ! आज अंग्रेजी भाषा पढ़े हुए चरित्रहीन व्यक्ति को आदर मिलता है और

अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ चरित्रवान् का जगह जगह अपमान होता है। यह सब क्या मामला है ? यह हमारे ही पापों का फल है। आज हम भारतीयों में अपने देश के प्रति आदर का भाव नहीं है, पर अनार्य देश के प्रति हृदय में कूट कूट कर भक्ति भरी हुई है। यह उस देश के निवासियों के उद्योग का फल है।

दुनिया की निगाहों में अमेरिका, इंग्लेण्ड आदि यूरोपियन देश सुधरे हुए देश कहलाते हैं, पर यह मानने का कोई कारण नहीं है कि उन देशों में सब कुछ अच्छा ही अच्छा है, वहां कोई बुराई नहीं है। वहां जो अच्छा है उसको अच्छा मानते हुए भी वहां की बुराइयों की ओर से नेत्र बन्द नहीं किये जा सकते। उन देशों के निवासियों में अनेक ऐसे गुण हैं जो यहां वालों को सीखने योग्य हैं। कई बातें ऐसी भी हो सकती हैं जो वहां के लिए गुण हों पर यहां के लिए अवगुण हों। इस प्रकार उन देशों की बुराइयों को त्याग कर अच्छाइयों को ग्रहण कर लेने में कोई बुराई नहीं है। पर अन्धानुकरण की प्रवृत्ति की सराहना नहीं की जा सकती, जो प्रचुर परिमाण में हमारे यहाँ फैल रही है और जिसकी बदौलत भारतीय अपने सद्‌गुणों के मूल्य पर अनेक दुर्गुण खरीदते हैं, अपनी भलाई को छोड़ कर उनकी बुराई को भलाई समझ कर अपना रहे हैं और अपनी सभ्यता एवं संस्कृति का उच्छेद करने में लगे हुए हैं

मैं पहले बता चुका हूँ कि जिसे भक्ष्याभक्ष्य का भान नहीं उसे गम्यागम्य का भी विचार नहीं रहता। जो शराब और पानी को समान समझेगा, वह सभी स्त्रियों को अपनी स्त्री के समान क्यों नहीं समझेगा ? शराब पी लेने पर दिल पर ऐसा असर होता है कि

पीने वाले को भले-बुरे का कुछ भी ध्यान नहीं रहता। शराब ही क्यों, आप चुरुट को ही लीजिए, जिसके सेवन में बड़ा दोष नहीं समझा जाता। एक अंग्रेज विद्वान् को चुरुट पीने का बहुत शौक था। एक दिन उसे चुरुट का बहुत तेज नशा चढ़ आया। उसकी पत्नी गाढ़ी नींद में सोई हुई थी। उसने अपनी पत्नी को नशे में उन्मत्त होकर मारना चाहा पर थोड़ी देर में नशा उतर जाने पर इस नीचतम विचार के लिए अपने को धिक्कारने लगा। थोड़ी देर हुई कि उसने फिर चुरुट पिया। अब की बार वह इतना बेभान हो गया कि उसने अपनी प्रियतमा पत्नी की गर्दन पर छुरा चला ही दिया। पत्नी के प्राण-पखेरू उड़ गये।

जब चुरुट पीने से ही इतना अधिक पतन हो जाता है तो शराब पीने से कितना पतन होता होगा, इस बात का विचार आप स्वयं कर देखिए। शराब पीने वालों के हाथों हजारों खून हुए हैं। अमेरिका जैसे अनार्य कहलाने वाले देश के निवासियों ने भी शराब का बहिष्कार कर दिया है। पर आर्य-देश भारत में इसकी दिनोंदिन वृद्धि होती जाती है और इसके उपासकों की संख्या बढ़ रही है। यह कैसी उलटी गंगा बह रही है!

ओसवाल जाति ने मदिरा और मांस का त्याग किया है, पर सुना जाता है कि अब कई ओसवाल लुक-छिप कर इनका सेवन करने लगे हैं। ऐसे लोग अपनी जाति के शत्रु हैं। जाति वालों की तरफ से उनके इस कृत्य का तिरस्कार होना चाहिए।

भाइयो, आज तुम्हारे अछूत भाइयों में मदिरापान का दोष बढ़ा हुआ है और बढ़ता चला जा रहा है। उनके इस दोष को

दूर करने का प्रयत्न कीजिए। अगर लड़का मूर्ख रहे तो मां-बाप का दोष माना जाता है। भारत में ब्राह्मण, समाज के माता-पिता के तुल्य समझे जाते हैं। अगर अछूत भाइयों का और साथ ही सवर्ण लोगों का यह दोष दूर नहीं होता तो इसका अधिकांश कलंक ब्राह्मणों के सिर पर है। उन्हें चाहिए था कि वे मनुष्य-जाति के सुधार-कार्य में लगते।

यही बात मैं अपने साधुओं से कहता हूँ। अगर साधु अपने बिगड़े हुए भाइयों को नहीं सुधारते तो समझना चाहिए कि उनके साधुत्व में ही त्रुटि है। जो साधु निराधार का आधार बनता है, गरीबों का सखा बनता है और मुक्ति का सखा बनता है वही साधु सच्चा साधु है। ऐसा ही साधु धन्यवाद का पात्र होता है।

यहाँ उपस्थित अछूत कहलाने वाले भाइयों से शराब के विषय में मैं पहले कह चुका हूँ। आज फिर कहता हूँ। भाइयो, इस बात का विचार करो कि शराब पीना स्वाभाविक है या अस्वाभाविक है? यदि शराब पीना स्वाभाविक होता तो सभी प्राणी शराबी होते। शराब न पीने वाला एक भी प्राणी न मिलता। जिसके बिना जीवन निर्वाह न हो सके वही वस्तु स्वाभाविक कहलाती है। पानी के बिना कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता, अतः पानी जीवन के लिये स्वाभाविक है। क्या शराब के विषय में यह बात कही जा सकती है? नहीं। हम देखते हैं, शराब के बिना आज करोड़ों आदमी जीवित रह रहे हैं। हम यह भी देखते हैं कि शराब पीने वालों की हालत बहुत बुरी होती है। शराब के कारण अनेक राजाओं तक का खून हुआ है। शराब ने जोधपुर, बीकानेर और कोटा

आदि के राजाओं एवं सरदारों के प्राण हरण किये हैं, ऐसा एक चारण कवि ने अपनी कविता में कहा है। इस कवि ने और भी बहुतेरे नाम गिनाये हैं जो शराब के शिकार बने हैं। इस दुष्ट दारु ने न जाने कितनों के कलेजे सड़ाये हैं! न मालूम कितने दैवी प्रकृति वालों को राक्षसी प्रकृति वाला बना डाला है! कौन जाने कितने आबाद घर बर्बाद कर दिये हैं! शराब की बदौलत असंख्य मनुष्य अपने सुखमय जीवन से हाथ धोकर दुःखों के पात्र बने हैं।

जिस घर में शराब पीने का रिवाज है उस घर की दशा देखिये तो कलेजा काँपने लगेगा। उस घर के स्त्री बच्चे टुकड़े-टुकड़े के लिये हाय-हाय करते हैं पर घर-मालिक शराब के चंगुल में ऐसा जकड़ जाता है कि उसका उस ओर लक्ष्य ही नहीं जाता। वह शराब के नशे में झूमता रहता है। उसे पता नहीं कि शराब के दुष्परिणाम स्वरूप उसके धन का, उसकी शक्ति का और उसके सम्पूर्ण जीवन का किस प्रकार नाश हो रहा है?

शराब के विषय में इतना ही कहकर मांस के विषय में कुछ कहना चाहता हूँ। शास्त्र मांसभक्षण की निन्दा करता है, यह कौन नहीं जानता? अतएव मैं शास्त्र के वाक्यों का उल्लेख न करके प्रत्यक्ष प्रमाणों से ही मांस के विषय पर आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ। मांसभक्षण करना अच्छा है या नहीं, इस बात की परीक्षा अमेरिका में दस हजार विद्यार्थियों पर की गई थी। पाँच हजार विद्यार्थी शाक, फल, फूल आदि पर रक्खे गये और पाँच हजार मांसाहार पर रक्खे गये। छह महीने तक वह प्रयोग चालू रहा। इसके बाद जो जाँच की गई तो मालूम हुआ कि जो

विद्यार्थी मांसाहार पर रक्खे गये थे उनकी बनिस्बत शाकाहारी विद्यार्थी सभी बातों में तेज रहे। शाकाहारियों में दया, क्षमा आदि मानवोचित गुण अधिक परिमाण में विकसित हुए। मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारियों में बल अधिक पाया गया और उनका मानसिक विकास भी अच्छा हुआ। इस परीक्षा के फल को देख कर वहाँ के लाखों मनुष्यों ने मांस खाना त्याग दिया।

गांधीजी एक बार विलायत के किसी नगर में, किसी के घर आमन्त्रित किये गये। वहाँ उन्होंने देखा कि हिन्दुस्तानियों की अपेक्षा यूरोपियन अधिक संख्या में निरामिष भोजी थे।

अनार्य देश में आर्य देश के नियमों पर अमल किया जाय और आर्य देश में, आर्य देश के निवासी ही अपने नियमों के प्रति उदासीन रहें, यह कितनी शोचनीय बात है!

मांसाहार की स्वाभाविकता और अस्वाभाविकता की जाँच कर लेनी चाहिये। इस बात की जाँच पशुओं से सहज ही की जा सकती है। मनुष्य तो बौद्धिक विकास की उस सीमा को भी पार कर गया है, जहाँ स्वाभाविक-अस्वाभाविक का भेद ही नहीं रहा। उसने इस विवेक को तिलांजली दे दी है। वह अस्वाभाविक को स्वाभाविक और स्वाभाविक को अस्वाभाविक मान बैठा है। बेईमानी और झूठ को सत्य का रूप देने में बुद्धिशाली वकील जितनी सफलता पा सकता है, उतनी सफलता पाना—क्या साधारण बुद्धि वाले के बूते की बात है? यह बुद्धि जब निरर्गल हो जाती है—हृदय के और निसर्ग के नियमों के बन्धन से छूट जाती है तब

वन्धनमुक्त घोड़े की तरह भागती फिरती है। उसे भले ही कोई संपत्ति माने मगर वास्तव में वह विपदा है। वेचारे पशु-पक्षी मनुष्यों की भाँति बुद्धि के धनी नहीं हैं। वे पढ़े-लिखे नहीं हैं। इस लिये उनमें प्रकृति के नियमों को तोड़ने की हिम्मत नहीं है। प्रकृति के कानूनों की परीक्षा इन पर बहुत अच्छी तरह हो सकती है।

पशुओं में दो दल हैं—एक मांसाहारी दल और दूसरा शाकाहारी दल अर्थात् घास खाने वालों का समूह। मांसाहारी दल के पशुओं के नाखून पैने होते हैं, जैसे कुत्ता, बिल्ली, सिंह, चीता आदि के। घास खाने वाले पशुओं में यह बात नहीं पाई जाती। उनके नाखून पैने नहीं होते, जैसे गाय, भैंस आदि के। घास दल के पशु मनुष्यों के मित्र होते हैं। वे घास खाते हैं और दूध देते हैं। पर कुत्ता मांस-भक्षी होने के कारण मनुष्यों की रोटी भी खाता है और काटने से भी नहीं चूकता। घास खाने वाले पशु शान्त होते हैं और मांस खाने वाले क्रूर होते हैं।

भोजन-पान का शरीर और मन पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। सात्विक भोजन करने से सतोगुणमयी प्रकृति बन जाती है, राजस भोजन करने से रजोगुणमयी और तामस भोजन से तमोगुणमयी प्रकृति बन जाती है। खाने से पुण्य-प्रकृति भी बँधती है और पाप-प्रकृति भी बँधती है। अतएव खाने के विषय में शान्त चित्त से, स्वच्छ हृदय से विचार करने की बड़ी आवश्यकता है।

मांसाहारियों की दूसरी पहचान यह है कि उनके जबड़े लम्बे होते हैं, जबकि शाकाहारियों के गोल होते हैं। गाय और कुत्ते के जबड़े ध्यान-पूर्वक देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

मांसाहारियों की तीसरी पहचान यह है कि वे जीभ से चप-चप करके पानी पीते हैं जब कि घास खाने वाले पशु होंठ टेक कर पानी पीते हैं। गाय, भैंस, बन्दर और सिंह तथा कुत्ते को पानी पीते देखने से यह भेद भी स्पष्ट मालूम हो जायगा।

मांसाहारी और अमांसाहारी जीवधारियों की जो परीक्षा बतलाई गई है, उसके अनुसार मनुष्य निर्विवाद रूप से निरामिष-भोजी ही ठहरता है। मांसभोजी प्राणियों के साथ उसकी समानता न होकर अमांसभोजी के ही लक्षण उसमें पाये जाते हैं।

कई विद्वान् डाक्टरों ने सिद्ध कर दिखाया है कि घास खाने वाले, मांस खाने वाले और अन्न खाने वाले प्राणियों की आंतें एकसी नहीं होतीं। इन सबकी आंतों में भिन्नता पाई जाती है।

बन्दर के शरीर में मांस को पचाने वाली आंतें नहीं हैं। इसलिये बन्दर कभी मांस नहीं खाता—फल पर वह टूट कर गिरता है। जरा विचार कीजिये, जो प्राणी—बन्दर—मनुष्य की शक्ल का है वह तो मांस नहीं खाता, पर मनुष्य कहलाने वाला प्राणी मांस भक्षण कर लेता है!

अब आप पक्षियों की ओर दृष्टि दौड़ाइये। क्या आपने कभी कबूतर को कीड़ा खाते देखा है?

'कभी नहीं।'

और कौवा को?

'हाँ!'

तो कबूतर और कौवा को यह पाठ किसने पढ़ाया है? प्रकृति ने ही।

आपने तोते को मांस खाते कभी नहीं देखा होगा। वह आपकी भाषा सिखाने से बोल सकता है। जो मनुष्यों की भाषा सीखे वह तो मांस न खाये, पर जिसकी अपनी भाषा है, वह मनुष्य मांस खा ले यह कैसे आश्चर्य की बात है।

अरे मनुष्य ! तू तकदीर लेकर आया है, जरा तकदीर पर भरोसा रख और प्रकृति का कानून मत तोड़। क्या मांस न खाने वाले भूखों मरते हैं ? हम देखते हैं, जितने मांसाहारी भूखों मरते हैं उतने शाकाहारी नहीं। व्यवहार दृष्टि से शाकाहारी सब प्रकार से सुखी और मांसाहारी दुःखी दिखाई देते हैं।

आत्मिक उत्कर्ष में भोजन किस प्रकार सहायक बनता है, यह बात गौतम स्वामी के 'किं वा भुच्चा'—क्या खाकर-भोग कर सुबाहुकुमार ने यह ऋद्धि प्राप्त की है ? इस प्रश्न से स्पष्ट हो जाती है। श्री गौतम स्वामी, भगवान् से प्रश्न करते हैं—भगवान्, सुबाहु-कुमार का तीये का छक्का कैसे हो गया ?

जीव-मात्र किसी से कुछ लेता है और किसी को कुछ देता है। इसी क्रिया से संसार-व्यवहार चल रहा है। इस क्रिया को करने से तिया का छक्का और छक्के का तिया बन जाता है। दान देना अच्छा है परन्तु कुपात्र दान का फल उलटा होता है। मृगा लोढ़ा के अध्ययन में बतलाया गया है कि कुपात्र दान के फल से वह मृगा लोढ़ा हुआ था।

वेश्या और चोर आदि को कुकर्म करने के लिए दिया जाने वाला दान कुपात्र दान है। किसी की सहायता के लिए,

करुणा-बुद्धि से जो दान दिया जाता है वह कुपात्र दान नहीं-अनुकम्पा दान है।

बहुतेरे भाई विवाह और मृत्यु-भोज आदि के अवसर पर मुक्त हस्त से खर्च करते हैं पर किसी भले सार्वजनिक कार्य में खर्च करते समय उनका हाथ थर-थर काँपता है। ऐसे बल को शास्त्र कुबल कहता है।

आत्मा में शुभ बल और अशुभ बल दोनों विद्यमान हैं। शुभ बल से आत्मा की उन्नति होती है और अशुभ बल से आत्मा का पतन होता है। अशुभ बल उलटा काम करता है और शुभ बल सुलटा। तीन और छः के अंक में जितना अन्तर है, उतना ही शुभ और अशुभ बल में है। तिये को छक्के में अर्थात् दुःख को सुख रूप में और छक्के को तिये में अर्थात् सुख को दुःख रूप में परिणत करना आत्मा के पुरुषार्थ पर निर्भर है।

गौतम स्वामी ने इसलिए यह प्रश्न किया है कि सुबाहु-कुमार ने किस प्रकार के पुरुषार्थ द्वारा अपने दुःखों को सुख में परिणत कर लिया है? जो लोग अपने कल्याण की कामना रखते हैं उन्हें गौतम स्वामी के 'किं वा दच्चा' और 'किं वा भुच्चा' आदि का अर्थ समझ लेना चाहिए।

आजकल के अधिकांश लोग 'किं वा भुच्चा' की ओर जरा भी ध्यान नहीं देते। भोजन के विषय में मनुष्य ने पशुओं को मात कर दिया है। जो कुछ उसके सामने आता है, जिससे उसकी लोलुप जीभ सन्तोष अनुभव करती है, वही वस्तु वह खा जाता है।

मगर प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य का जीवन खाने के लिए है? जिह्वा की तृप्ति ही क्या इस मानव जीवन का उद्देश्य है? अगर ऐसा हो तो मानव-जीवन की उत्तमता का राग आलापना बकवाद ही हो सकता है।

मैंने सुना है, किसी जमाने के रोम देश के बादशाह को खाने का बहुत शौक था। वह दिन में कई बार नये-नये भोजन तैयार कराया करता और उन्हें खाता रहता था। खाते-खाते पेट में जब जगह न रहती और दूसरा नवीन भोजन तैयार हो जाता तो वह औषध का उपयोग करके पहले के भोजन का वमन कर डालता। इस उपाय से उसका पेट कुछ खाली हो जाता था और फिर तत्काल ही वह खाली स्थान को भरने बैठ जाता था। परिणाम यह हुआ कि उसे भयंकर रोग हो गया और थोड़ी ही उम्र में अपनी जीवन-लीला समाप्त कर वह संसार से चल बसा। ऐसे लोगों के लिए भोजन विष बन जाता है।

सच्चा श्रावक मर्यादाहीन भोजन से दूर रहता है। वह जीवनोपयोगी छब्बीस बातों की मर्यादा बाँध लेता है और उसी में भोजन सम्बन्धी मर्यादा भी अन्तर्गत हो जाती है।

गौतम स्वामी ने 'किं वा दच्चा, 'किं वा मुच्चा' आदि प्रश्न करके तुम्हारे लिए समुद्र का मंथन करके अमृत निकालने का काम किया है। माता दही मथ कर मक्खन निकालती है और अपने बच्चे के हाथ में दे देती है। उसे गले के नीचे उतारना बालक का काम है। तुम्हारे सामने अमृत पड़ा है। इच्छा हो तो इसका उपयोग करके अमरत्व प्राप्त कर सकते हो।

(१०)

किं वा किच्चा ?

—*—

गौतम स्वामी का तीसरा प्रश्न है—'किं वा किच्चा?'—अर्थात् सुबाहुकुमार ने क्या कृत्य किया था? यह प्रश्न कितना ज्ञानप्रद है! इस प्रश्न को भलीभाँति समझने से कृत्याकृत्य का विवेक उत्पन्न हो जाता है। प्रत्येक कार्य से पुण्य और पाप प्रकृति का बन्ध होता है, पर पुण्य और पाप के बन्ध का मुख्य आधार मानसिक विचार है। मानसिक विचार के प्रभाव से आस्रव संवर हो जाता है और संवर भी आस्रव हो जाता है।

सच बात यह है कि किसी बाह्य क्रिया से वस्तु-तत्त्व का यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता। खास कर आत्मिक-शुद्धि और अशुद्धि का प्रधान आधार मानसिक भावना पर निर्भर है। कृत्याकृत्य के विषय में आज जनता में बहुतसी भ्रान्त धारणा प्रचलित हो रही हैं। उन्हें दूर कर सत्य का प्रचार करना बुद्धिमान् पुरुष का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है।

संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं, जिसे करने में पाप और पुण्य न हो। फिर भी ज्ञान-पूर्वक विवेक के साथ उसी काम को करने से पाप का बन्ध कम होता है और उसी को अज्ञान-पूर्वक करने में अधिक एवं भयंकर पाप का बन्ध हो सकता है।

कई भाई सोचते होंगे—रोटी बनाने वाली बाई पाप से नहीं बच सकती। मैं कहता हूँ—वह बहुत अंशों में पाप से बच भी

कती है, पुण्य प्रकृति का बन्ध भी कर सकती है। जो बाई रसोई
नाना अपने ऊपर आया हुआ कर्त्तव्य समझती है, वह यह भी
मझती है कि मेरी बनाई हुई रोटी से बहुतों को शान्ति मिलेगी।
स प्रकार दूसरों को शान्ति-साता पहुँचाने की प्रशस्त भावना
साथ, अपने को मजदूरिन न समझ कर, यतनापूर्वक लकड़ी,
डा, चूल्हा आदि उपकरणों को साफ करती हुई, जीवों को बचाती
ई, जो महिला भोजन बनाती है वह पाप प्रकृति में भी पुण्य
कृति बाँधती है इससे विपरीत अपने को मजदूरिन समझने वाली
ौर लापरवाही से भोजन बनाने वाली और खाने वालों को राक्षस
समान समझने वाली बाई पाप प्रकृति में और अधिक पाप प्रकृति
ा बंध करती है।

बहुतसी बहिनें रसोई न बनाने से अपने आपको पाप से
ची हुई समझती हैं, पर मैं कहता हूँ—यह उनका एकान्त यथार्थ
याल नहीं है।

आजकल की अधिकांश बहिनें आलस्यमय हो गई हैं।
नसे श्रम नहीं होता। उनके लिए रसोइया चाहिये, पानी लाने वाला
ाहिये, आटा सीधा मोल आना चाहिए। यह तो केवल आभूषण
हन कर अंग को मोड़ती-मरोड़ती हुई चलने में ही अपनी शान
मझती हैं! रसोई आदि कार्य हाथ से करने में यह पाप समझती
। यह कैसी विपरीत बुद्धि है! इन बहिनों को यह नहीं मालूम कि
सोई करने में, आटा पीसने में अथवा पानी लाने में जितनी
तना हम कर सकेंगी, उतनी मजदूर या मजदूरिन नहीं कर सकती।

आज कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विषय में बड़ी उलटी समझ हो
ही है। लोगों ने न जाने किस प्रकार अपनी धारणाएँ बना ली

हैं। बाजार से घी लाने में पुण्य है और घर पर गाय का पालन करके घी उत्पन्न करने में पाप है, ऐसा कई लोग समझते हैं। मगर विचार करना चाहिए—'क्या बाजार का घी आकाश से टपक पड़ा है ? नहीं। बाजार का घी खरीदने में कितने जानवरों की हिंसा का भागी होना पड़ता है, इस बात पर आपने कभी विचार किया है ?

यह सभी जानते हैं कि एक रुपये का जितना विदेशी घी आता है उतने देशी घी के लिए दो रुपये लगते हैं। पर परदेशी घी में किन-किन वस्तुओं की मिलावट होती है, वह स्वास्थ्य को किस प्रकार बिगाड़ता है, इस बात का भली-भाँति विचार किया जाय तो नफे-टोटे की बात मालूम हो जायगी।

जिस देश वाले भारतवर्ष से हजारों मन मक्खन ले जाते हैं, लाखों मन गेहूँ ले जाते हैं, वही लोग जब आधी कीमत पर वह वस्तुएँ हमें लाकर देते हैं तो समझना चाहिए कि उसमें कुछ न कुछ रहस्य अवश्य है। क्या वे दीवालिया बनने के लिए व्यापार करते हैं ?

घर पर उत्पन्न हुए घी से बाजार के घी में अधिक पाप क्यों है, इस प्रश्न पर ऊपरी दृष्टि से विचार मत कीजिए। आप उस शास्त्र पर नजर रखते हुए विचार कीजिए जो धनुष-बाण बनाने में घोर आरम्भ-समारम्भ का होना बतलाता है। परदेशी घी तैयार करने के लिए कितने बड़े-बड़े कारखाने खड़े किये जाते हैं और उसके लिए कितने पशुओं का वध किया जाता है, इस बात का जब आपको पूरा पता लग जायगा तब सहज ही आप जान सकेंगे कि थोड़ा पाप किसमें है और अधिक पाप किसमें है ?

बहुत से भाई कहते हैं कि मैं गायें पालने का उपदेश देता हूँ। वे कहते हैं—महाराज गायें पलवाते हैं, पर मैं क्या उपदेश देता हूँ, क्या कहता हूँ, किन शब्दों में कहता हूँ और किस आधार से कहता हूँ, इस बात को समझने का वे कष्ट नहीं करते। उन्हें कौन समझाए कि साधु का कर्त्तव्य जुदा है और गृहस्थ का कर्त्तव्य जुदा है। दोनों की परिस्थिति में इतना अधिक भेद है कि उनका कर्त्तव्य एक नहीं हो सकता और साधु कभी सावद्य भाषा का प्रयोग नहीं करते।

जिसने गृहस्थ के बारह व्रतों का रहस्य जान लिया उसने कृत्याकृत्य का भेद पहचान लिया है। जो कृत्य विवेक-पूर्वक—बुद्धि-पूर्वक, वस्तु-स्थिति को समझकर किया जाता है उसके करने में निराला ही आनन्द होता है। गेहूँ के दाने में सर्व-साधारण लोग झाड़ के रूप को नहीं देख पाते पर वैज्ञानिकों ने उसे देख पाया है। जो शक्ति आपके इस देह में है वही शक्ति आपके भीतर के कार्मण शरीर में है। उसे केवलज्ञानी प्रत्यक्ष से जानते हैं। भगवती सूत्र में प्रश्न किया गया है—'जीवधारियों के कर्म का आकार बेर के बराबर होगा?' भगवान् ने समाधान करते हुये कहा है कि—'सम्पूर्ण संसार के कर्म एकत्र किये जाएँ तो मूँग के बराबर भी नहीं होंगे।' यह कैसी बात है! जिस कर्म के कारण संसार में उथल-पुथल मच रही है उसका रूप इतना छोटा! कैसे विस्मय की बात है! भाइयो, शुभ कर्म करते रहो। शुभ कर्मों के अभाव में एक भी श्वास व्यर्थ न चला जाय, इस बात का पूरा ध्यान रक्खो।

दम पर दम हर भज नहीं भरोसा दम का।
एक दम में निकल जाएगा दम आदम का॥

है जब तक दम में दम सुमर हर हर तू,
दम आवे न आवे इसकी आश मत कर तू।
एक नाम प्रभु का जप हृदय में धर तू,
नर इसी नाम से तर जा भव-सागर तू॥
छल कर ना थोड़े जीने के खातिर तू,
वह है साहब जलाल जरा तो डर तू।
वहां अदल खड़ा इंसाफ होगा दम दम का,
एक दम में निकल जावेगा दम आदम का॥

जितने श्वास लिये जाते हैं वे सब संस्कार-रूप में परिवर्त्तित हो रहे हैं। जैसे जैसे श्वास लोगे वैसे वैसे कार्माण शरीर के चित्र बनकर सामने आते जाएँगे। दुनिया के काम हमेशा करते हो तो तुम्हें ईश्वर के नाम लेने का भी काम करना चाहिये। ईश्वर का नाम लेने से तमाम कुवासनाएँ मिट जाती हैं। राजा जिसका हित-चिन्तक बन जाता है उसे चोर डाकुओं का भय नहीं रहता। इसी प्रकार जो राजाओं के राजा—परमेश्वर के साथ नाता जोड़ लेता है उसे क्रोध, मान, मद, लोभ आदि लुटेरे नहीं सता सकते।

ऊपर कृत्याकृत्य का कुछ विवेचन किया गया है। वास्तव में कृत्य और अकृत्य के विवेचन में समस्त शास्त्र समाप्त हो जाते हैं। इसीलिये कहा जाता है कि मनुष्य को अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिये सदैव उद्यत रहना चाहिये। नीति में भी कहा है:—

कर्त्तव्यमेव कर्त्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि।
अकर्त्तव्यं न कर्त्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि॥

अर्थात् जब प्राण कण्ठ में आ जावें तब भी अपने कर्त्तव्य का अनुष्ठान करना चाहिए। उस समय भी कर्त्तव्य को त्यागना उचित नहीं है। इससे विपरीत प्राण कण्ठ में आ जावें तब भी अकर्त्तव्य कर्म का आचरण नहीं करना चाहिए। कर्त्तव्यनिष्ठा में जीवनोत्सर्ग कर देना अच्छा है और अकर्त्तव्य न करने से अगर जीवनोत्सर्ग करना पड़ता हो तो भी अकर्त्तव्य न करना चाहिए।

इस विवेचन से आप 'किं वा किच्चा ?' का आशय समझ गये होंगे।

आज कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का अर्थ भलीभाँति न समझने के कारण ही बहुत से भाई अपने कर्त्तव्य का पालन करने में ढीले दिखाई देते हैं। कभी-कभी उपदेशक भी कर्त्तव्य को उलट-पलट कर समझा देते हैं। इस कारण भी लोग कभी कर्त्तव्यपालन के लिए कमर कसते हैं तो कभी एकदम सुस्त हो जाते हैं। इस दोष का दायित्व पालन करने वाले पर नहीं वरन् समझाने वाले पर है। जो उपदेशक गृहस्थ से साधु के कर्त्तव्य का पालन करने के लिए कहता है वह उसे अपने मार्ग से च्युत करता है। इस गड़बड़ी का परिणाम अच्छा नहीं आता। आज गृहस्थ के सिर पर सूक्ष्म जीवों की—स्थावर प्राणियों की रक्षा करने का भार इतना अधिक डाल दिया जाता है कि वे उसके पीछे लग कर ज्ञानहीन होने के कारण स्थूल-हिंसा से भी नहीं बच पाते। गृहस्थ के सामने अपने कर्त्तव्य की ठीक कसौटी नहीं रहती। शास्त्रों से यह मालूम होता है कि

गृहस्थ के लिए स्थूल हिंसा से बचने का विशेष आग्रह किया गया है। अगर स्थूल-हिंसा के सिवाय सूक्ष्म हिंसा से बचना गृहस्थ के लिए प्रधान कर्त्तव्य होता तो शास्त्र में 'थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं' के बदले 'सुहुमाओ पाणाइवायाओ वेरमणं' ऐसा पाठ भी मिलता। मगर ऐसा पाठ नहीं है।

पानी में असंख्यात जीव माने गये हैं, और वह भी एक बूंद में। ऐसी स्थिति में अगर कोई प्यासा मनुष्य आवे तो उसे पानी पिलाना चाहिए या नहीं? अगर पिलाना चाहिए तो क्यों? कुछ लोग कहते हैं—पानी पिलाने से एक जीव की रक्षा हुई मगर असंख्यात पानी के जीव मारे गये। एक मनुष्य की रक्षा करने में जो असंख्य जीवों का घात होता है उस पाप का भागी कौन होगा? मगर शास्त्र में, तीर्थंकरों ने हिंसा का जहाँ वर्णन किया है उसे देखने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि पंचेन्द्रिय जीव के सामने सूक्ष्म जीवों को उतना महत्व नहीं दिया गया है। पंचेन्द्रिय जीव को हिंसा करने वाला नरक गति का अतिथि बनता है, ऐसा शास्त्र में उल्लेख मिलता है। मगर एकेन्द्रिय जीव की हिंसा करने वाला नरकगति में जाता है, ऐसा उल्लेख किसी भी शास्त्र में दृष्टिगोचर नहीं होता। शास्त्र में जहाँ नरकगति के बंध के चार कारणों का उल्लेख किया गया है वहाँ भी 'पंचिंदियवहेणं' अर्थात् पंचेन्द्रिय जीव के बध से (नरकगति का बंध होता है) ऐसा पाठ है; 'एगिंदियवहेणं' अर्थात् एकेन्द्रिय जीव के बध से (नरकगति का बंध होता है) ऐसा पाठ नहीं है।

भगवान् नेमिनाथ के विवाह-सम्बन्धी प्रकरण से इस प्रश्न पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। संक्षेप में उसे विचार लेना उचित होगा।

नेमिनाथ भगवान् बाईसवें तीर्थङ्कर थे। उनसे पहले के इक्कीस तीर्थङ्करों ने यह बात प्रसिद्ध की थी कि नेमिनाथ बाल-ब्रह्मचारी रहकर दीक्षा धारण करेंगे। शास्त्र में यह बात प्रसिद्ध थी और साथ ही विशिष्ट ज्ञानी नेमिनाथ स्वयं यह जानते थे कि मैं बाल ब्रह्मचारी रहूँगा। यह सब जानते-बूझते भी उन्होंने विवाह का नया आडम्बर क्यों खड़ा किया? इस प्रश्न का समाधान यह है कि उस समय यादवों में घोर हिंसा प्रचलित हो गई थी। उस हिंसा का निवारण करने के लिए विवाह प्रसंग को उपलक्ष्य करके, बाड़े में बन्द किए हुए पशुओं को करुणा पूर्वक छुड़ा कर और विवाह का त्याग करके भगवान् नेमिनाथ ने अहिंसा और महान् त्याग का आदर्श जगत् के समक्ष प्रत्यक्ष उपस्थित कर दिखाया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस महान् त्याग का तत्कालीन यादवों पर ही नहीं वरन् अन्य लोगों पर भी इतना अधिक प्रभाव पड़ा जो सैकड़ों उपदेशों का नहीं पड़ सकता था।

स्थावर जीवों की हिंसा पंचेन्द्रिय जीवों के ही सदृश होती तो भगवान् उसी समय विवाह का त्याग कर देते जब विवाह के अवसर पर उनके स्नान के लिए जल का कुण्ड भरा गया था। वे कह सकते थे—मेरे स्नान के लिए असंख्य जीवों का घात हो रहा है, अतएव मैं विवाह का परित्याग कर दीक्षा ग्रहण करता हूँ। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। बिना कुछ कहे उन्होंने स्नान किया और ठाठ के साथ हाथी पर विराजमान हो गये। बरात के आगे-आगे दूल्हा बन कर वे महाराज उग्रसेन के महल की ओर अग्रसर हुए। वहाँ एक बाड़े में पंचेन्द्रिय पशुओं को बन्द देखकर जगत् को अहिंसा का माहात्म्य समझाने के लिये सारथी से पूछा—

कस्स अट्ठा इमे पाणा, एए सव्वे सुहेसिणो।
वाडेहिं पञ्जरेहिं च, सन्निरुद्धा य अच्छहिं ॥

अर्थात्– हे सारथी, यह सब सुख के अर्थी प्राणी वाड़े और पींजरे में किस प्रयोजन से रोककर रक्खे गये हैं ?

सारथी ने कहा—

अह सारहिओ भणइ, एए भद्दा उ पाणिणो
तुज्झं विवाहकज्जम्मि, भोयावेउं बहुं जणं ॥

अर्थात्—यह सब भद्र, सुख के अर्थी प्राणी तुम्हारे विवाह-प्रसंग पर बहुत जनों का भोजन बनने के लिये अवरुद्ध किये गये हैं।

सारथी का उत्तर सुन कर भगवान् नेमिनाथ ने सोचा—

जइ मज्झ कारणा एए, हम्मन्ति सुबहु जिया
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई ॥

अगर मेरे विवाह के निमित्त यह बहुत से प्राणी मारे जाते हैं तो यह हिंसा परलोक में मुझे शान्ति देने वाली न होगी।

भगवान् का संकेत पाकर सारथी ने बाड़े का द्वार उन्मुक्त कर दिया और जीव स्वतन्त्र हो गये। तब उन्होंने सारथी को यह इनाम दिया—

सो कुंडलाण जुयलं, सुत्तगं च महायसो।
आभरणाणि य सव्वाणि, सारहिस्स पणामए ॥

अर्थात् भगवान् नेमिनाथ ने कुंडल आदि समस्त आभूषण उतार कर सारथी को पारितोषिक रूप में दे दिये।

उपर्युक्त कथन को सामने रखकर विचार करना चाहिए कि यहाँ जो 'पाणिविणासणं' अर्थात् जीवहिंसा की बात कही गई

है सो वह बहुतेरे प्राणी जल के कुंड में थे या बाड़े में ? अगर दोनों स्थानों के प्राणियों की संख्या पर विचार किया जाय तो स्पष्ट है कि बाड़े की अपेक्षा जल-कुंड में बहुसंख्यक प्राणी थे। बाड़े में गिनती के ही प्राणी थे, जब कि जल के कुंड में एक-एक बूंद में असंख्य-असंख्य प्राणी थे। इस बात को बुद्धि-पूर्वक समझना चाहिए। अगर एकेन्द्रिय जीवों का महत्त्व पंचेन्द्रिय जीवों के समान ही होता तो भगवान् नेमिनाथ स्नान करते समय ही यह बात कहते कि बहुत प्राणियों की हिंसा मुझे शान्तिदायक न होगी। मगर वहाँ उन्होंने ऐसा कुछ भी न कहा। जब वे बाड़े के समीप आये और पंचेन्द्रिय जीवों को बन्द देखा तो कहने लगे—'इन प्राणियों की हिंसा मुझे शान्तिदायक न होगी।' अब यह बात स्पष्ट है कि पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा महारक्षा है। भगवान् नेमिनाथ ने पंचेन्द्रिय जीवों को छुड़ा कर इस सत्य को उदाहरण-पूर्वक स्पष्ट कर दिया है।

यह तर्क किया जा सकता है कि एक पंचेन्द्रिय जीव की रक्षा करने में अनेक एकेन्द्रिय जीवों का घात होता हो तो एकेन्द्रियों की संख्या अधिक होने के कारण, पंचेन्द्रिय जीव की रक्षा के पुण्य से एकेन्द्रियों के घात का पाप अधिक हो जायगा। मगर यह तर्क मिथ्या है। अगर ऐसा होता तो जीवदया का माहात्म्य प्रकट करने के लिए स्नानादिक का आरम्भ और बरात सम्बन्धी आडम्बर भगवान् नेमिनाथ ने स्वीकार न किया होता।

तात्पर्य यह है कि आज उपदेशकों की असावधानी से साधु और गृहस्थ के कर्त्तव्यों में जो विचित्र-सा सम्मिश्रण होरहा है, उसके कारण गृहस्थ अपने धर्म का भी शुद्ध रूप से पालन नहीं करते।

अतएव यह आवश्यक है कि गृहस्थों को उनका वास्तविक कर्त्तव्य समझाया जाय। ऐसा न होने से कभी-कभी बड़े अनर्थ हो जाते हैं।

एक भाई ने मुझे बतलाया था कि किसी प्रसूता बहिन को प्यास लगी। उसने एक श्राविका बहिन से पानी मांगा। मगर उस श्राविका ने पानी इसलिए नहीं दिया कि पानी पिलाने से तेले का दण्ड आता है! समझ में नहीं आता, इस बहिन ने किस शास्त्र में से इस दण्ड का आविष्कार कर लिया!

दूर देश अमेरिका से आकर लोग हमारे भाइयों की सेवा करते हैं पर हम अपने उन भाइयों और बहिनों का तिरस्कार करते हैं। यह कैसा औचित्य है? यह न्याय किसने सिखलाया है? मनुष्य पशु पर दया करे, पक्षी की रक्षा के लिए लालायित रहे, छोटे-छोटे जीवों की रक्षा के लिए प्रयत्न करे, मगर मनुष्य के प्राणों की रक्षा के लिये विचार भी न करे और उसे मर जाने दे, यह कितनी बड़ी नासमझी है! धर्म के नाम पर यह घोर अधर्म है।

साधु के प्रकरण में साधु के लिये जिन कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है, उनका साधु पालन न करे तो उसे यथायोग्य प्रायश्चित्त का पात्र बनना पड़ता है। उदाहरणार्थ, कल्पना कीजिये—दो साधु हैं। उनमें से एक ने अपना काम-काज करके, पात्र साफ करके कहीं रख दिये। इतने में ही एकाएक वर्षा आने लगी। पात्र या साधु की अन्य उपधि भींगने लगी। अब एक साधु सोचता है—'अगर पात्र लाने जाऊँगा तो हिंसा होगी—जल के जीवों की विराधना होगी। पात्र नहीं उठाऊँगा तो उस विराधना से बच

जाऊँगा।' दूसरा साधु पात्र उठा लाया। अब विचार कीजिये आराधक कौन है? निशीथ सूत्र के अनुसार नहीं उठाने वाले मुनि को प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है।

एक साध्वी पानी में बह गई। उसे निकालने में जो घृणा प्रकट करता है—उसे बचाना बुरा मानता है, वह साधु विराधक होगा। इसके विपरीत साध्वी को बचाने वाला साधु आराधक होगा।

साधु षट्काय की हिंसा का त्यागी होता है, गृहस्थ इतना त्याग नहीं कर सकता। फिर भी जो गृहस्थ सूक्ष्म जीवों की ओट में अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीनता दिखलाता है वह उचित नहीं है।

हिंसा के सम्बन्ध में अनेक विधि-विकल्प हैं। स्थावर हिंसा की अपेक्षा त्रस-हिंसा स्थूल है। उसमें अज्ञात रूप से—अनजान में हुई हिंसा सूक्ष्म है और जान-बूझकर की जाने वाली हिंसा स्थूल है। उसमें भी अनेक विकल्प हैं। डाक्टर ऑपरेशन करता है। रोगी उसका अपराधी नहीं है। रोगी की प्राण-रक्षा के लिये डाक्टर चीर-फाड़ करता है। अनेकों बार ऑपरेशन करते समय रोगी मर जाता है। यह सापेक्ष हिंसा है। इससे डाक्टर का अहिंसाणुव्रत भंग नहीं होता।

शास्त्र में प्रतिपादित कर्त्तव्य क्या है और आधुनिक श्राविकायें उसे किस रूप में समझती हैं, इस बात का विचार करने से आश्चर्य होने लगता है। एक श्राविका चक्की न फेरने की प्रतिज्ञा लेती है। वह समझती है—'चक्की न चलाऊँगी तो पाप से बच जाऊँगी।' मगर उसे यह विचार नहीं आता कि आटा तो खाना

ही पड़ेगा, फिर वह पाप से कैसे बच जायगी। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि मशीन से आटा पिसवाने की अपेक्षा हाथ से पीसकर खाने में कम पाप होता है। इसका कारण है। हाथ से आटा पीसने में यतना रक्खी जा सकती है। पीसते समय गेहूँ आदि में कोई जीव-जन्तु गिर जाय तो उसे बचाया जा सकता है। चक्की के पाटों के बीच छिपे हुये जीवों की रक्षा की जा सकती है। हाथ से इतना अधिक आटा नहीं पीसा जाता कि उसका बहुत अधिक संग्रह हो जाय। इसलिए हाथ का आटा प्रायः ताजा रहता है और उसमें जीव-जन्तु उतने नहीं पड़ सकते जितने एक साथ बहुत से पिसाये हुए मशीन के आटे में पड़ जाते हैं। मजूरी देकर मशीन में आटा पिसाने से हर तरह अधिक पाप होता। गेहूँ आदि में रहे हुए त्रस जीवों को रक्षा नहीं हो सकती, चक्की में छिपे हुये जीवों की भली-भांति रक्षा नहीं होती और आटा बहुत दिनों का हो जाने के कारण उसमें अनेक जीव पड़ जाते हैं। ऐसा आटा खाने वाले अपना स्वास्थ्य खराब कर बैठते हैं और कभी-कभी तो उन्हें प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता है। यह सब पाप किसके सिर है? इस पाप का उत्तरदायित्व अविवेक के कारण चक्की न चलाने की प्रतिज्ञा करने वाली बाई पर पड़ता है। परन्तु इतना विचार कौन करे? इतनी परवाह किसे है? अगर परिश्रम का त्याग करने से धर्म की आराधना होती है तो इतना सस्ता धर्म कौन न करना चाहेगा? मगर ऐसा निठल्लापन धर्म नहीं हो सकता। धर्म कर्त्तव्यपालन में है।

बाइयाँ आज सुकुमार बनती जाती हैं। मजदूरिनों से काम कराने में वे अपनी शान समझती हैं। मजदूरिन समय पर न आई तो क्रोध से लाल हो जाती हैं, बेभान हो जाती हैं। अनेक कटुक

वचन बोलती हैं। मजदूरिन के हृदय को पीड़ा पहुँचाती हैं। स्वयं निकम्मी बैठी निन्दा-विकथा में अपना समय बर्बाद करती हैं।

जरा सावधानी से विचार कीजिए, चक्की चलाने से पाप घटता है या बढ़ता है ? पानी लाना, चक्की चलाना, रसोई बनाना, आदि कामों में बहिनें स्वयं जितनी अधिक यतना रख सकती हैं, उतनी यतना अबोध मजदूरिनी नहीं रख सकती, क्योंकि चटपट काम करके पैसा लेना उनका उद्देश्य होता है। बहिनो ! याद रखिए, जल्दी अपना सुधार न कर लोगी तो एक दिन ऐसा आ सकता है जब मजदूर लोगों के सामने तुम्हें नीचा देखना पड़ेगा।

प्राचीन काल की स्त्रियाँ कितनी धीर, वीर और बुद्धि-शालिनी होती थीं, इस बात का पता महाभारत में वर्णित द्रौपदी देवी के चरित्र से साफ मिल जाता है। पांडव लोग ग्यारह वर्ष का वनवास पूर्ण करके, बारहवें वर्ष को विराट नगर में अज्ञात रूप से बिताने के लिये निकले, उस समय वे ऐसे प्रकाशित हुए मानो भस्म में से अग्नि चमक उठी हो। विराट नगर से वे द्वारिका आये।

सत्यभामा और द्रौपदी एक ही रथ में बैठी थीं। सत्यभामा, द्रौपदी का रूप लावण्य देखकर दंग रह गई। उसने मन ही मन सोचा—'नारी के रूप में यह शक्ति कहाँ से आई है ? इसका शान्ति देने वाला अवतार कितना मनोमोहक है?' फिर प्रकट रूप से कहा, 'हे द्रौपदी, ओ पांचाली, तुम्हारे भीतर यह अलौकिक शक्ति है कि तुम पाँच पतियों की पत्नी होकर भी उन सब पर काबू किये हुए हो। जान पड़ता है, तुमने किसी वशीकरण मंत्र की साधना की है !

सत्यभामा फिर कहने लगी—'पांचाली, क्या वह मंत्र मुझे नहीं बता सकती जिससे तुमने पांचों पांडवों को एक सूत्र में बाँध रक्खा है? मैं अपने पति श्रीकृष्ण को वश में रखना चाहती हूँ। अगर वह मंत्र मुझे बतला दोगी तो मैं तुम्हारा बड़ा अहसान मानूँगी

द्रौपदी ने उत्तर दिया—'बहिन सत्यभामा, वह मंत्र मैंने किसी और से नहीं सीखा। वह मैंने अपनी माता की गोद में ही सीखा है।'

सत्यभामा—'तब जान पड़ता है वह तुम्हारी वंशपरम्परा का मंत्र है।'

द्रौपदी—'हां, बहिन, तुम्हारा विचार ठीक है।'

सत्यभामा—'तो फिर मुझे बताने में कोई हर्ज तो नहीं है?'

द्रौपदी—'नहीं, हर्ज क्या है? उसे तो तुम जानती भी हो। फिर भी मैं कहे देती हूँ। मेरी माता ने कहा था—बेटी, तुम राजा की बेटी हो तो क्या, ऊँचे कुल में जन्मी हो तो क्या हुआ? जब तक तुम सासरे वालों को अपने वश में न करो, अपने अनुकूल एवं मधुर व्यवहार से उनका मन न जीत लो, तब तक सब व्यर्थ है। दूसरे को वश में करने की सब से अच्छी तरकीब यह है कि जिसको वश में करना हो, उसके वश में स्वयं हो जाना। बस, यही वशीकरण मंत्र है। यह मन्त्र अमोघ है। औरों की बात जाने दीजिये, ईश्वर भी इस मन्त्र से वश में हो जाता है।

बहिन, तुम कहोगी—इसमें क्या रक्खा है? बात ठीक भी हो सकती है। अक्षरों में शक्ति नहीं है। शक्ति उसकी साधना में है।

इस मन्त्र की साधना क्या है ? यही कि अगर पत्नी अपने पति को वश में करना चाहती है तो पत्नी स्वयं पति के वश में हो जाय। जो पत्नी इस महामन्त्र का प्रयोग न करके दूसरे मंत्रों, तंत्रों और गंडा-तावीजों का प्रयोग न करती है वह पत्नी नहीं, ठगोरी है। वह छलिनी है। पति को वश में करने के लिये यह आवश्यक है कि लाखों दास-दासियों के होते भी पति की सेवा पत्नी स्वयं अपने हाथ से करे। सेवा किस प्रकार की जाती है? यह बात भी मेरी माँ ने मुझे बताई थी।

माँ ने कहा था—प्रातःकाल पति के उठने से पहले ही उठ जाना और ईश्वर का स्मरण करना। ईश्वर से प्रार्थना करना कि हे प्रभो! मुझे ऐसा बुद्धि-बल दे कि मैं अपने पति के अतिरिक्त जगत् के अन्य पुरुषों को पुरुष ही न समझूँ।' परमात्मा से धन, वस्त्र और सन्तान की भीख मांगना तुच्छ भावना है।

जो स्त्री पति के पहले विस्तर नहीं त्याग देती और लम्बे पैर पसार कर सूर्योदय तक सोती रहती है वह दरिद्रणी हो जायगी; वह संखिनी बन जायगी, ऐसा समझना चाहिये। बेटी, मन में सदा यही प्रार्थना करना कि—हे प्रभो! मुझ से सब प्राणियों को सुख ही सुख मिले, सब मुझ से शान्ति पावें। मैं किसी के कष्ट का कारण न बनूँ तथा पति के सोकर उठने के पहले उनकी आवश्यकता के अनुसार सब सामग्री तैयार रखना। इतना सब करके भी मन में अहंकार मत लाना कि मैंने ऐसा और इतना किया है।

बहिन सत्यभामा, मेरी माँ ने मुझसे कहा था—'तू दास-दासियों के भरोसे मत रहना। उनसे दुगुना-चौगुना काम स्वयं

करना। भोजन की सब तैयारी अपने हाथों से करना। घर में कौन किस प्रकृति का है, किसे कैसे भोजन की आवश्यकता है, इस बात का ध्यान रखना। पति से पहले उनके पूजनीय पुरुषों को—अपने गुरुजनों को—सास-ससुर आदि को—भोजन कराना। फिर पति को भोजन कराना। उसके बाद दास-दासियों को भोजन करा कर, सब के अन्त में आप भोजन करना।

यह है—'किं वा किच्चा ?' का अर्थ। द्रौपदी की माता ने द्रौपदी को उसके कृत्य की शिक्षा दी है। आज की अनेक बहिनें अपने कर्त्तव्य को भूल कर, पति-सेवा को तुच्छ समझ कर, धर्म के नाम पर ढोंग करती हैं।

अगर आपका कोई मुनीम काम के समय सामायिक करने बैठ जाया करे तो आप उसे क्या कहेंगे ?

'विश्वासघाती।'

क्यों ? क्या सामायिक करना बुरा है ? सामायिक करना धर्म है, फिर भी आप उसे बुरा कहेंगे; क्योंकि उसने अपने स्वामी के साथ विश्वासघात किया—काम करने से मुँह छिपाया।

वह वीर क्षत्रिय था, बनिया नहीं था। वह बेले की जगह तेला करके संग्राम के लिए रथ पर सवार होकर चल दिया। वह वर्णनाग नतुवा आदर्श-श्रावक था। इसे कहते हैं—कर्त्तव्यपालन।

हाँ, तो द्रौपदी की बात पर ध्यान दीजिये। द्रौपदी की माता ने द्रौपदी को सब को खिला कर स्वयं खाने की शिक्षा दी है।

द्रौपदी उस शिक्षा को अच्छी समझती है। वह सोचती है-माता का उपदेश है कि जो वहुतों को खिलाकर खाता है वह अमृत खाता है। वह कभी भूखा नहीं रहता। वैष्णव लोग ठाकुरजी को नैवेद्य देकर खाते हैं। वे कहते हैं-हम ठाकुरजी का प्रसाद खाते हैं। इस प्रसाद में, दूसरों को भोजन करा कर भोजन करने में, कितना आनन्द है! ऐसे भोजन से शरीर में कैसा अमृत फैलता है, सो वाणी द्वारा कहा नहीं जा सकता। गीता में कहा है :—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।

अर्थात्—यज्ञ से वचा हुआ अन्न खाने वाले सब पापों से मुक्त हो जाते हैं।

यहाँ यज्ञ का मतलब अग्नि में घी की आहुति देना नहीं है। यज्ञ का अर्थ निष्काम कर्त्तव्य करना है। गीता फिर कहती है—

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्। —गीता अ० ३

अर्थात्—जो पुरुष अपने ही पेट की पूर्त्ति करने के लिये अन्न पकाते हैं व पाप-रूप भोजन करते हैं। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष कर्त्तव्य कर्म को भूलकर सिर्फ अपने ही लिए पकाता है वह नरक खाता है। भाइयो, यह शब्द मेरे नहीं, गीता के हैं।

भोजन के विषय में जैनशास्त्र क्या कहता है, इसे भी सुनिये-

अप्रणं पाणगं वावि खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, पुण्णट्ठं पगडं इमं॥
—दशवैकालिक

इस गाथा की टीका में लिखा है :—

ननु—पुण्यार्थप्रकृतपरित्यागे शिष्टकुलेषु वस्तुतो भिक्षाया अग्रहणमेव; शिष्टानां पुण्यार्थमेव पाकप्रवृत्तेः। तथाहि—न पितृकर्मा-

दिङ्ग्यपोहेनात्मार्थमेव क्षुद्रसत्ववत् प्रवर्त्तन्ते शिष्टा इति । नैतदेवमभिप्रायापरिज्ञात् । स्वभोग्यातिरिक्तस्य देवस्यैव पुण्यार्थकृतस्न निषेधात् ।

गाथा में यह निषेध किया गया था कि जो अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य भोजन पुण्य के लिए बनाया गया है, वह साधु के लिये ग्राह्य नहीं है । साधु को ऐसा आहार नहीं लेना चाहिये ।

इस निषेध के सम्बन्ध में टीका में शंका और उसका समाधान किया गया है । शंका यह है कि पुण्य के लिए बनाए हुए भोजन का साधु यदि त्याग कर दें तो शिष्ट कुलों में साधु कभी भिक्षा ले ही नहीं सकेंगे, क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषों की पुण्य के लिए ही भोजन बनाने में प्रवृत्ति होती है । श्रेष्ठ पुरुष पिता आदि की सेवा को छोड़कर केवल अपने खाने के लिये ही, क्षुद्र पुरुषों की भाँति भोजन पकाने में प्रवृत्त नहीं होते । इस शंका का समाधान करने के लिये आचार्य कहते हैं—पुण्य के लिये बनाये हुये भोजन का त्याग करने का अभिप्राय तुमने ठीक नहीं समझा । उसका अभिप्राय यह है कि अपने खाने-पीने के सिवा, केवल पुण्य के लिये ही—दूसरों को पुण्यार्थ देने के उद्देश्य से ही जो भोजन बनाया गया हो वह भोजन मुनि को नहीं ग्रहण करना चाहिये । जिस भोजन में से आप भी खाता हो उसके लेने का निषेध नहीं किया गया है ।

टीका के इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि कोई भी शिष्ट पुरुष सिर्फ अपने ही खाने के लिये भोजन नहीं पकाता और श्रावक भी शिष्टजनों में अन्तर्गत है अतएव उसके सम्बन्ध में भी यह कथन लागू होता है । इस प्रकार भोजन के सम्बन्ध में गीता और जैनशास्त्र का अभिप्राय एक ही सिद्ध होता है ।

श्रावक अतिथिसंविभाग करके भोजन करता है । सच्चा

श्रावक आज के श्रावकों की भाँति चटपट भोजन अपने पेट में नहीं भर लेता। वह भोजन करने से पहले सुपात्र को दान देता है। अगर सुपात्र का योग न मिले तो सुपात्र दान की भावना करता है।

एक बार मैं बीकानेर नगर में गोचरी के लिये गया। मैं जिस घर में गया उस घर में एक बाई सोती थी। मैंने समझा—किसी कारण विशेष से सो रही होगी। मेरे जाने पर वह उठ बैठी थी। तब उसने पूछने पर बताया—'महाराज! हमें और काम ही क्या है? खाना और सो जाना, यही तो दो प्रधान काम हैं।' मैंने मन ही मन सोचा—यह श्राविका है या कौन है?

समझदार श्राविकाएँ भोजन के अनन्तर गृह-व्यवस्था की ओर ध्यान देती हैं। घर की व्यवस्था से समय मिलता है तो सुने हुये धर्मोपदेश पर विचार करती हैं, उसका मनन करती हैं। तदनन्तर सायंकालीन भोजन के पश्चात् ईश्वर प्रार्थना करके सास-ससुर और पति के सोने के बाद आप सोती हैं।

द्रौपदी का चरित्र जिसे विस्तार से देखना है उसे महाभारत में देखना चाहिये। सीतादेवी का पातिव्रत कुछ कम नहीं है। उसका सतीत्व बड़ा ही जाज्वल्यमान है, पर द्रौपदी भी कुछ कम नहीं है। यह एक प्रखर नारी है। सीता सौम्यमूर्त्ति थी, वह शान्ति का अवतार थी, पर द्रौपदी भीष्मपितामह आदि महापुरुषों के सामने भाषण देने वाली थी। वह वीरांगना काम पड़ने पर युद्ध-शिक्षा देने से भी नहीं चूकती।

पति को प्रसन्न करने की जो विधि बताई है उसी विधि से ईश्वर को भी प्रसन्न किया जा सकता है। पर यहाँ एक बात विशेष है। कोई महिला कुचाल चलते हुये भी पतिव्रता बनने का

ढोंग कर सकती है और अपने पति की आँखों में धूल झौंक देती है, पर यह चालाकी ईश्वर के सामने नहीं चल सकती। पति हृदय की बात नहीं जानता मगर ईश्वर मनुष्य के हृदय की भी जानता है। वह सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है। अगर कोई ईश्वर को धोखा देने की चेष्टा करता है तो वह आप ही धोखे का शिकार होता है।

ज्ञानी जनों ने कहा है—तलवार की धार पर नाचना सरल है पर कर्त्तव्य-पथ पर चलना कहीं कठिन है। हाँ, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि जो कर्त्तव्य-पथ पर चलता है, ईश्वर से उसकी भेंट शीघ्र हो जाती है।

कर्त्तव्य-कर्म की व्याख्या इतनी विस्तृत है कि पूर्ण रूप से उसका दिग्दर्शन यहाँ नहीं कराया जा सकता। तथापि यहाँ उसके सम्बन्ध में जो विवेचन किया गया है वह मार्ग-दर्शक हो सकता है।

गौतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछ रहे हैं—'प्रभो ! सुबाहुकुमार किस कारण से जगत-वल्लभ हो गया ? किस कारण वह संसार का श्रेष्ठ पुरुष माना गया ? भगवन्, दान देने से भी उच्च बन सकता है, भक्ष्याभक्ष्य के विवेक से अर्थात् अभक्ष्य का त्याग कर भक्ष्य में सन्तोष धारण करने से भी उच्च बन सकता है, तथा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को समझकर कर्त्तव्य का आचरण करने से भी महान् बन सकता है। सुबाहुकुमार इन कारणों में से किस कारण से महान् बन सका है ? क्या यह दान देने से महान् बना ? या शुद्ध अन्न खाने से बड़ा बना ? या कृत्याकृत्य का विवेक प्राप्त कर कृत्य के अनुष्ठान से उत्तम बना ? इन प्रश्नों के सम्बन्ध में ऊपर व्याख्या की जा चुकी है।

(११)

किं वा समायरित्ता ?

गौतम स्वामी का अगला प्रश्न है—'किं वा समायरित्ता ?' अर्थात् सुबाहुकुमार ने किस शील का आचरण किया है ? आजकल शील का अर्थ प्रायः संकुचित किया जाता है। स्त्री-संसर्ग का त्याग ही शील अर्थ सर्वसाधारण में प्रचलित होगया है। मगर शील शब्द में बहुत व्यापक अर्थ अन्तर्हित है। यद्यपि स्त्री-संसर्ग का त्याग भी शील के ही अन्तर्गत है, मगर सिर्फ इसी अर्थ में शील शब्द की समाप्ति नहीं है।

जब कोई मनुष्य किसी मन्त्र को सीखता है तो उसे बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। वह उसी ओर ध्यान लगाये रहता है। शील महामन्त्र है। मैं चाहता हूँ, उसे सीखने के लिए आप सावधान हो जाएँ। कोई मनुष्य आकाशगामिनी विद्या सीखता है, कोई तांबे को सोना बनाने का मन्त्र सीखता है, कोई विषैले जानवरों के विष को उतारने का मंत्र सीखता है, क्या शील का मंत्र इनसे छोटा है ? नहीं। जिस मन्त्र से सुबाहुकुमार समस्त विश्व का महान् पुरुष बन गया, वह मन्त्र क्या छोटा हो सकता है ? इस मन्त्र से तो अर्हन्त भी बना जा सकता है फिर यह छोटा कैसे ? शील मन्त्र की बदौलत मनुष्य आकाशगामी ही नहीं बनता वरन् लोकाकाश के अग्रभाग पर सदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाता है। शील मन्त्र के

प्रभाव से तांबा सोना ही नहीं बन जाता वरन् नरक का जीव भी सिद्ध, बुद्ध, मुक्त निर्विकार परमात्मा बन सकता है। शील मन्त्र से जानवरों के विष का अपहरण ही नहीं होता वरन् समस्त विकार-विष नष्ट हो जाता है। ऐसा है शील-महामन्त्र का प्रभाव !

जो भद्र पुरुष शील-मन्त्र को भली-भाँति सीख लेगा, जो इस मंत्र की आराधना करेगा उसे अद्भुत आनन्द की प्राप्ति होगी। उसके हृदय में अपूर्व जागृति आ जायगी।

शील क्या है ? बुरे कामों से निवृत्त होना और अच्छे कामों में प्रवृत्त होना शील कहलाता है। यह शील की सामान्य व्याख्या है। इस व्याख्या से यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न हो जाता है कि बुरा क्या है और अच्छा क्या है ? संसार के समस्त शास्त्रों का सार अच्छे और बुरे की व्याख्या में ही आ जाता है। समय इतना नहीं है कि इसकी विस्तृत व्याख्या की जाय। फिर भी शील का रहस्य समझाने के लिए संक्षेप में व्याख्या करना आवश्यक है। पाँच बातें बुरी हैं। उनका त्याग करके उनसे विपरीत पाँच बातों में प्रवृत्ति करना शील का स्वरूप है। पाँच बुरी बातें यह हैं—(१) हिंसा (२) झूठ (३) चोरी (४) परस्त्री गमन और (५) शराब पीना। इन पाँच बातों का त्याग करना चाहिये। पाँच अच्छी बातें हैं—(१) दया (२) सत्य (३) प्रामाणिकता अर्थात् अन्याय की वस्तु की अपेक्षा न करना (४) परस्त्री को माता बहिन समझना और (५) नशे की किसी भी चीज का उपयोग न करना अर्थात् ऐसी वस्तुओं का खान-पान में उपयोग करना जिनसे सत्य गुण की वृद्धि हो।

परस्त्री से परहेज करना और स्वस्त्री-सेवन की मर्यादा करना ही शील है, ऐसा जो अर्थ समझते हैं वे शील का एकांगी

अर्थ समझते हैं। जिसके हाथ में एक ही उँगली हो वह मुट्ठी नहीं बाँध सकता। इसी प्रकार जो पूर्वोक्त पाँच बातों का त्याग और उनसे विपरीत पाँचों का ग्रहण नहीं करता वह शीलजन्य परम कल्याण का पात्र नहीं बन सकता। एक उदाहरण और लीजिये। मान लीजिये, एक आदमी पत्र लिखने बैठा। उसे स्वरों का ज्ञान तो है पर व्यंजन उसे नहीं आते। या यों कहिये कि व्यंजन तो आते हैं पर स्वर नहीं आते। ऐसी स्थिति में वह क्या पूरी चिट्ठी लिख सकेगा? जैसे स्वर और व्यंजन में से किसी एक के अभाव से भाषा पूरी नहीं बनती, उसी प्रकार केवल परस्त्रीत्याग और स्वस्त्री-संतोष से शील की व्याख्या पूर्ण नहीं होती। शील की पूर्णता के लिए उक्त पाँचों की निवृत्ति और पाँचों में प्रवृत्ति होना आवश्यक है।

ऊपर जिन पाँच बातों को त्याज्य बतलाया गया है उनमें हिंसा का नाम सबसे पहले आया है। हिंसा का आप क्या आशय समझते हैं? आज हिंसा का अर्थ समझने में बड़ी गड़बड़ी मची हुई है। सूक्ष्म हिंसा से बचने के भ्रम में पड़कर बड़ी-बड़ी स्थूल हिंसाएँ की जा रही हैं और इस ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता।

एक आदमी गंगा के किनारे खड़ा रो रहा था। वह इतने जोर से रो रहा था कि राहगीरों को भी उस पर दया आ जाती थी। किसी राहगीर ने उससे पूछा—भाई, रोते क्यों हो? तुम्हें क्या कष्ट है?

रोने वाला रोते रोते बोला—मुझे जोर की प्यास लग रही है।

राहगीर—तो रोने से मतलब? सामने गङ्गा बह रही है निर्मल जल है। शीतल है, मधुर है। पी ले। प्यास बुझा ले

रोने वाले ने कहा—हाय ! गङ्गा-जल पीऊँ कैसे ? गंगा की धारा इतनी चौड़ी है और मेरा मुँह जरा सा है। यह धारा मुँह में समाएगी कैसे ?

राहगीर का करुणा रस हास्य-रस में परिवर्त्तित हो गया। उसने हँसते हुए कहा—मूर्खराज, तुझे अपनी प्यास मिटाने से मतलब है या गंगा की धारा मुँह में भरने से ? अगर तू इसी विचार में डूबा रहेगा तो प्यास का मारा प्राण खो बैठेगा। न गंगा की धारा इतनी छोटी होगी कि तेरे मुँह में समा जाय; न तेरा मुँह इतना बड़ा होगा कि वह उसे अपने भीतर घुसेड़ सके।

तात्पर्य यह है कि आजकल अनेक लोग तो हिंसा की व्यापकता को देखकर उससे जरा भी निवृत्त होने की चेष्टा नहीं करते और कुछ लोग सूक्ष्म हिंसा को अपनी जवाबदेही समझते हैं। ऐसे लोग न स्थूल हिंसा से बच पाते हैं, न सूक्ष्म हिंसा से ही। वे न इधर के रहते हैं, न उधर के रहते हैं।

जो लोग गृहस्थी में रहना चाहते हैं, गृहस्थी का उत्तर-दायित्व सिर पर ओढ़े हुए हैं, मगर साधु की क्रिया का पालन करना चाहते हैं, वे एक साथ दो घोड़ों पर सवार होने के समान हास्यास्पद चेष्टा करते हैं। गृहस्थ को अग्नि से काम पड़ता है, पानी का व्यवहार करना पड़ता है, मिट्टी का उपयोग करना पड़ता है। जैन-शास्त्र ने इन सब में जीवों का अस्तित्व स्वीकार किया है। ऐसी दशा में वह गृहस्थ हिंसा से कैसे बच सकते हैं ? हिंसा-अहिंसा का मर्म न जानने के कारण आज सूक्ष्म हिंसा के बदले स्थूल हिंसा की प्रचुरता हो गई है। यह दोष शास्त्र का नहीं, उसे न समझने वाली

बुद्धि का है। गृहस्थ को पहले स्थूल हिंसा से बचने का प्रयत्न करना चाहिये। स्थूल हिंसा से मेरा मतलब उस हिंसा से है जिसके करने से जगत् में मनुष्य हिंसक कहलाता है, जिसके लिए राजा दण्ड देता है, जिसका कानून निषेध करता है और जिसे शास्त्र में श्रावक के लिये त्याज्य ठहराया गया है।

मैंने स्थूल हिंसा की जो व्याख्या की है उसका अभिप्राय आप समझ गये होंगे। इसीलिये मैं पूछता हूँ—किसी गृहस्थ के घर में चोर घुस जाय अथवा कोई दुष्ट पुरुष, स्त्री की लज्जा का हरण करे और उस दुष्ट मनुष्य को ऐसा न करने देने के प्रयास में उसके प्राण चले जाएँ तो क्या राजा मारने वाले को हिंसा का अपराधी ठहरायेगा? कोई उसे हिंसक कहेगा? पापी कहेगा? नहीं। व्यवहार में ऐसा पुरुष बहादुर कहलाता है, वीर कहलाता है। ऐसी हिंसा शास्त्र में सापराध की हिंसा कहलाती है। जो पुरुष ऐसी हिंसा से बचना चाहता है वह गृहस्थ कहलाने योग्य नहीं है। उसे पडिमा धारण करके, संसार के सब झंझट त्याग कर जंगल का रास्ता लेना चाहिये। फर्ज कीजिये कोई राजा श्रावक है। उसके देश पर दूसरा राजा चढ़ाई करने आया। अब उस श्रावक राजा का क्या कर्त्तव्य होगा? देश की रक्षा के लिए आक्रमणकारी का अस्त्र-शस्त्र से सामना करेगा या घर में छिपकर बैठा रहेगा? जो राजा संग्राम से डरेगा उसे लोग कायर और क्रूर कहेंगे। यदि उस राजा को वैराग्य हो तो उसे राजपाट छोड़ देना चाहिए। राज्य-कार्य और ऐसा वैराग्य, दोनों साथ साथ नहीं चल सकते। शास्त्रकार ऐसी हिंसा का श्रावक के लिये निषेध नहीं करते।

आज दस लखपती कहलाने वाले श्रावकों में इतनी हिम्मत

नहीं है कि अपने साथ रही हुई एक स्त्री के ऊपर कोई हमला करे तो उसे बचा लें। वे अपने प्राणों के भय से उस स्त्री को छोड़कर भाग जायेंगे। क्या यही सच्चे श्रावक का लक्षण है?

कई लोग कहेंगे—वे अहिंसा के उपासक हैं, इसलिए भाग जाएँगे। मगर यह सब झूठी बात है—लीपापोती है। मैं कहूँगा—उनमें वीरता नहीं थी, इसलिए वे भागे। आप याद रखिये, इस प्रकार की अहिंसा कायरता है। अहिंसा कायरों के लिए नहीं है। अहिंसा वीरों का भूषण है। जो गृहस्थ अपनी बेटी का बाप बनना चाहता है, पुत्र का पिता बनना चाहता है और स्त्री का पति बनना चाहता है, मगर उन पर आपत्ति आने के समय भाग छूटता है वह बेटी का बाप नहीं है, पुत्र का पिता नहीं है और बहिन का भाई नहीं है। स्त्री का पति भी नहीं है। वह डरपोक है। जैनशास्त्रों ने ऐसे समय में भागना बताया होता तो तीर्थङ्करों के समय में राजा लोग जैन धर्म को स्वीकार ही कैसे करते?

चेड़ा राजा के घर, उसका एक दौहित्र हार और हाथी लेकर आया। मगधपति कोणिक ने कहलाया—हार और हाथी वापस भेजो अन्यथा युद्ध करना होगा। राजा चेड़ा ने सोचा—मेरे शरण में आया हुआ न्याय-पथ पर है। मुझे इसी का साथ देना चाहिये। कोणिक अन्याय-पथ पर है, क्योंकि इसे इसके हिस्से का राज्य नहीं देता। राजा चेड़ा को यह भी विचार आया कि कोणिक के साथ दस राजा और भी हैं। मैं अकेला हूँ। कैसे उनका सामना करूँगा?

मगर चेड़ा के पक्ष में न्याय था, सत्य था। सत्य के सामने संसार की समस्त शक्तियाँ परास्त हो जाती हैं। सत्य के प्रचण्ड बल

के सामने शस्त्रास्त्रों का बल नाचीज है। यह विचार कर चेड़ा ने इस बात की तनिक भी चिन्ता न की। वह सत्य का सहारा लेकर अपनी बात पर अड़ा रहा।

चेड़ा राजा शरणागत का नाना था। आप खयाल कर सकते हैं—चेड़ा ने नाना होने के कारण ही शरणागत का साथ दिया। मगर बात ऐसी नहीं है। नौ लच्छी (लिच्छिवि-वंशीय राजा) और नौ मल्ली (राजवंश-विशेष) तो शरणागत के कुछ नहीं लगते थे। वे श्रावक थे। उन्होंने इसका साथ क्यों दिया? इसीलिए कि वे वीर थे। उन्होंने अन्याय देखना सहन नहीं किया। वे सत्य के पक्षपाती थे।

भाइयो, जिन दिनों ऐसे वीर श्रावक होते थे उन्हीं दिनों जैनधर्म की जाहोजलाली थी। आज के धनवान् तो अपनी धोती भी नहीं सम्भाल सकते। धोती न सम्भाल सकने का मतलब है—अपनी लाज नहीं सम्भाल सकते-अपने गौरव की रक्षा नहीं कर सकते।

आखिर कोणिक और चेड़ा का युद्ध हुआ। युद्ध में कोणिक के छक्के छूट गये। तब इन्द्र उसकी सहायता के लिये आया। जिस युद्ध में साक्षात इन्द्र भाग लेता है वह कितना भयानक युद्ध होगा? इन्द्र के विरुद्ध लड़ने वाले श्रावकों के धैर्य का, उनकी वीरता का और उनके पराक्रम का जिह्वा कैसे वर्णन कर सकती है?

क्या संग्राम करना पाप नहीं है? है। पर इस युद्ध का दायित्व कोणिक के सिर आता है, क्योंकि हिंसा की प्रवृत्ति करने वाला

कोणिक है। चेड़ा का उद्देश्य अन्याय का प्रतिकार करना है। अस्तु इस दृष्टान्त से यह विदित हो जाता है कि गृहस्थ आवश्यकता पड़ने पर—न्याय, धर्म एवं सत्य की रक्षा के लिये, अपने कर्त्तव्य का समुचित रूप से पालन करने के लिये सापराधी हिंसा से काम लेता है। वह केवल निरपराधी जीवों की हिंसा का त्यागी होता है। इस प्रकार की अहिंसा शील का प्रथम रूप है।

शील का दूसरा रूप है—असत्य का त्याग। कई भाइयों का कहना है, झूठ बोले बिना व्यापार नहीं चलता। मगर विचार करने पर मालूम होगा कि यह कल्पना मिथ्या है। सत्य इतना व्यापक है कि क्या धार्मिक क्षेत्र में और क्या व्यापारिक क्षेत्र में सर्वत्र लाभदायक है। जो व्यापार में सत्य का प्रयोग करके देखेगा उसे सत्य की सफलता देखकर चकित रह जाना पड़ेगा। हृदय की पामरता के कारण ही असत्यमय विचार उत्पन होते हैं। इन तुच्छ विचारों के कारण आज भारतीय व्यापार की वह प्रतिष्ठा नहीं रह गई है, जो प्राचीन काल में थी। व्यापारियों में आज जो अप्रामाणिकता की प्रचुरता दिखाई देती है, उसने उन्हें अविश्वसनीय बना दिया है। भारत की बनी हुई वस्तु लोग उस विश्वास के साथ नहीं खरीदते, जो विश्वास विदेशी वस्तु के सम्बन्ध में पाया जाता है। इसका कारण व्यापारियों का असत्य है। इस असत्य का त्याग करके व्यापारी देश का मस्तक ऊँचा उठा सकते हैं। इससे उन्हें भी अधिक प्रतिष्ठा और सफलता मिल सकती है।

सत्य जिसके जीवन में ओतप्रोत हो जायगा उसका आचरण धर्म-स्थान में और दुकान में परस्पर विरोधी नहीं हो

सकता। वह सदा सत्य के ही दर्पण में अपने कर्त्तव्य को देखेगा और सत्य का ही अनुसरण करेगा। वह असत्य की परछाई भी अपने ऊपर नहीं पड़ने देगा।

शील का तीसरा रूप है—चोरी का त्याग करना। किसी की चीज चुरा लेना ही केवल चोरी नहीं है वरन् अमर्यादा-रूप से व्यवहार करना भी चोरी है।

आज एक रुपये की चोरी करने वाले पर मुकद्मा चलाया जाता है। पुलिस के अधिकारी और सरकारी वकील, न्यायाधीश के सामने जाते हैं और चोरी करने वाले को दंड दिलवाते हैं। न्यायाधीश अपना निर्णय लिखकर सुनाता है—एक रुपये की चोरी के अपराध में अमुक सजा दी जाती है। मगर दूसरी ओर, वही न्यायाधीश और पुलिस का अधिकारी कहलाने वाला व्यक्ति रिश्वत खाता है, हजारों की थैली घूँस में डकार जाता है। क्या यह चोरी नहीं है? मगर इसका कोई विचार नहीं करता। पुलिस का काम है—जनता के जान-माल की रक्षा करना, मगर आज उसकी बदौलत कैसी रक्षा हो रही है सो कहने की आवश्यकता नहीं। अपने सिर पर लिये हुये कर्त्तव्य का पालन न करना भी एक प्रकार की चोरी है। दुनिया के तमाम अन्याय और नीति के विरुद्ध की जाने वाली खींचातानी चोरी के ही विभिन्न रूप हैं।

एक वकील साहब की पत्नी बड़ी सुशील और धर्मभीरु थी। एक दिन वकील भोजन करने बैठे और उसी समय एक सेठ आया। सेठ को वकील ने एक मुकद्मे में जिताया था। उसने आते

वकील साहब के सामने पचास हजार के नोट रख दिये। वकील समझ तो गये मगर अपनी पत्नी के आगे रौब जमाने के लिये पूछने लगे—'यह नोट किस बात के हैं ?'

सेठ ने कहा—'वकील साहब, मुकदमे में मेरा पक्ष सरासर झूठा था। जिसे मुझे देना था, उससे आपने मुझे उल्टा दिलवाया है। मुझे आपके बुद्धि-कौशल के प्रताप से लाखों की सम्पत्ति मिली है। उसी के उपलक्ष्य में यह तुच्छ भेंट आपकी सेवा में उपस्थित की गई है।'

वकील के हर्ष का पार न रहा। अपनी बुद्धि के अभिमान में फूला न समाया। सोचा—कैसी प्रखर बुद्धि है मेरी ! मैं सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा प्रमाणित कर सकता हूँ।

वकील ने अभिमान भरी आँखों से अपनी पत्नी की ओर देखा तो उसके आश्चर्य का पार न रहा। पत्नी की आँखों में अश्रुधारा का प्रवाह फूट रहा था। वकील साहब ने पूछा—'हँसने के समय यह रोना कैसा ? तुम रो क्यों रही हो ?'

पत्नी ने कहा—इसमें खुशी की क्या बात है ? क्या आप इसी प्रकार के अन्याय की रोटी हमें खिलाते हैं ? क्या इसी कमाई से यह जेवर बनवाये गये हैं ? क्या मेरी प्राणप्यारी सन्तान के उदर में यही अन्याय का अन्न गया है ? मुझे इस सुख-विलास की आवश्यकता नहीं है। मुझे आभूषणों की परवाह नहीं है। मैं भूखी रहना पसन्द करूँगी, नंगी रहना कबूल करूँगी, मगर अन्याय के धन से दूर रहूँगी। संसार में कोई अजर-अमर होकर नहीं आया।

एक दिन सब छोड़-छाड़ कर जाना होगा। फिर पैसे के लिये ऐसे पाप क्यों? आप अपनी प्रखर बुद्धि का झूठ को सच्चा बनाने में उपयोग करते हैं, यह कल्पना ही मेरे लिए असह्य है। फिर यह तो सचाई बन गई है। इसे मैं किस प्रकार सहन करूँ?

वकील साहब ने अपनी पत्नी की बातें सुनीं तो उनकी अक्ल ठिकाने आगई।

बहिनों को चाहिए कि वे इस वकील-पत्नी का अनुकरण करें। पति अन्यायसे धन उपार्जन करता हो तो नम्रता से, मगर दृढ़ता-पूर्वक प्रार्थना करो—हमें अधिक आभूषणों की आवश्यकता नहीं है। हम विषय-विलास पसन्द नहीं करतीं। आप घर में अन्याय की दमड़ी भी न लाइए। बहिनो, अगर तुम इस नीति को अपनाओगी तो इस लोक में और परलोक में तुम्हारा और साथ ही तुम्हारे पति का भी कल्याण होगा। इससे तुम पति के प्रति भी अपना कर्त्तव्य पालन करोगी।

अब शील के चौथे रूप पर विचार कीजिये। इस विषय में मनुष्य-समाज में जैसी पोल नजर आती है, वैसी दूसरी जगह शायद ही मिले। जो बात पशुओं में भी नजर नहीं आती वह श्रावक कहलाने वालों में देखी जा रही है। आज जो लोग परस्त्री का त्याग करते हैं वे भी स्वस्त्री के विषय में अपने आपको एकदम निरंकुश समझते हैं। जरा मेरी बात पर ध्यान दीजिये। जो पराये घर की जूठन त्याग कर अपने घर मर्यादा से अधिक भोजन करता है, उसे क्या अजीर्ण नहीं होता? क्या वह रोग से इसीलिए बच जायगा कि उसने घर का ही भोजन किया है? नहीं भाइयो, चाहे पराये घर

की जूठन आपने त्याग दी है, फिर भी यदि अपने घर पर खाने की मर्यादा नहीं रक्खोगे तो याद रखना—शरीर का शीघ्र नष्ट होना नहीं रुकेगा।

श्रावक के लिये परस्त्रीत्याग जैसे आवश्यक है, उसी प्रकार स्वस्त्री-सन्तोष भी आवश्यक है। प्राचीन काल में बिना पूर्ण वयस्क हुये कोई संसार-कृत्य नहीं करता था। परन्तु आज आठ-आठ दस-दस वर्ष के छोकरा-छोकरी इस काम में लग जाते हैं। जो अज्ञानी माता-पिता इस उम्र में उनका लग्न कर देते हैं, क्या वह कायदे के मुताबिक कहा जायगा ? बड़े-बड़े नामधारी श्रावक सूक्ष्म हिंसा की ओर ध्यान देते हैं पर इस कृत्य से होने वाली भयंकर हिंसा उनके ध्यान में ही नहीं आती। धनवानों ने यह विनाशकारिणी प्रथा चला कर भोली जनता के सामने एक अत्यन्त नीच आदर्श खड़ा किया है; यों तो यह प्रथा साधारणतया भारत भर में प्रचलित है मगर मारवाड़ में इसका प्रचलन अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है।

लग्न के प्रकरण में शास्त्र में 'सरिसवया' पाठ आता है। इसका तात्पर्य है—सदृश वय वाले अर्थात् लग्न-क्रिया के योग्य उम्र दोनों की होनी चाहिये। विवाह के पश्चात् जो स्त्री 'धम्मसहाया' समझी जाती थी अर्थात् गृहस्थ-धर्म का पालन करने में सहायक मानी जाती थी, आज वही धर्मपत्नी भोग की सामग्री गिनी जाती है। पुरुषों के लिए यह कितने दुर्भाग्य की बात है कि वे तीसों दिन स्त्री के साथ नीच आचरण करते हैं। जो वस्तु संजीवनी जड़ी से भी बहुत अधिक मूल्यवान है उसे इस प्रकार नष्ट करना मूर्खता की पराकाष्ठा है। क्या अमृत से पैर धोने वाला बुद्धिमान् कहला सकता

है ? जिस चीज से तीर्थङ्करों के पावन शरीर का निर्माण हुआ, जिससे बड़े-बड़े राजा-महाराजा बने, उस चीज को पानी की तरह वृथा बहा देना मूर्खता नहीं तो क्या है ? जो लोग अल्पवयस्क बालक-बालिकाओं को विवाह-सम्बन्ध में गूँथ देते हैं वे संसार को कोल्हू में पेर रहे हैं।

गाय, भैंस, कुत्ता आदि पशु कहलाने वाले प्राणी बिना समय के संसार-कृत्य नहीं करते, पर हाय रे मनुष्य कहलाने वाले प्राणी ! तू आँखें मींच कर कामभोग के लिए ऐसे पिल पड़ता है मानो विषयभोग के लिये ही तेरा जन्म हुआ है।

जो भाई-बहिन अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा करेंगे, वे संसार को अनमोल रत्न प्रदान करने में समर्थ हो सकेंगे। हनुमानजी का नाम कौन नहीं जानता ? आलंकारिक भाषा में कहा जाता है कि उन्होंने लक्ष्मणजी के लिए द्रोण पर्वत उठाया था। उसी पर्वत का एक टुकड़ा गिर पड़ा, जो गोवर्धन पर्वत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अलंकार का आवरण दूर कर दीजिये और विचार कीजिये तो इस कथन में हनुमानजी की प्रचण्ड शक्ति का दिग्दर्शन आप पायेंगे। हनुमानजी में इतनी शक्ति कहाँ से आई ? यह महारानी अंजना और महाराज पवन के बाईस वर्ष पर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचर्य की साधना का प्रताप था। उनके ब्रह्मचर्य-पालन से संसार को एक ऐसा उपहार, ऐसा वरदान मिला जो न केवल अपने समय में ही अद्वितीय था, वरन् आज तक भी वह अद्वितीय समझा जाता है और शक्ति साधना के लिये उसकी पूजा की जाती है।

बहिनो ! अगर तुम्हारी हनुमान सरीखा शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न करने की साध है तो अपने पति को कामुक बनाने वाले साज-सिंगार और हाव-भाव त्याग कर स्वयं ब्रह्मचर्य की साधना करो और पति को ब्रह्मचर्य-पालन करने दो।

शील के पाँचवें रूप का—मदिरा आदि नशीले पदार्थों के त्याग का विवेचन पहले किया जा चुका है। अतएव यहाँ उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

किं वा सुच्चा ?

तम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं कि सुबाहुकुमार ने यह जो अनुपम कीर्त्ति प्राप्त की है, उसका कारण क्या है? क्या यह दान देने का प्रताप है या 'किं वा भुच्चा का प्रताप है ?' यह 'किं वा किच्चा' का फल है या 'किं वा समायरित्ता' का फल है ? इसके साथ ही श्री गौतम पूछते हैं:—अथवा 'किं वा सुच्चा' का प्रताप है ? अर्थात् सुबाहुकुमार ने कौन से कल्याणकारी वचन सुन कर यह कीर्त्ति प्राप्त की है ? सुबाहुकुमार ने यह श्रेष्ठता कैसे प्राप्त की है ?

सामायिक आदि धर्म-क्रिया घर पर भी की जा सकती है। फिर श्रावक यहाँ—साधुओं के पास, उपाश्रय में, क्यों आते हैं ? इसका प्रयोजन यही है कि यहाँ भगवान् की वाणी सुनने का अवसर मिलता है। स्मरण रखना चाहिये कि वचन में अपूर्व शक्ति है। कहा भी है—

एक वचन श्री सद्‌गुरु केरा, जो बसे ते दिल मांहि रे प्राणी।
नरक निगोद में ते नहिं जावे, इम कहियो जिनराय रे प्राणी॥

साधुजी ने वन्दना नित नित कीजे।

प्रभाते उठी ने सुन साधांरा वखान;
ज्यां पुरुषांरी अनन्त पुण्याई पनपे अमर विमान रे प्राणी ॥

इस पद में मुनि-वचन की बड़ी महत्ता बतलाई गई है। जब मुनि के वचन के प्रताप से सुबाहुकुमार बन सकता है, तो आप सरलता से समझ सकते हैं कि शास्त्र-श्रवण में कितनी अधिक शक्ति होनी चाहिये ?

हीरे की अंगूठी पहनने वाले एक आदमी को उसकी कीमत का पता नहीं है। उसके पूर्वज वंशपरम्परा से अंगूठी पहनते आते हैं, इसलिए वह भी पहनता है। वंशपरम्परागत होने से उस अंगूठी के प्रति उसका आदरभाव है। ऐसी स्थिति में अगर एक जौहरी अंगूठी का मूल्य सवा लाख रुपया बतला दे तो पहनने वाले को कितना आनन्द होगा ? इसी प्रकार आप अपनी वंशपरम्परा से धर्म-ध्यान करते चले आते हैं, अतएव आपको धर्म-ध्यान के प्रति हार्दिक रुचि है। मगर जब आप भगवान् के वचन ध्यान-पूर्वक सुनेंगे तो हृदय निराले आनन्द से परिपूर्ण हो जायगा।

एक आदमी को फांसी की सजा मिली। नियत दिन पर फांसी के तख्ते पर ले जाते समय रास्ते में वकील का घर आया। अगर वकील उस दण्डनीय व्यक्ति से कहे कि मेरी बात सुनो। मैं तुम्हें एक बात ऐसी बतलाये देता हूँ कि फांसी के तख्ते पर लटकते समय अगर तुम वह बात कह दोगे तो फांसी से मुक्त हो जाओगे। इस स्थिति में वह वकील की बात कितने ध्यान से सुनेगा ? वह समझेगा—मानो साक्षात् ईश्वर ही मिल गया है ! आप इस स्थिति में उसकी ठीक-ठीक कल्पना नहीं कर सकते। जिस पर आकर

पड़ती है वही उसकी वास्तविकता समझ सकता है। मगर यहाँ तो यह समझना है कि एक जन्म की फांसी से छुड़ाने वाले वचन जब इतनी उत्कंठा से सुने जाते हैं तब जिन वचनों से अनेक जन्मों की-सदा की—फाँसी कट जाती है उन वचनों के श्रवण में कितनी तत्परता, कितनी उत्कण्ठा और कितना मनोयोग होना चाहिये ?

धर्म-गुरु के मुखारविन्द से धर्म-वचन सुनने का अद्भुत असर होता है। इसका कारण यह है कि धर्म-गुरु की आत्मा धर्म के रंग में रंगी होती है। उसके वचन में आत्मा की अलौकिक शक्ति इस भाँति मिली रहती है, जैसे तिलों में तेल। जिन शब्दों में आत्मा का बल नहीं होता वह प्रभावहीन होते हैं और कानों तक ही पहुँच कर विलीन हो जाते हैं। आत्मा तक उनकी पहुँच नहीं होती। यही कारण है कि सामान्य आदमी जब बोलता है तब उसका प्रभाव कुछ भी नहीं जान पड़ता और वही शब्द जब किसी धर्मनिष्ठ महात्मा के मुख से निकलते हैं तो अन्तरंग को स्पर्श करते हैं, हृदय को हिला देते हैं और चेतना को रस में डुबा देते हैं।

आपने हाथी का दांत देखा होगा। हाथी का दांत जब हाथी के पास होता है, तो वह उससे नगर के मजबूत से मजबूत किवाड़ तोड़ फैंकता है। पर जब वही दांत खैरादी के यहाँ पहुँचकर, चूड़ा का रूप धारण कर महिलाओं की शोभा बढ़ाने लगता है, तब उसमें वह प्रचंड शक्ति नहीं रहती। यही हाल वचन का है। धर्म-गुरु के वचन उस दांत के समान हैं जो हाथी के पास होता है और साधारण लोगों के वचन चूड़ा का रूप धारण किये हुए दांत के समान हैं। उनमें वह सामर्थ्य नहीं, पराक्रम नहीं। वह शोभावर्धक भले ही हों

पर प्रभावशाली नहीं होते। इसी प्रकार केवल भेषधारी साधु के वचनों में भी वह शक्ति न होगी, जो ध्यानी, ज्ञानी, मौनी और योगी मुनि के वचन में होगी।

प्रश्न यह चल रहा है कि सुबाहुकुमार ने किस धर्म का बीज बोया है, जिससे उसे इस फल की प्राप्ति हुई है? यह निर्विवाद है कि जैसा बीज बोया जायगा, वैसा ही फल लगेगा। नीम के बीज से नीम का फल मिलेगा और आम बोने से आम मिलेंगे। बीज और वृक्ष भले ही अलग-अलग दिखाई दें पर वास्तव में वह एक हैं। वृक्ष, बीज पर और बीज, वृक्ष पर अवलंबित है।

यह याद रखना चाहिए कि क्या दान देने में, क्या खाने में, क्या अन्य सुकृत्य करने में, एक ही बीज काम कर रहा है। वह बीज है—शुभ भावना। शुभ-भावना रूपी बीज से ही इनमें मधुर फल लगते हैं। जो दान शुभ-भावना के बिना दिया जाता है, जो सुकृत लोक-लज्जा से प्रेरित होकर ही किया जाता है, वह दिखावा है, वंचना है। उसका परिणाम वैसा अच्छा नहीं मिलता। जो व्यक्ति शील की महिमा को स्वीकार नहीं करता, शील के प्रति शुभ-भावना भी नहीं रखता, फिर भी मजबूत होकर या लोक-दिखावे के लिए ही शील पालता है वह बगुला-भक्ति करता है। चित्त की शुद्धि असली चीज है। जिसका चित्त मलीन है, जिसके चित्त में दुर्वासनाएँ ताण्डव-नृत्य करती रहती हैं, उसके दिखावे से लोग भ्रम में पड़ सकते हैं, पर उसकी आत्म-शुद्धि नहीं हो सकती।

किसी माली ने बंगाल में या विलायत में, किसी बगीचे में खेती की। आपको नहीं मालूम कि खेती कहाँ की गई है? फिर भी

जब फलों की टोकरी आपके सामने आयेगी तो प्रश्न उठेगा ही कि कहीं न कहीं खेती जरूर की गई होगी। विना फलों की खेती किये फल आकाश से तो टपक नहीं सकते थे! भाइयो! मनुष्य पुण्य-पाप कहीं करता है और फल कहीं पाता है। कौन जानता है कि यहाँ बैठा मनुष्य जो सुकृत कर रहा है उससे दुनियां को कहाँ सुख मिल रहा है? और यहाँ जो पाप किया जा रहा है उसका फल दुनिया को कहाँ पहुँच रहा है? सुबाहुकुमार ने बीज कहाँ लगाया था और फल कहाँ मिल रहा है? इस सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है-

अहो णं भन्ते! सुबाहुकुमारे इट्ठे, इट्ठरूवे, कन्ते, कन्तरूवे, पिये, पियरूवे, मणुन्ने, मणुन्नरूवे, मणामे, मणामरूवे, सोमे, सोमरूवे, सुभगे, सुभगरूवे, पियदंसणे सुरूवे। बहुजणस्स वि य णं भंते सुबाहुकुमारे इट्ठे सोमे, साहुजणस्स वि य णं भंते सुबाहुकुमारे इट्ठे इट्ठरूवे जाव सुरूवे। सुबाहुणा भंते! कुमारेणं इमा एयारूवा उराला माणुस्सरिद्धी किन्ना लद्धा? किन्ना पत्ता? किन्ना अभिसमन्नागया? के वा एस आसी पुव्वभवे?

भाइयो! गौतमस्वामी ने भगवान् महावीर से सुबाहुकुमार के सम्बन्ध में जो प्रश्न पूछे हैं, उनके रहस्य को सोचिये। उनमें क्या तत्त्व निहित है? सुबाहुकुमार ने किस कारण जगत्वल्लभता प्राप्त की है? किस कारण से उसे मनुष्य की उत्तम ऋद्धि मिली है? गौतम स्वामी ने प्रश्न को इतना लम्बा करके क्यों पूछा है? इसलिए कि जगत् सुबाहु सम्बन्धी प्रश्न को अपना ही प्रश्न समझे और आप स्वयं सुबाहु बनने का प्रयत्न करे।

'किंवा दच्चा', 'किंवा भुच्चा', आदि प्रश्न को लंबा करने का उद्देश्य भी यही था कि अच्छा दान देने से भी उच्चता प्राप्त हो सकती

है, अच्छा अर्थात् शास्त्रोक्त सात्विक भोजन करने से भी उच्चता प्रा
हो सकती है। अगर इस प्रकार उच्चता न मिल सकी तो सुकृत्य य
शील का आचरण करके और मुनि वचन सुनकर उच्चता प्राप्त क
जा सकती है। पुण्य प्रकृतियों के बंध के निमित्त नाना होते हैं
उनका सामान्य परिचय करा देने के लिए ही महात्मा लम्बा प्रश्
करते हैं।

ज्ञानी पुरुष मन से, वचन से और तन से क्षण क्षण
पुण्य कार्य करके पुण्य-प्रकृति का बंध करते हैं और अज्ञानी पापा
चरण करके पल-पल में पाप की पोटली बाँधते हैं। ज्ञानी का प्रत्ये
कार्य विश्व-कल्याण की कामना से होता है और अज्ञानी का स्वार्थ
लिप्सा से प्रेरित होकर। अतएव उसके वह कार्य उसे नरक क
अतिथि बनाते हैं।

(१४)

भगवान् का समाधान

(सुबाहु का पूर्वभव)
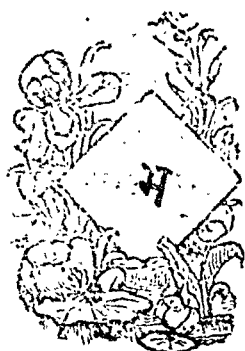
भगवान् महावीर स्वामी श्री गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हैं—'एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबूदीवे २ भारहे वासे हत्थिणाउरे णामं णयरे होत्था, रिद्धत्थिमियसमिद्धे । तत्थ णं हत्थिणाउरे णयरे सुमुहे णामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे, दित्ते, अपरिभूए ।

अर्थात्—हे गौतम ! निश्चय समझ । उस काल में और उस समय में, इसी जम्बू द्वीप में, भारतवर्ष में हस्तिनापुर नाम का नगर था—ऋद्धि-वैभव से सम्पन्न । उस हस्तिनापुर नगर में सुमुख नामक गाथापति निवास करता था । वह आढ्य, दीप्त और अपराभूत था ।

× × × × ×

जब तक स्थान को न जान लिया जाय तब तक उस स्थान पर होने वाली क्रिया का स्वरूप भली भाँति नहीं जाना जा सकता। प्रत्येक क्रिया का स्थान होता अवश्य है, फिर भले ही वह कोई भी

हो। बिना स्थान के क्रिया का होना असम्भव है। इसके अतिरिक्त क्रिया पर स्थान का गहरा प्रभाव पड़ता है, अतएव क्रिया के तारतम्य को समझने के लिए भी स्थान को जान लेना आवश्यक होता है।

क्रिया पर जैसे स्थान का प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार काल का भी। कहना चाहिये कि प्रत्येक क्रिया काल के रँग से रंगी हुई ही होती है। काल की अनुकूलता न हो तो पुरुष का पुरुषार्थ व्यर्थ बन जाता है। अतः देश की तरह काल का स्वरूप समझ लेने पर ही क्रिया का ठीक-ठीक रहस्य अवगत किया जा सकता है। देश-काल के पश्चात् अन्य बातों पर विचार करना चाहिए।

भगवान् ने सुबाहुकुमार का, पूर्वभव का वृत्तान्त बतलाते हुए काल और समय दो बातों का कथन किया है। दोनों अलग-अलग वस्तुएँ हैं। आप अपने बही-खाते में संवत् और मिति—दोनों का उल्लेख करते हैं। संवत् लगा दिया जाय पर मिति न लगाई जाय तो बहीखाता प्रामाणिक नहीं माना जाता। अतएव काल और समय दोनों से वस्तु का निर्धारण होता है। काल संवत् के स्थान पर है और समय मिति के स्थान पर। भगवान् कहते हैं—उस काल और उस समय में—अर्थात् चौथे काल में, उस समय जब कि सुबाहुकुमार उस भव से इस भव में आया।

सुबाहुकुमार वन्दना-नमस्कार करके जब सभा में से चला गया, तब गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किया और भगवान् उसके पूर्वजन्म की कथा कहने लगे। यह कथा सुनने वालों को बड़ा आश्चर्य हुआ होगा—उन्हें पूर्वभव या पुनर्जन्म की प्रतीति हुई

होगी। पुनर्जन्म आज भी सिद्ध किया जा सकता है। आत्मा एक भव के पश्चात् दूसरे भव में जाता है। शरीर के साथ उसका विनाश नहीं होता, इस सत्य को सिद्ध करने वाले अनेक प्रमाण मौजूद हैं।

भगवान् महावीर कहते हैं—सुबाहु पूर्वभव में जम्बू द्वीप के अन्तर्गत भरत क्षेत्र के हस्तिनापुर नामक नगर में निवास करता था। उस समय सुबाहु का नाम सुमुख था। वह गाथापति था।

हस्तिनापुर अत्यन्त प्राचीन नगर है। भारतवर्ष के इतिहास में उसका बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। यह नगर पहले भगवान् शान्तिनाथ और कुन्थुनाथ की राजधानी था; फिर वह पाण्डवों का राजधानी-नगर बना। आजकल हस्तिनापुर का नाम दिल्ली है। यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि आजकल की दिल्ली ही प्राचीन समय का हस्तिनापुर है, पर यह निश्चित-सा है कि वह दिल्ली के सन्निकट ही कहीं होना चाहिए। दिल्ली पहले हिन्दू राजाओं की राजधानी रही, फिर मुगल साम्राज्य की। पहले-पहल अंग्रेजों ने कलकत्ते को राजधानी बनाया था, मगर बाद में उन्होंने भी दिल्ली को ही राजधानी बनाया। क्षेत्र में भी कोई अद्भुत शक्ति होती है। सम्भवतः इसी कारण दिल्ली और प्राचीन हस्तिनापुर सुदूर अतीत से लेकर आज तक भारत की भाग्य-विधाता रहे हैं!

इसी हस्तिनापुर नगर में, सुबाहुकुमार अपने पूर्वभव में 'सुमुख' गाथापति के रूप में प्रसिद्ध था। जिसका मुख सुन्दर हो, जिसके मुख से मधुर वचन निकलते हों, जो अपने मुख से अश्लील

असत्य, कठोर और अप्रिय वचन न निकाले, वह 'सुमुख' कहलाता है। सुबाहुकुमार इसी प्रकार का 'सुमुख' था।

पहले जमाने में गुण के अनुसार नाम दिया जाता था। आजकल केवल लोक-व्यवहार की प्रवृत्ति के लिए नामकरण किया जाता है। पहले के नामों से व्यवहार भी हो जाता था और उसके गुण का परिचय भी मिल जाता था। अतएव पहले के नाम आजकल के नामों की भाँति अर्थ-शून्य नहीं होते थे। उदहारण के लिए धर्मघोष अनगार को लीजिये। धर्म-घोष का अर्थ है—धर्म की घोषणा करने वाला। अर्थात् धर्म की घोषणा करना—धर्म को फैलाना जिसके जीवन का ध्येय बन गया हो वह 'धर्म-घोष' कहलाता है।

सुमुख 'यथा नाम तथा गुण' वाला था। इसी कारण वह 'सुमुख' कहलाता था। उसके वचन बड़े मीठे और बड़े हितकारी होते थे। जो शान्ति मनुष्य को लाखों के आभूषणों से भी प्राप्त नहीं होती, उत्तमोत्तम सुस्वादु भोजनों से जिस शान्ति का लाभ नहीं हो सकता, वह एक सुभाषित से सहज ही प्राप्त हो सकती है। तुलसीदासजी ने कहा है :—

तुलसी मीठे वचन से, सुख उपजत चहुँ ओर।
वशीकरण एक मन्त्र है, तज दे वचन कठोर॥

अर्थात् मीठे वचन चारों ओर सुख-शान्ति फैलाने वाले होते हैं। यह वशीकरण मन्त्र है। जो दुनिया को अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है उसे कटुक वचन त्याग कर मधुर भाषण करना चाहिये।

आजकल, इस समाज में वचन की सभ्यता की बड़ी कमी है। समाज भोजन आदि से किसी मनुष्य का अच्छा सत्कार कर देगी, मगर वचन ऐसे असभ्यता-पूर्ण निकलेंगे कि मानो सभ्यतापूर्ण शब्द उसके कोष में है ही नहीं। वास्तव में वचन की सभ्यता के बिना कोई भी आदर सत्कार पूर्णता को नहीं पहुँच सकता। शास्त्र में नौ प्रकार के पुण्य का वर्णन आया है। उनमें मीठे वचन बोलना भी एक प्रकार का पुण्य गिना गया है। फिर इस सहज पुण्य का उपार्जन क्यों नहीं करते ? 'वचने का दरिद्रता ?' मगर जो मनुष्य हृदय में कुछ और भाव रखता है और मुँह से मीठी वाणी बोलता है, उसे शास्त्रकार छलवादी कहते हैं।

शास्त्र में चार प्रकार के घड़ों का वर्णन आया है:—(१) पहला घड़ा वह जिसमें मधु भरा हुआ है और मधु का ही ढक्कन है (२) दूसरा अमृत से भरा मगर विष के ढक्कन वाला (३) तीसरा विष का घड़ा पर अमृत के ढक्कन वाला और (४) विष का घड़ा और विष के ही ढक्कन वाला।

घड़ा पार्थिव होता है। उसमें चाहे मिट्टी भर दो, चाहे अमृत भर दो। जैसा पदार्थ उसमें भरोगे वैसा ही उसका नाम पड़ जायगा। पर याद रखिये, हम मनुष्य भी घड़े के ही समान हैं। यह पुतला-शरीर-पार्थिव है और नामकर्म रूपी कुंभार की कृति है। इसे अमृत से भरना या विष से भरना और अमृतघट कहलाना या विषघट कहलाना अपने हाथ की बात है। इस अपेक्षा से घड़े की तरह मनुष्य भी चार प्रकार के हैं। जो मनुष्य मुख से मीठे वचन निकालता है और जिसके हृदय में भी मधुरता होती है वह मधु के

और मधु के ढक्कन वाले घट के समान है। इसी प्रकार अन्य मनुष्यों की व्याख्या समझ लेनी चाहिए। संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त है कि विष से परिपूर्ण और विष के ढक्कन वाला घड़ा बनना अत्यन्त निकृष्ट है। विष के ढक्कन वाला अमृत का घड़ा और अमृत के ढक्कन वाला विष का घड़ा बनना भी उचित नहीं है। अलबत्ता विष के ढक्कन वाले-अमृत के घड़े के समान पुरुष, अमृत के ढक्कन वाले विष के घड़े के सदृश पुरुष से अपेक्षाकृत अच्छा है। क्योंकि यद्यपि वह दुनिया में अपना सुयश नहीं फैला सकता, फिर भी किसी का बुरा नहीं करता। वह मुख से कितने ही कटुक और कठोर शब्द बोले, मगर हृदय उसका बुरा नहीं। उसके हृदय में माधुर्य भरा होता है। लेकिन जो 'विपकुम्भं पयोमुखम्' होता है—जिसके हृदय में विष और मुख में अमृत होता है, उसे अतीव भयंकर समझना चाहिए। ऐसे मनुष्य को 'गोमुख व्याघ्र' कहते हैं। व्याघ्र से सहज ही बचा जा सकता है मगर गोमुख व्याघ्र के पंजे से बच निकलना आसान नहीं होता। खुले मुख का कुंआ अच्छा या घास-फूस से ऊपर से ढँका हुआ अच्छा? खुले मुख वाले कुंए से मनुष्य और पशु सावधान रहते हैं पर घास-फूस से ढँके कुंए से बचना कठिन है। इसलिये मैं कहता हूँ—हृदय में कपट रखकर मीठे बोलने वाले की अपेक्षा हृदय में दया रखने वाला कटुभाषी कहीं अच्छा है। जो मनुष्य हृदय में दया रखता है और मुख से भी मधुर वाणी बोलता है उसका तो कहना ही क्या है!

आप एक प्रश्न का उत्तर दीजिये। आपके घर के पास एक मीठे पानी का कुंआ है और दूसरा खारे पानी का। आप किस कुंए का पानी पसन्द करोगे? मीठे कुंए का। जब आप मीठा पानी

पीकर अपनी आत्मा को शान्ति पहुँचाना चाहते हैं तो खारे वचन छोड़ कर मीठे वचनों से दूसरे को शान्ति पहुँचाने का प्रयत्न क्यों नहीं करते ?

सुमुख गाथापति वास्तव में सुमुख अर्थात् मधुरभाषी था। वह अमृत का घड़ा और अमृत के ढक्कन वाला था।

सुमुख गृहपति था। सच्चा गृहपति कौन हो सकता है, यह विचारणीय है। वह गृहपति, वास्तव में गृहपति पद का अधिकारी नहीं है, जो दूसरों को भूखों मारकर अपना पेट भर लेता है। गृहपति का मुख्य कर्त्तव्य है—घर आये अतिथि का यथायोग्य सत्कार करना। कहावत प्रसिद्ध है—

घर आयो माँरो जायो।

अर्थात् जो अपने घर आया है वह सहोदर भाई के समान है। गृहपति प्रकृति का उदार और महान् होता है। वह अनेक जीवों को शान्ति देकर अपना निर्वाह करता है। वह ईंट-पत्थर के घर को अपना घर नहीं समझता। वह समझता है—'मेरा घर स्वर्ग में है। मैं यहाँ जगत् की सेवा करने आया हूँ।' और अधिक से अधिक सेवा करके भी वह अभिमान नहीं करता। उसके पास धन कम हो या ज्यादा, इसकी उसे तनिक भी चिन्ता नहीं होती, मगर उसमें उत्साह खूब होता है। दूसरों को दुख से बचाने में वह कभी शिथिलता नहीं आने देता। परोपकार उसके जीवन का व्रत होता है।

सुमुख गाथापति आढ्य-सम्पन्न था, दीप्त-तेजस्वी था और अपरिभूत था अर्थात् उसका पराभव कोई भी नहीं कर सकता था। किसी के पास ऋद्धि हो, मगर वह सदाचारी न हो तो एक तुच्छ

बालक भी उसका पराभव कर सकता है। दुराचारी की पद-पद पर दुर्गति होती है। वह आँख उठा॰कर ऊपर नहीं देख सकता। दुश्शील में तेजस्विता कहाँ ? उसके चेहरे पर एक प्रकार की झैंप मौजूद रहती है। उसकी आँखों में लज्जा तैरती रहती है। रावण कितना सम्पन्न था ? उसका बैभव अपरिमित था। उसका पराक्रम असाधारण था। उसकी धाक के सामने बड़े-बड़े राजा-महाराजा पीपल के पत्ते के समान कांपते थे। मगर वह दुराचारी था। दुराचारी होने के कारण पर्याप्त साधनों के अभाव में भी रामचन्द्र ने उसका पराभव किया। रावण के पास और सब प्रकार के बल थे, मगर सदाचार का अलौकिक बल न था। इसी बल के अभाव के कारण उसे पराभूत होना पड़ा।

सुमुख के पास ऋद्धि है और वह प्रकाशमान है। दीपक में तेल हो, वत्ती हो और सब सामान हो। लेकिन जब तक वह अग्नि को समीप न आने देगा, अपना तेल आग में नहीं जलायगा, तब तक उसमें प्रकाश न होगा। जब वह अग्नि को समीप आने देगा, अपना तेल अग्नि में जलायगा, तब लौ उत्पन्न होगी, तभी प्रकाश की उत्पत्ति होगी। प्रकाश होने पर उसे वायु के झकोरों से, बुझने से, बचाने के लिये और उसमें आकर गिरने वाले पतङ्ग आदि जन्तुओं की रक्षा के लिये, फानूस रक्खा जाता है।

भगवान् कहते हैं—सुमुख भी एक दीपक है। इसके घर में धन-धान्य आदि भरा हुआ है। मगर धन-धान्य का होना उसकी विशेषता नहीं है। धन-धान्य की प्रचुरता से किसी मनुष्य की महत्ता नहीं बढ़ती। वह तो कृपण और दुश्शील मनुष्य के पास भी

हो सकता है। सुमुख की विशेषता इस बात में थी कि उसका धन परोपकार में व्यय होता था। दीपक स्वयं अपने प्रकाश से लाभ नहीं उठाता। वह जलता है—दूसरों के लिये। दूसरों को प्रकाश देने के लिये वह अपने 'स्नेह' को तिल-तिल करके जलाता है। दीपक आग को नियमित मात्रा में तैल-दान करता है। एक साथ बहुत-सा अमर्यादित तेल दे तो भभका होता है।

इसी प्रकार सच्चा गृहपति मर्यादा के साथ धन का उपयोग करता है। वह न कृपण होता है, न उड़ाऊ होता है। वह दीपक की भाँति परोपकार के लिये अपना धन व्यय करता है। यही धन का सद्व्यय है।

आजकल के बहुत से लोग अपने धन का सद्व्यय न करके ब्याह में, शादी में, वेश्यानृत्य में और फुलवाड़ी लुटाने में व्यय करते हैं। गरीबों को भी अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए उनकी देखादेखी ऐसा करना पड़ता है। उन्हें नीति और सत्य के काम पसन्द नहीं आते। लेकिन बाजार जब मन्दा होता है-आमदनी का द्वार बन्द होजाता है तब उनकी आँखें खुलती हैं। उस समय इन खर्चों की बुराइयाँ उनकी समझ में आती हैं। ऐसे समय में वह परोपकार के कार्यों को पहले बन्द करते हैं, जहाँ धन का विशेष और अनावश्यक व्यय होता है वहाँ फिर भी व्यय करते रहते हैं। प्रकृति से भद्र मनुष्य परोपकार का कार्य कड़ी से कड़ी और बड़ी से बड़ी मुसीबत आने पर भी बन्द नहीं करते। एक दन्तकथा प्रसिद्ध है:—

युद्ध के समय महाराणा प्रताप, जंगल में एक छोटे से खेमे में परिवार सहित रहते थे। नौकर अगर कोई रहा होगा तो केवल

भील। बादशाह अकबर ने ऐसे समय राणा की शक्ति और धैर्य की परीक्षा करने का विचार किया। स्वयं अकबर फकीर का भेष बना कर उस जंगल में जा पहुँचा। वह राणा के खेमे पर पहुँचा। सूचना मिलने पर राणा प्रताप बाहर आये। फकीर ने कहा—राणाजी, आपका बड़ा नाम और प्रताप सुनकर आया हूँ। चांदी के थाल में मेवे की खिचड़ी खाना चाहता हूँ। खिलाओगे?

फकीर की याचना से राणा को मार्मिक व्यथा होने लगी। राणा ने सोचा—यहाँ जंगली फल फूल खाकर काम चलाया जा रहा है और फकीर चांदी की थाली में मेवा की खिचड़ी मांग रहा है। यह कोई असाधारण घटना है। साधारण फकीर की यह माँग नहीं हो सकती। मैं नांहीं करूं तो कैसे? और हाँ करके खिलाऊँ कैसे?

राणा ने फकीर को बैठने का आमन्त्रण दिया और आप खेमे में गया। राणा का धैर्य जवाब दे रहा था। अतिथि का यथेष्ट सत्कार न कर सकते हुये जीवित रहने से तो मृत्यु होजाना श्रेष्ठ है। इस प्रकार विचार कर उन्हों अपघात करना निश्चित कर लिया। पीछे के द्वार से निकल कर राणा जंगल में चले गये और सोचने लगे—किस प्रकार मरना चाहिये? संयोग से उस समय एक मनुष्य लदा हुआ बैल लेकर उनके समीप आया और कहने लगा—आप थोड़ी देर बैल को थामे रहें तो मैं शौच हो आऊँ। राणा ने सोचा मुझे मरना तो है ही; अन्तिम समय में इसका छोटा सा काम क्यों न करदूँ? राणा ने बैल पकड़ लिया। बैल का मालिक आँखों से ओझल होगया। वह गया सो सदा के लिए चला गया, फिर लौट कर न आया। राणा ने उसे आवाजें लगाई। चिल्ला-चिल्ला कर

…ा, मगर प्रतिध्वनि के सिवाय और कहीं से कोई उत्तर न
…ा।

इधर राणा को खेमे में न देख परिवार के लोग चिन्ता में
…गये। कुछ लोग इधर उधर खोजने निकले। राणा मिले, बैल को
… हुए। उन्होंने ऐसा करने का कारण पूछा। राणा ने सब
…न्त कहा और बैल के स्वामी को खोज निकालने का आदेश
…ा। लोग उसकी तलाश में निकले। पैरों के निशान देखते वे
…गे बढ़े तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न था। कुछ ही दूर जाकर
…ों के निशान गायब थे। जान पड़ता था—वह अचानक विलीन
…गया है।

लाचार राणा बैल लिये अपने खेमे पर आये। बैल पर
…दी गौन उतार कर देखा तो उसमें एक ओर मेवा भरा था, दूसरी
…ोर चाँदी के थाल!

राणा ने मेवा की खिचड़ी बनाई और फकीर वेषधारी
…ादशाह को इच्छा-भोजन कराया। बादशाह यह देखकर हैरान
…ह गया। 'प्रकृति जिसका साथ दे रही है, उसे कौन हरा सकता
…है?' इस प्रकार सोचता हुआ बादशाह वहाँ से चल दिया।

ऐसी ही एक कथा सुप्रसिद्ध यूरोपीयन वीर नैपोलियन
बोनापार्ट के विषय में भी प्रचलित है। कहते हैं, नैपोलियन की
माता ने, एक बार उससे कुछ पैसे मांगे। नैपोलियन के पास पैसे
नहीं थे। उसे बड़ी लज्जा हुई और वह मरने का सङ्कल्प करके,
नदी की ओर चला। इसी बीच उसके एक मित्र ने आकर उसके
हाथ में रुपयों से भरी थैली दी और कहा—ज़रा इसे लीजिए।

मैं लघुशंका कर आता हूँ।' थैली देकर वह मित्र ऐसा गायब हुआ कि फिर आया ही नहीं।

इन कथाओं का तात्पर्य यह है कि प्रकृति के उदार मनुष्य सत्य के काम को कभी नहीं बिगाड़ते और प्रकृति भी उनकी सहायता करती है।

आज लोग आय कम होने पर सब से पहले धर्म और परोपकार के कार्य बन्द करते हैं, लेकिन भोग-विलास के अनावश्यक और पापमय कार्यों को बन्द नहीं करते। सच्चे गृहस्थ का यह लक्षण नहीं है। सच्चा उदाराशय गृहस्थ मृत्यु-पर्यन्त भी परोपकार के कार्य बन्द नहीं करता।

सुमुख में दान का गुण था। वह सच्चा दानवीर था और साथ ही खान-पान सम्बन्धी विचार रखता था। कौन वस्तु भक्ष्य है, कौन अभक्ष्य है, इस बात का उसे पूरा खयाल था। ऐसा न होता तो मुनिराज उसके घर गोचरी के लिए कैसे आते?

सुमुख प्रकृति से उदार था। यदि वह क्रोधी होता, अतिथि-सत्कार न करता होता, अपने घर आये का अनादर करता होता तो मुनि के समान उत्तम पात्र की प्राप्ति उसे कैसे होती?

गृहागत अतिथि का आदर करने से क्या लाभ होता है, यह बात एक दृष्टान्त द्वारा समझना सुगम होगा:—

किसी राजा के हाथ में एक छाला हो गया। उस छाले का नाम मोती छाला था और वह बड़ा विषैला था। चिकित्सकों ने

राजा से कहा—अगर शस्त्र से इसकी चीरफाड़ की गई तो आपका बचना कठिन होगा। यह छाला अगर हंस की चोंच से फूटे तो अच्छा हो जायगा।

राजा ने चिन्तित होकर कहा—हंस मिले और वह छाले को फोड़े! ऐसा योग कब और कैसे मिलेगा!

चिकित्सकों ने कहा—उद्योग करने वालों के लिए कोई बात असम्भव नहीं है। राजहंस के मिलने का उपाय हम बतलाते हैं।

राजा के पूछने पर चिकित्सकों ने कहा—समुद्र के किनारे, ऊँची छत पर, एक तख्ता कटवाकर आप उसके नीचे सो रहिये। कटे हुए तख्ते के नीचे हाथ इस प्रकार रखिए कि केवल छाला ही बाहर दीखे—आपका शरीर और शेष हाथ भी तख्ते के बाहर न दिखलाई पड़े। उस छाले के आस-पास मोती बिखेर दीजिए और वहीं अन्य पक्षियों का भी भोजन रख दीजिये, जिससे अन्य पक्षी भी वहाँ एकत्र हो जावें। पक्षियों को देख कर पक्षी आते हैं। इस उपाय से, सम्भव है, राजहंस भी आजावे और अपनी चोंच से, मोती समझ कर आपका छाला भी फोड़ दे।

मरता क्या न करता? इस कहावत के अनुसार राजा ने ऐसा ही किया। संयोग से अन्यान्य पक्षियों की तरह एक दिन राजहंस भी वहाँ उतर आया। मोती समझ कर उसने छाले में चोंच मारी। छाला फूट गया। राजा को अत्यन्त शान्ति का अनुभव हुआ।

राज को अन्य पक्षियों से प्रयोजन नहीं था। उसे केवल राजहंस की अपेक्षा था। मगर यदि वह उदारता से काम न लेता–अन्य पक्षियों को दान न देता, या उनके आने पर उन्हें मार भगाता, तो क्या राजहंस उसके पास फटकता ?

'नहीं !'

राजा को जैसा छाला था, वैसा ही छाला आपको मोहनीय कर्म का है। मोहनीय कर्म रूपी विषैले छाले को फोड़ने के लिए आपको महानिर्जरा रूपी चोंच की आवश्यकता है और वह भी साधु रूपी राजहंस की चोंच होनी चाहिए। लेकिन जैसे राजा अगर अन्य पक्षियों को भगा देता होता तो राजहंस उसके पास न आता, इसी प्रकार आप अपने घर आये अतिथि—भिखारी का अपमान करके केवल सुपात्र साधु की इच्छा करोगे तो साधु कैसे आएँगे ? पक्षी को उड़ाते देख दूसरा पक्षी भी उड़ जाता है। इसी प्रकार साधु जब आपको अन्य अतिथियों—भिखारियों का अपमान करते देखेगा तो वह आपके यहाँ क्यों आवेगा ?

भगवान् ने तुंगिया नगरी के श्रावकों के विषय में कहा है–'उस्सियफलिहा' अर्थात् उन्होंने अपने घर के द्वार इसलिये खुले रक्खे हैं कि बेरोकटोक कोई भी आकर दान ले जावे।

कई लोग कहा करते हैं कि साधु किवाड़ खोलकर नहीं आते हैं, मगर भिखारी तो किवाड़ खोलकर भी आ जाते हैं। अतएव साधु के आगमन की भावना से किवाड़ खोलकर बैठना चाहिए। लेकिन यहाँ केवल साधु के लिए ही किवाड़ खुले रखना

नहीं बताया, किन्तु भिक्षुक मात्र के लिये किवाड़ खुले रखना कहा गया है।

तात्पर्य यह है कि अन्य पक्षियों के आने पर जैसे राजहंस भी कभी आ जाता है, इसी प्रकार सर्वसाधारण पर अनुकम्पा का भाव रखने से, अपने घर आये का तिरस्कार न करते हुए दया दिखलाने से, संयोगवशात् कभी मुनि रूपी राजहंस भी आ जाएँगे और उन्हें दान देने से महानिर्जरा होगी।

प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के लिए अनेक कारणों की आवश्यकता रहती है। उसमें कोई मुख्य और कोई गौण होता है। यों तो वृक्ष की विशेषता फलवान् होने में है, पर फलवान् होने के लिए उसमें डाली, पत्ता, फूल आदि भी चाहिए ही। मूर्खों की कल्पना कुछ भी हो, पर ज्ञानी किसी भी बात पर पूरी तरह विचार करते हैं। यहाँ सुमुख गाथापति को अड्ढे दित्ते और अपरिभूए कहने की क्या आवश्यकता थी? भगवान् ने केवल इतना क्यों न कह दिया कि सुमुख सुपात्रदान देकर 'सुबाहुकुमार' बन गया है। वस्तुतः इसी प्रकार के विचार से वस्तु की पूर्णता समझ में आती है।

सुमुख को ऐसा उत्तम सुपात्रदान का योग किस प्रकार मिला? यह बतलाते हुए भगवान् फरमाते हैं:—

तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसा नामं थेरा जाइसंपन्ना जाव पंचहिं समणसएहिं सद्धिं संपरिवुडा पुव्वाणुपुव्विं चरमाणा, गामाणुगामं दूइज्जमाणा, जेणेव हत्थिनाउरे नयरे, जेणेव सहस्सम्ब-वणे उज्जाणे, तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति॥

अर्थात्—उस काल और उस समय में, धर्मघोष नामक स्थविर जाति से सम्पन्न यावत् पाँच सौ श्रमणों सहित पूर्वानुपूर्वी से विचरते हुए, ग्राम-ग्राम भ्रमण करते हुए, हस्तिनापुर नगर में, सहस्र-आम्रवन नामक उद्यान में पधारे। वहाँ पधार कर यथायोग्य आज्ञा लेकर संयम और तप से आत्मा को संस्कृत करते हुए विचरने लगे।

पहले के नामों से स्पष्ट जान पड़ता है कि वह गुण की यथार्थता के कारण रक्खे जाते थे। यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि नाम के अनुसार गुण हो ही, फिर भी जब ऐसा होता है तो व्यक्ति का नाम ही उसके गुण का परिचायक बन जाता है। पूज्य श्री शिवलालजी महाराज के पास एक मुनि थे, जिनका नाम चतुर्भुज था। उनमें क्षमा गुण की अधिकता थी, अतएव उनका नाम क्षमा-सागर' रक्खा गया था। उनका यह नाम इतना अधिक प्रचलित हुआ कि पहले का नाम लगभग लुप्त हो गया और उसे बहुत कम लोग समझते थे।

जो धर्म के वाद द्वारा संसार को जगाता है वह धर्मघोष कहलाता है। धर्मघोष मुनि स्थविर थे।

'स्थविर' पद साधारण नहीं है। शास्त्र में स्थविर की महिमा का वर्णन किया गया है और भगवान् ने स्थविर को तीर्थङ्करों के वचनों का अनुवादक कहा है। जैसे राजा के बाद दूसरे दर्जे पर प्रधान होता है उसी प्रकार तीर्थङ्कर के पश्चात् दूसरे नम्बर पर स्थविर की गणना होती है। जैसे राज्यसत्ता को कायम रखने और

प्रजा के सुख-दुःख को जान कर उसमें सुख-शान्ति फैलाने वाले को प्रधान कहते हैं, इसी प्रकार जो अरिहंत भगवान के धर्म को स्थिर करता है, फैलाता है और उसके द्वारा जगत में शान्ति का प्रसार करता है, वह स्थविर कहलाता है।

धर्मघोष स्थविर भी ऐसे ही थे। उनके विषय में, शास्त्र में, लिखा है—जाइसंपन्ना, कुलसंपन्ना, बलसंपन्ना एवं विणय-णाण-दंसण-चरित्त लज्जा-लाघवसंपन्ना, ओयंसी, तेयंसी, वच्चंसी, जसंसी आदि। अर्थात् धर्मघोष मुनि जाति से सम्पन्न, कुल से सम्पन्न, बल से सम्पन्न, तथा विनय, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, संयम और लाघव से सम्पन्न थे; ओजस्वी थे, तेजस्वी थे, वर्चस्वी थे और यशस्वी थे।

साधु अवस्था की श्रेष्ठता प्रायः जाति और कुल की श्रेष्ठता पर निर्भर है। मातृ-पक्ष को जाति और पितृ-पक्ष को कुल कहते हैं। जिस व्यक्ति का मातृपक्ष और पितृपक्ष संस्कृत और धर्म-परायण होगा, वह स्वयं सुसंस्कारी और धर्मप्रेमी होगा, क्योंकि बाल्यावस्था के संस्कार आजीवन टिकते हैं और जीवन के निर्माण में उनका बड़ा भाग होता है।

साधुओं की गति संसारियों के हाथ में है, क्योंकि संसार-समाज से ही साधु आते हैं। संसार-समाज अगर शुद्ध रहेगा तो उस के संस्कारों से संस्कृत साधु भी शुद्ध रहेंगे और यदि वह समाज ही शुद्ध न होगा—मूल ही अशुद्ध रहेगा, तो साधु शुद्ध कैसे रह सकेंगे! एक दृष्टान्त से यह बात समझनी चाहिए।

एक बाबाजी थली प्रदेश में—मरुभूमि में—जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने सुन्दर व गोल गोल फल देखे। बाबाजी को भूख और प्यास

सता रही थी। फल देखते ही बाबाजी को बड़ी खुशी हुई। कहने लगे–यह प्रदेश कितना सुन्दर है जहाँ इतने सुन्दर और गोलाकार फलों की बहुतायत है। पर न जाने यह कौन से फल हैं? भूखे बाबाजी से न रहा गया तो उन्होंने एक फल तोड़ा और मुँह में रख लिया। फल का मुँह में जाना था कि मुँह कडुवा जहर होगया। उन्होंने फल थूक दिया और सोचने लगे–इतने सुन्दर फल में इतनी कटुकता कहाँ से आई? बाबाजी ने उसके पत्ते चखे, बेल चखी, तो वह भी कटुक! उन्होंने जड़ उखाड़ कर चखी और वह भी कटुक निकली। बाबाजी ने सोचा–जिस वृक्ष की जड़ ही कडुई है, उसका फल मधुर कैसे हो सकता है?

बाबाजी आगे चले। कुछ दूर चलने पर उन्हें तरबूज (मतीरे) दिखाई दिये। कडुवे फलों को वह मन ही मन कोस रहे थे, अतः तरबूजों को भी उन्होंने उन्हीं का भाई-बंद समझा। कहने लगे—जब छोटे फल इतने कटुक हैं तो बड़े फल कितने कटुक न होंगे!

बाबाजी को देख कर एक किसान ने उन्हें तरबूज खाने का आमन्त्रण दिया। बाबाजी भड़के हुए तो थे ही, किसान को बड़-बड़ाने लगे। बोले—चल, रहने दे इन फलों को। न जाने यहाँ की धरती कैसी विचित्र है कि उसमें जहर के फल लगते हैं। पेट की आंतें तक कडुई होगई हैं।

किसान सारी बात समझ गया। उसने शान्त स्वर में कहा-बाबाजी, आप भ्रम में हैं। सब धान बाईस पंसेरी नहीं तुलता। आप इन्हें चख कर देखिए तो मालूम होगा!

बाबाजी बोले—ये भी गोल थे और ये भी गोल गोल हैं। तब यह मीठे कैसे होंगे ?

किसान ने कहा—गोल तो लड्डू भी होते हैं। आप गोलाई से न घबराइए, चख कर देखिये।

बाबाजी ने मतीरा चखा और उसकी ठण्डी २ मिठास पर मुग्ध हो गये। कहने लगे—भाई, मैं भ्रम में था। वास्तव में यह फल बड़ा मधुर है। इसके बाद उन्होंने मतीरे की जड़, बेल, पत्ते आदि जांचे। सब में मिठास था, किसी में कटुकता न थी। बाबाजी ने कहा—जिसकी जड़ मीठी है, उसके फल में मधुरता क्यों न होगी ?

सारांश यह कि मूल की मधुरता पर फल की मधुरता निर्भर करती है। कुल का अर्थ है—पिता का कुल, और जाति का अर्थ है-माता का कुल। माता पिता संसार के मूल हैं। जिसे अच्छे पुत्र और अच्छे साधु चाहिए, उसे उनके मूल को सुधारने की चेष्टा करनी चाहिए। मूल का सुधार जब तक न होगा तब तक लड़के कडुए फल की तरह होंगे। जब मूल सुधर जायगा तो लड़के मतीरे के समान होंगे। जिसकी माता निष्कलंक होगी, व्यवहारकुशल और ईमानदार होगी, वही पुत्र जाति-सम्पन्न होगा। इसी प्रकार जो पिता धर्मसम्पन्न है, विश्वासघातकता आदि दुर्गुण जिसमें नहीं हैं, जो लज्जाशील और नीतिमान है, प्राण जाने पर भी बुरा काम नहीं करता है, उसका पुत्र कुल-सम्पन्न होता है।

आशय यह है कि जाति और कुल की सम्पन्नता के बिना साधु अच्छे संस्कार वाले नहीं बनते। जाति और कुल का प्रभाव

साधुओं में भी अन्त तक बना रहता है। यही सूचित करने के लिए भगवान् ने स्पष्ट कर दिया है कि धर्मघोष स्थविर जाति और कुल से सम्पन्न थे।

जाति और कुल से सम्पन्न होने पर भी कभी कभी कोई कोई व्यक्ति कुसंगति के चक्कर में पड़कर कुसंस्कारी बन जाता है, किन्तु धर्मघोष मुनि ऐसे न थे। वे विनय आदि अनेक सद्गुण रूपी मणियों से विभूषित थे। वे विनय सम्पन्न थे, ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सम्पन्न थे, संयम लाघव से सम्पन्न थे, ओजस्वी थे, तेजस्वी थे, वर्चस्वी थे और यशस्वी थे। तात्पर्य यह है कि जिसमें यह सब गुण पाये जाते हैं वही स्थविर पद का अधिकारी होता है। इन सद्गुणों से मण्डित महापुरुष स्वयं स्थिर रहता है और दूसरों को भी धर्म पर स्थिर रखता है।

धर्मघोष मुनि पांच सौ मुनियों के परिवार के साथ छोटे बड़े की रीति से ग्राम ग्राम विचरते हुए हस्तिनापुर नगर में सहस्र आम्रवन उद्यान में पधारे।

आज कल के लोग आश्चर्य करेंगे कि एक ही नगर में, एक साथ पांच सौ मुनियों का निर्वाह कैसे हुआ होगा? इतने मुनियों को निर्दोष भिक्षा कैसे मिली होगी?

मगर इस प्रकार के आश्चर्य के लिए वास्तव में कोई आधार नहीं है। जब तक संसार धर्ममार्ग नहीं पकड़ता है, तभी तक साधुओं को कष्ट हो सकता है। इसके विपरीत जहाँ गृहस्थ धर्म का भलीभांति पालन होता है, वहां पाँच सौ की तो बात ही

क्या, इससे भी अधिक साधु हों तो उनके निर्वाह में कोई कठिनाई नहीं होती। आज गृहस्थों में, गृहस्थ-धर्म के प्रति पर्याप्त तत्परता नहीं दिखाई देती। साधु भी गृहस्थों का गृहस्थ-धर्म के प्रति कम ध्यान आकर्षित करते हैं। इसी कारण यह आश्चर्य होता है। पहले के गृहस्थ अतिथि-सत्कार करना अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते थे। उन्हें यह पाठ पढ़ाया जाता था—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो, गृहात् प्रतिनिवर्त्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्वा, पुण्यमादाय गच्छति॥

अर्थात्—जिस घर से अतिथि निराश होकर लौटता है, वह लौटने वाला अतिथि अपना पाप उस गृहस्थ को दे जाता है और उसका पुण्य आप ले जाता है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि पुण्य-पाप का आदान-प्रदान संभव नहीं है, अतः उपर्युक्त कथन मिथ्या है या मिथ्यात्वियों का है। यह कहना एकान्ततः ठीक नहीं। उक्त कथन में नीति का तत्त्व विद्यमान है और नीति सबके लिये होती है। उसमें सत्य भरा हुआ है। यह आलंकारिक भाषा है। अतः भाषा के अलंकार को एक ओर हटाकर मूल वस्तु पर विचार करना चाहिए। कथन में चमत्कार लाने के लिए कवि अलंकारों का प्रयोग करते आये हैं और आजकल भी किया करते हैं। बातचीत में लोग कहा करते हैं- 'इनका पांव बाहर बहुत निकल आया है।' इस वाक्य का अर्थ अगर शब्दों को पकड़ कर लगाया जायगा तो कुछ भी मतलब न निकलेगा, आलंकारिक भाषा के कहने में जो बात होती है, वह सीधी तरह कहने में नहीं होती।

कहा जा सकता है कि तीर्थंकर भगवान् तथा अन्य महात्माओं की वाणी में अलङ्कारों की क्या आवश्यकता है ? वे सीधी सादी व्यवहारू भाषा में ही अपनी बात क्यों नहीं कहते ? संसार के समस्त अलंकारों का त्याग करने वाले भाषा के अलङ्कारों का त्याग क्यों नहीं करते ?

इस प्रश्न का समाधान एक दृष्टान्त द्वारा करना समुचित होगा। कल्पना कीजिये—एक स्त्री पुत्रवती है और दूसरी वंध्या है। पुत्रवती स्त्री पुत्रजन्म आदि व्यवहारों से परिचित है और वन्ध्या अपरिचित है। पुत्रवती अपने पुत्र को चलना सिखाने के लिये आप पुत्र की चाल से चलेगी या पुत्र को अपनी चाल में चलाएगी ? अगर पुत्र को घसीट कर वह अपनी चाल से चलाएगी तो निर्दया कहलाएगी। सहृदया स्त्री स्वयं पुत्र की चाल से चलेगी। अगर वन्ध्या स्त्री, पुत्रवती स्त्री की बाल-चाल की आलोचना करने लगे तो वह यही कहेगी कि तुम इस तथ्य को नहीं समझतीं। मैं अपने पुत्र को चाल सिखा रही हूँ।

पुत्र को बोलना सिखाने के लिये माता तोतली बोली बोलती है। वन्ध्या स्त्री उसकी बोली की आलोचना करेगी तो वह साफ कह देगी—'मुझे अपने बच्चे को बोलना सिखाना है, वह जिस ढंग से सीखेगा, उसी ढंग से बोलना सिखाऊँगी।'

भक्त तुकाराम ने एक जगह कहा है—

अर्भका चीसाठीं, वंते हा तीं धरिलीं पाटी ॥ १ ॥
तैसे संत जगीं, क्रिया करू निदावित्ती अंगी ॥ २ ॥

वालकाचे चाली। माता जाणु निपाडलवाली ॥३॥
तुकाह्म लेना व, जन्म साठीं उद्को ठाव ॥४॥

अर्थात् शिक्षक जब बच्चे को सिखाने बैठता है तब प्रकांड विद्वान् होने पर भी बच्चे को पढ़ाने के उद्देश्य से, पट्टी लेकर अ, आ, इ, ई, रटता है। अगर उच्च कक्षा का शिक्षक उसे वर्णमाला बोलते देख उसकी हंसी करने लगे तो उसे यही उत्तर मिलेगा—मैं अपने लिए नहीं, वरन् बच्चों के लिए पढ़ रहा हूँ।

यही बात भाषा के सम्बन्ध में तीर्थङ्करों के लिए कही जा सकती है। ज्ञानियों में अनन्त बल, अनन्त ज्ञान और अनन्त विज्ञान था। उनका द्रव्यानुयोग यथार्थ है। चरण-करणानुयोग गृहस्थों के लिये और साधुओं के लिए है। लेकिन प्रथमानुयोग—कथा वार्त्ता आदि बच्चों के लिए अर्थात् साधारण समझ वाले व्यक्तियों के लिए है। यह कथा वार्त्ता बिना अलङ्कार शोभा नहीं देती। यही कारण है कि कथाओं में अलङ्कारों को स्थान दिया गया है। उनमें शब्द कुछ और हैं, पर अर्थ उनका कुछ और है। संसार के हित की कामना से प्रेरित होकर महात्माओं ने सर्वसाधारण की बोली का ही प्रयोग किया है। उनका उद्देश्य संसार को सुधारना था, अतः उन्होंने वही पद्धति अख्तियार की है, जिससे संसार का अधिक से अधिक सुधार हो। संसार कैसे सुधरता है, यह बात उन्हें भलीभांति विदित थी। उनकी गति वही जानें। हमें उनकी बातों पर शंका नहीं होनी चाहिए।

जैनदर्शन की आत्मा द्रव्यानुयोग है। उस आत्मा को अगर जानना है तो द्रव्यानुयोग का अध्ययन कीजिए। आज सर्व-

साधारण का ध्यान इस ओर नहीं है, मगर ऐसा किये विना—अध्ययन की गहराई में पहुँचे विना यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि ठीक क्या है ? और क्या नहीं ?

किसी बात की परीक्षा करने के लिए उसके वक्ता की परीक्षा करने की भी आवश्यकता रहती है। जिसका वक्ता आप्त होता है अर्थात् पूर्ण ज्ञानी और वीतराग होता है, वह बात असत्य नहीं हो सकती; क्योंकि वहाँ असत्य का कोई कारण नहीं रह जाता। इस कसौटी पर तीर्थंकरों की परीक्षा करो। उनके उदार और उदात्त चरित की ओर ध्यान दो। सर्वप्रथम उन्होंने अपना बहुमूल्य वैभव त्याग किया, सर्वस्व को अपनेपन की मर्यादा से बाहर कर दिया और एकान्त में जाकर वर्षों तक तीव्र तपस्या करके ज्ञान प्राप्त किया। जब तक उन्हें सम्पूर्ण सत्य उपलब्ध न हो गया तब तक उन्होंने मौन धारण किया—धर्मोपदेश के नाम पर एक शब्द न बोले। क्या यह साधारण बात है ? जगत्-कल्याण के हेतु उन्होंने अनेक परीषह सहन किये हैं। आज उनके संघ को देखो। हालांकि काल-दोष से अब संघ के सदस्यों में—साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका में—पहले जैसी शक्ति विद्यमान नहीं है, कदाचित् पहले के समान प्रबल भावना भी नहीं है, फिर भी वे अनेक दुस्सह परीषह सहते हैं, लम्बे-लम्बे उपवास करते हैं। इस क्षीण रोशनी में भी प्रभावशाली अतीत की एक झांकी दिखाई दे सकती है। इस गये बीते जमाने में भी जो संघ इतनी भावना कायम रखे हैं, उसके प्रभु धर्म-युग में कैसे रहे होंगे, यह कल्पना करना कठिन नहीं है।

अब मूल प्रश्न पर विचार कीजिये। क्या पुण्य-पाप देने लेने की वस्तु है? दर असल पुण्य-पाप ऐसे कोई स्थूल पदार्थ नहीं हैं, जिनका आदान प्रदान-लेन-देन सम्भव हो, फिर भी व्यवहार में ऐसा होता है। मान लीजिए, आपके घर मुनि आये। उससे आपको पुण्य की प्राप्ति हुई। तो मुनि का आगमन पुण्य का निमित्त कारण ठहरा। इसी प्रकार अन्य अतिथि भी पुण्य का निमित्त बनता है। अर्थात् आगत अतिथि की यथोचित सेवा शुश्रूषा की जाय तो पुण्यो-पार्जन होता है। इसी बात को दूसरे शब्दों में कहते हैं-अतिथि का सेवा-सत्कार गृहस्थ को पुण्य प्रदान करता है। अगर गृहस्थ उस अथिति की आशा भंग करदे तो क्या उसे पुण्य होगा?

'नहीं!'

जब निमित्त कारण को मुख्यता दी जायगी तो कह सकते हैं—पुण्य के कारण मुनि या अतिथि आये। आगत अतिथि को गृहस्थ ने यदि दुर्वचन कहे, उसका तिरस्कार किया और वह अतिथि शांति-पूर्वक बिना किसी क्षोभ के दुर्वचनों को सह कर चला गया तो पुण्य ले गया या नहीं? और गृहस्थी को दुर्वचन कहने का पाप दे गया या नहीं?

मित्रो! केले के वृक्ष के छिलके निकाले जांय तो अन्त तक छिलके ही छिलके निकलेंगे और कुछ नहीं। अगर उस वृक्ष को, वृक्ष के रूप में ही खड़ा रहने दिया जाय तो वह मधुर फल प्रदान करेगा। इसी प्रकार अगर धर्म के छिलके उतारोगे तो सार हाथ न लगेगा। धर्म को धर्म के रूप में ही देखोगे तो वह मधुर फलदायक सिद्ध होगा। धर्म के प्रति सन्देह रखने से काम चलना नहीं है। अगर जीवन को

ऊँचा उठाना है तो धर्म का आधार अनिवार्य है। धर्म को छोड़ कर और कौनसी वस्तु है जिसके सहारे तुम उच्च जीवन का निर्माण कर सकते हो ?

शास्त्र और साहित्य की रचना का मर्म ज्ञानी ही जानते हैं। साधारण मनुष्य को उसके छिलके उतार कर फल से वंचित होना ठीक नहीं है।

अब धर्मघोप मुनि के प्रसंग पर आइए। आर्यावर्त्त में, प्राचीन काल में अतिथिसत्कार की भावना बहुत व्यापक थी। उस समय किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता या अन्य कोई संकीर्णता अतिथिसत्कार में बाधक न थी। यह जैन मुनि हैं, इसलिए जैन ही इन्हें आहार दें—हम क्यों दें ? इस तरह की क्षुद्र भावना जनता में रंचमात्र भी न पैठने पाई थी। इस स्थिति में हस्तिनापुर जैसे विशाल नगर में पाँच सौ मुनियों का निर्वाह होना कठिन न था।

पाँच सौ मुनि ग्राम ग्राम विचरते हुए आये। वह दृश्य कितना प्रशस्त होगा ! उस समय का वातावरण कितना भावमय और कितना आकर्षक होगा, जब मुनिजन किसी वृक्ष के नीचे या किसी धर्म-स्थानक में आसीन होकर धर्म का उपदेश देते होंगे ! वास्तव में ऐसे सुधारकों से ही धर्म फैल सकता है और सुधार हो सकता है। स्वयं आचारनिष्ठ महात्मा पुरुष ही दूसरों को आचारवान बना सकते हैं। पैसे के लोभी उपदेशक क्या खाक सुधार कर सकते हैं !

धर्मघोप मुनि पाँच सौ शिष्यों सहित हस्तिनापुर आये और सहस्राम्रवन नामक उद्यान में विराजमान हुए। अपने कल्प के

अनुसार अभिग्रह करके धर्मक्रिया में विचरने लगे।

ते णं काले णं ते णं समए णं धम्मघोसाणं थेराणं अन्तेवासी सुदत्ते नामं अणगारे उराले जाव तेउलेस्से मासंमासेण खममाणे विहरइ ॥

अर्थात्—उस काल और उस समय धर्मघोष स्थविर के अन्तेवासी सुदत्त नामक अनगार थे। वे उदार यावत् तेजोलेश्या वाले तथा एक एक मास तपस्या करके पारणा करने वाले थे।

'अन्तेवासी' शब्द का अर्थ है—समीप रहने वाला, पर समीप रहने वाले से यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिए कि वह रात दिन अपने गुरु के पीछे पीछे फिरते रहते थे। यहां 'अन्तेवासी' से शिष्य का अभिप्राय है।

पहले कहा जा चुका है कि पहले के नाम गुणनिष्पन्न होते थे। यह सुदत्त अनगार भी यथानाम तथागुण थे। सुदत्त मुनि बड़े ही उत्साही, घोर तपस्या करने वाले—ऐसी तपस्या करने वाले कि जिसे देखकर कायरों के हृदय में कँपकँपी छूटने लगती थी। उनका आचरण देखकर जनता में उत्कृष्ट धर्म-भावना जाग उठती थी।

जिसमें बहुत से गुण हों और उन सब गुणों का समुचित रूप से वर्णन न किया जा सकता हो तो उनमें से एक मुख्य गुण का वर्णन करने से समस्त गुणों का पता चल जाता है। राजा के मुकुट का वर्णन करने से उसके तमाम आभूषणों की कल्पना हो जाती है। सेठ साहब की पगड़ी का वर्णन उनकी पूरी पोशाक का

परिचायक होता है। इसी प्रकार सुदत्त नामक अन्तेवासी के प्रधान गुण के वर्णन से ही उनकी वास्तविकता समझी जा सकती है।

सुदत्त अन्तेवासी मास मास की तपस्या करते थे। मास मास दो बार कहने का तात्पर्य यह है कि लम्बे काल तक उनकी यह तपस्या जारी रही। वे एक वर्ष में बारह बार ही भोजन करते थे।

जो मुनि महीने में एक ही बार भोजन करते थे, वे विहार कैसे करते होंगे और उनके शरीर की स्थिति कैसी हो जाती होगी ? यह प्रश्न आज जैनधर्म के अनुयायियों के हृदय में भी उठता है, तो दूसरे के हृदय में भी अगर उठे तो क्या आश्चर्य है ?

वह मुनि धन्य है जो आज के गये-बीते जमाने में, शारीरिक अशक्ति के समय में और धर्मभावना की न्यूनता वाले इस युग में भी, एक-एक, दो-दो महीने की तपस्या करते हैं। आज भी ऐसे तपस्वी मुनि मौजूद हैं तो प्राचीन काल में महीने-महीने की तपस्या करने वाले मुनि महात्माओं का होना कौन अचरज की बात है ? यदि यह मुनि इस कलिकाल में ऐसी तपस्या न कर दिखाते तो जैनधर्म का तपस्या का उपदेश केवल वाग्विलास ही ठहरता।

दो-दो महीने की तपस्या करने वाले मुनि प्रायः आडम्बर के लिए अनशन नहीं करते। वह अपने आत्मा में अपूर्व जागृति लाने के लिए ही तप करते हैं, आत्म-तत्त्व का चिन्तन करने के लिए और अपनी मूक भाषा द्वारा संसार भर में धर्मतत्व गुंजाने के लिए तपस्या करते हैं। इस गूंज से जनता में उत्साह उत्पन्न होता है और वह भी धर्मकार्य की ओर प्रवृत्त होती है।

मित्रो ! धर्म में उत्साह रक्खो, श्रद्धा विना, भक्ति विना जो भी क्रिया की जाती है, सब रूखी है। याद रखना, रूखी क्रिया का परिणाम भी रूखा ही होता है। ऊसर भूमि पर चाहे मूसलधार वर्षा क्यों न हो, पर वहाँ अंकुर नहीं उगता।

तएणं से सुदत्ते अणगारे मासखमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ, जहा गोयमसामी तहेव धम्मघोसे थेरे आपुच्छइ। (जाव) अडमाणे सुमुहस्स गाहावइस्स गेहे अणुपविट्ठे॥

अर्थात्—तत्पश्चात सुदत्त अनगार ने, मास खमण के पारणे के दिन पहली पोरसी में स्वाध्याय किया, दूसरी में ध्यान किया और तीसरी पोरसी में, गौतम स्वामी ने जैसे भगवान् महावीर की आज्ञा मांगी थी उसी प्रकार उन्होंने धर्मघोष स्थविर से आज्ञा ली और गौतम स्वामी की भाँति भिक्षा के लिये अटन करते हुए सुमुख गाथापति के घर में प्रविष्ट हुए।

धर्मघोष मुनि के शिष्य सुदत्त अनगार के मास खमण तप का आज पारणा-दिवस है। मास खमण का पारणा होने पर भी सुदत्त अनगार स्वयं गोचरी के लिए जाते हैं।

सुदत्त मुनि ने धर्मघोष स्थविर को नमस्कार किया और कहने लगे—'भगवन् ! मैं एक इच्छा करता हूँ।'

धर्मघोष—मुने ! तुम्हारी क्या इच्छा है ?

सुदत्त—प्रभो ! आज मासखमण का पारणा है, अतः गोचरी जाने की आज्ञा माँगता हूँ।

धर्मघोष—जहासुहं देवाणुप्पिया, मा पडिबंधं करेह—अर्थात्—हे देवों के प्यारे! जिस प्रकार तुम्हें सुख हो, वही करो। विलम्ब न करो।

मित्रो! सुदत्त मुनि के आचरण की तरफ देखिए। एक मास तक उन्होंने तप किया है। आज पारणा है सो अपने हाथ से गोचरी लाने की आज्ञा माँगते हैं! क्या दूसरे मुनियों से वह गोचरी नहीं मँगा सकते थे? क्या दूसरे मुनि गोचरी लाने से इन्कार कर देते? पर नहीं, तपस्या करके वह आलसी नहीं बनना चाहते थे। आलस्यमय जीवन बिताना संसार के लिए भारभूत होना है।

अनशन बाह्य तपस्या है। बाह्य तपस्या, अभ्यन्तर तपस्या के बिना निर्जीव-सी होती है। अभ्यन्तर तपस्या की साधना के लिए ही बाह्य तपस्या की जाती है। यही कारण है कि सुदत्त मुनि ने पारणे के दिन भी ध्यान और स्वाध्याय रूप आभ्यन्तर तप की उपेक्षा नहीं की। वास्तव में आभ्यन्तर तप से ही बाह्य तप प्रकाशमान होता है। आभ्यन्तर तप के बिना बाह्य तप शोभा नहीं देता।

साधारण लोगों की समझ है कि उपवास होने पर स्वाध्याय नहीं होता, पर ज्ञानियों ने पता लगाया है कि शरीर जैसे-जैसे कृश होता जाता है, अन्तर की भावना वैसे वैसे प्रबल होती जाती है। उस समय आत्मा में जो चेतनता आती है, वह भोजन करने पर नहीं आती। इस सत्य का अनुभव उसे होता है जो आकांक्षाओं से परे रहकर, निष्काम भावना से तपस्या करता है। उपवास की अवस्था में जैसी समाधि रहती है और जो तत्त्व समझ में आता है वह भोजन के नशे में नहीं।

सुदत्त मुनि ने पारणे के दिन पहली पोरसी में स्वाध्याय किया। दूसरी पोरसी में स्वाध्याय को ध्यान के रूप में परिणत किया। तीसरी पोरसी में उत्कण्ठा, चपलता या जल्दबाजी के बिना प्रतिलेखन आदि क्रियाएँ करके गुरु के समीप उपस्थित हुए। गुरुजी को वन्दन-नमस्कार करके, गोचरी के लिए जाने की आज्ञा प्राप्त की।

जिज्ञासा हो सकती है कि जब धर्मघोषमुनि के साथ पाँच-सौ मुनि थे, तब सुदत्त अनगार स्वयं गोचरी लेने क्यों गये? क्या इतने मुनियों में एक भी ऐसा न था जो उन्हें गोचरी ला देता? क्या किसी भी मुनि में तपस्वी का वैयावृत्य करने की भावना नहीं थी? अगर थी तो सुदत्त अनगार स्वयं गोचरी के लिए क्यों गये?

मित्रो! वह महात्मा ऐसा करके हमें बड़ी कल्याणकारी शिक्षा दे गये हैं। उनका यह आचरण सूचित करता है कि जब तक अपने में सामर्थ्य हो, दूसरे के सहारे मत रहो। शक्ति विद्यमान होने पर भी जो दूसरे पर अवलम्बित रहता है, उसे ठाणांग सूत्र में दुख-शय्या पर सोने वाला कहा गया है। आलसी बनकर, सुख में पड़े रहने के लिये साधुत्व अंगीकार नहीं किया जाता। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा है—'चय सोगमल्लं' अर्थात् सुकुमारता का त्याग करो।

गृहस्थ भी, अगर शक्ति होने पर कमा कर नहीं खाता तो घर वालों को शत्रुसा प्रतीत होता है। उसके शरीर में आलस्य घुस जाता है और कुछ दिनों में उसकी तबियत स्वयं घबड़ाने लगती है। तात्पर्य यह है कि चाहे कोई गृहस्थ हो या साधु हो, परावलम्बन सभी को समान-रूप से हानिकारक होता है। परावलम्बन की

भावना ही घृणास्पद है। परावलम्बन साहस-हीनता, दीनता, असमर्थता और रुग्णता आदि अनेक दोषों का जनक है। जो व्यक्ति स्वयं यतना-पूर्वक कार्य करता है, उसके चित्त में एक प्रकार के सन्तोषमय उल्लास का आविर्भाव होता है—वह सुखी होता है।

जो अपने हाथ से काम नहीं करता, आलस्य में विभोर होकर पड़ा रहता है, वह अपनी अन्यान्य शक्तियों के साथ शारीरिक शक्ति को भी खो बैठता है। शारीरिक शक्ति नष्ट हो जाने पर मनुष्य अनेक रोगों का शिकार बन जाता है। जो बहिनें अपने हाथ से यतना-पूर्वक चर्खा नहीं चलातीं, अपने हाथ से भोजन नहीं बनातीं, या ऐसा ही परिश्रम का कोई दूसरा काम नहीं करतीं, वह स्वस्थ और सबल सन्तान को जन्म नहीं दे सकतीं। मैंने एक घटना सुनी थी। किसी करोड़पति सेठ के सन्तान नहीं होती थी। उसने दूसरा विवाह किया। दूसरे विवाह से भी जब सन्तान न हुई तो चिकित्सकों से परामर्श किया गया। चिकित्सक ने बतलाया—सेठानी शारीरिक परिश्रम नहीं करती, इस कारण सन्तान नहीं होती।

चिकित्सक की बात सुनकर सेठानी ने शारीरिक श्रम किया और फल यह हुआ कि सेठानी के सन्तान होने लगी। कहने का तात्पर्य यह है कि उद्योग करना चाहिये। जो बहिन या भाई, धर्म के नाम पर सीधा खाना खाते हैं वह पाप को प्रचण्ड-रूप दे रहे हैं। जो बहिनें आलस्य में पड़ी रहती हैं, उनकी सन्तान निर्बल, रोगी, तथा अल्पायुष्क होती है। वह ब्रह्मचर्य को नष्ट-भ्रष्ट करने वाली होती है। अपनी सन्तान को अगर आप मुसीबत में नहीं डालना चाहते और पीछे पछताना नहीं चाहते तो पहले ही से आपको सावधान हो जाना चाहिए।

जो मनुष्य उद्योगशील होता है, उसे देखकर आलसी की आत्मा काँप उठती है। उद्योगी को देखकर आलसी मनुष्य भी उद्योग के लिए कटिबद्ध हो जाता है। उद्योगी पुरुष, मनुष्य को तो क्या, सारी की सारी प्रकृति को जागृत कर देता है।
प्राकृत भाषा के एक कवि ने कहा है—

तायविढत्ता लच्छी, नूणं पुत्तस्स होइ सा भगिणी।
होइ परस्स परित्थी, सयं विढत्ता तओ जुत्ता॥

अर्थात्—पिता के द्वारा पैदा की हुई लक्ष्मी पुत्र के लिए बहिन के स्थान पर है और दूसरों के लिए परस्त्री के समान है। अतएव अपने पुरुषार्थ से प्राप्त की हुई लक्ष्मी का भोग करना ही योग्य है।

दूसरे दृष्टिकोण से पिता की लक्ष्मी पुत्र के लिए माता के समान भी कही जा सकती है, क्योंकि उस लक्ष्मी का पति, उसका पिता है। पिता जिसका पति हो वह पुत्र के लिये माता है। लड़का जब तक समझदार न हो, पढ-लिखकर समर्थ न बन जाय, तब तक वह पिता की लक्ष्मी का, माता के दूध के समान, उपयोग कर सकता है। परन्तु जब सयाना हो जाय, समर्थ हो जाय, २५-३० वर्ष की उम्र का जवान बन जाय, तब क्या वह माता के स्तन को हाथ लगायेगा? नहीं। इसी प्रकार सामर्थ्य प्राप्त होने पर पुत्र अपने पिता की लक्ष्मी को हाथ न लगावे। जो पुरुष ऐसा न करके पिता की लक्ष्मी का उपभोग करता है वह दुश्शील है।

मित्रो! यह साधना सरल नहीं है, मगर उद्योग का मार्ग निराला है। कहाँ तक कहा जाय? जो स्वयं उपार्जन नहीं कर

सकता वह दूसरों के लिए बोझा है, जैसे ठाठ से रहने वाले, बी. ए. और एम. ए. की उपाधियों से विभूषित, आजकल के ग्रेज्यूएट भारत के लिए भार रूप हैं; क्योंकि वह पढ़-लिखकर देश को कुछ फायदा तो पहुँचाते नहीं, अपने उदर का भार भी दूसरों के सिर थोपते हैं और अपने रहन-सहन से सादे और संयमी पुरुषों को भी फैशन की ओर आकृष्ट करके दूषित आदर्श उपस्थित करते हैं। इसी प्रकार जिसने पेट भरने के ही लिए साधु का वेष धारण किया है, वह भी जगत् के लिए भार-रूप है। उसके भार से जगत् दब रहा है, ऐसा मानना चाहिये।

शास्त्र का आदेश है कि मासखमण का पारणा होने पर भी अपने आप गोचरी लानी चाहिये। लेकिन आजकल यह आदेश केवल शास्त्र के पृष्ठों तक ही सीमित रह गया है। जो शक्ति होते हुए भी दूसरों पर अवलम्बित रहता है उसे शास्त्र में, आँख होते अन्धा और कान होते भी बहरे की उपमा दी गई है।

सर्वमात्मवशं सुखम्।

अर्थात् सुख स्वतन्त्रता में है—अपने ही अधीन है। पराश्रित होने में सुख नहीं है।

स्वावलम्बन का महत्त्व व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं वरन् सामाजिक एवं राष्ट्रीय-जीवन में भी है। जो व्यक्ति या जो राष्ट्र अन्न और वस्त्र जैसी जीवन के लिये अनिवार्य वस्तुओं के लिये परावलम्बी नहीं होता, जो अपनी आवश्यकता आप पूरी कर लेता है, उसे पद्दलित करने की क्षमता किसी में भी नहीं है। वह राष्ट्र कभी

जो मनुष्य उद्योगशील होता है, उसे देखकर आलसी की आत्मा काँप उठती है। उद्योगी को देखकर आलसी मनुष्य भी उद्योग के लिए कटिबद्ध हो जाता है। उद्योगी पुरुष, मनुष्य को तो क्या, सारी की सारी प्रकृति को जागृत कर देता है।
प्राकृत भाषा के एक कवि ने कहा है—

तायविढत्ता लच्छी, नूणं पुत्तस्स होइ सा भगिणी।
होइ परस्स परित्थी, सयं विढत्ता तओ जुत्ता॥

अर्थात्—पिता के द्वारा पैदा की हुई लक्ष्मी पुत्र के लिए बहिन के स्थान पर है और दूसरों के लिए परस्त्री के समान है अतएव अपने पुरुषार्थ से प्राप्त की हुई लक्ष्मी का भोग करना ही योग्य है।

दूसरे दृष्टिकोण से पिता की लक्ष्मी पुत्र के लिए माता के समान भी कही जा सकती है, क्योंकि उस लक्ष्मी का पति, उसका पिता है। पिता जिसका पति हो वह पुत्र के लिये माता है। लड़का जब तक समझदार न हो, पढ-लिखकर समर्थ न बन जाय, तब तक वह पिता की लक्ष्मी का, माता के दूध के समान, उपयोग कर सकता है। परन्तु जब सयाना हो जाय, समर्थ हो जाय, २५-३० वर्ष की उम्र का जवान बन जाय, तब क्या वह माता के स्तन को हाथ लगायेगा? नहीं। इसी प्रकार सामर्थ्य प्राप्त होने पर पुत्र अपने पिता की लक्ष्मी को हाथ न लगावे। जो पुरुष ऐसा न करके पिता की लक्ष्मी का उपभोग करता है वह दुश्शील है।

मित्रो! यह साधना सरल नहीं है, मगर उद्योग का मार्ग निराला है। कहाँ तक कहा जाय? जो स्वयं उपार्जन नहीं कर

सकता वह दूसरों के लिए बोझा है, जैसे ठाठ से रहने वाले, बी. ए. और एम. ए. की उपाधियों से विभूषित, आजकल के ग्रेज्यूएट भारत के लिए भार रूप हैं; क्योंकि वह पढ़-लिखकर देश को कुछ फायदा तो पहुँचाते नहीं, अपने उदर का भार भी दूसरों के सिर थोपते हैं और अपने रहन-सहन से सादे और संयमी पुरुषों को भी फैशन की ओर आकृष्ट करके दूषित आदर्श उपस्थित करते हैं। इसी प्रकार जिसने पेट भरने के ही लिए साधु का वेष धारण किया है, वह भी जगत् के लिए भार-रूप है। उसके भार से जगत् दब रहा है, ऐसा मानना चाहिये।

शास्त्र का आदेश है कि मासखमण का पारणा होने पर भी अपने आप गोचरी लानी चाहिये। लेकिन आजकल यह आदेश केवल शास्त्र के पृष्ठों तक ही सीमित रह गया है। जो शक्ति होते हुए भी दूसरों पर अवलम्बित रहता है उसे शास्त्र में, आँख होते अन्धा और कान होते भी बहरे की उपमा दी गई है।

सर्वमात्मवशं सुखम्।

अर्थात् सुख स्वतन्त्रता में है—अपने ही अधीन है। पराश्रित होने में सुख नहीं है।

स्वावलम्बन का महत्त्व व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं वरन् सामाजिक एवं राष्ट्रीय-जीवन में भी है। जो व्यक्ति या जो राष्ट्र अन्न और वस्त्र जैसी जीवन के लिये अनिवार्य वस्तुओं के लिये परावलम्बी नहीं होता, जो अपनी आवश्यकता आप पूरी कर लेता है, उसे पददलित करने की क्षमता किसी में भी नहीं है। वह राष्ट्र कभी

दुःखी नहीं रह सकता। इसके विपरीत, जो देश अन्न और वस्त्र के लिये दूसरों का मुंहताज रहता है वह दुःखी, दरिद्र और पराधीन होता है।

व्यापारी वर्ग अपने को दुःखी अनुभव करता है, पर उसकी असीम तृष्णा और पराधीनता ही उसके दुःख का कारण है। अगर वह स्वतन्त्र व्यापारी होते तो उन्हें कोई दुःखी नहीं कर सकता था। आनन्द, कामदेव आदि श्रावकों के पास हजारों गायें थीं और सैकड़ों हल चलते थे। इस स्वतन्त्र उद्योग से वे श्रीमन्त थे। उनकी श्रीमन्ताई कौन छीन सकता था? आज के व्यापारी स्वतन्त्र उद्योग न करके, एक प्रकार के दलाल बनकर—पराश्रित रहकर—श्रीमान् बनना चाहते हैं, सो यह सब खाली बादल कब तक ठहर सकते हैं?

सुदत्त अनगार ने कहा—'भगवन्! मैं किसी उच्च कुल में ही या किसी नीच कुल में ही गोचरी के लिए नहीं जाऊँगा, वरन् उच्च नीच और मध्यम कुलों में जाऊँगा। मुझे आज्ञा प्रदान कीजिये।'

मुनि की दृष्टि में श्रीमन्त और दरिद्र बराबर हैं। ऊँच-नीच का भेद नहीं है। जो कुल धन सम्पन्न होने से उच्च है और जो धन-हीन होने के कारण नीचा गिना जाता है, साधु के लिये समान है। उच्च कुल में गोचरी करना और नीचे कुल में न करना, साधु-धर्म से विरुद्ध है। साधु प्राणीमात्र पर समभाव धारण करते हैं। अलबत्ता जो आचारहीन हैं और आचारहीन होने के कारण संसार में घृणित समझे जाते हैं उनके यहाँ धर्म-रक्षा के अभिप्राय से मुनि को गोचरी के लिये जाना व्यर्थ है। किसी भी आचार-सम्पन्न गृहस्थ के घर से साधु आहार ग्रहण कर सकते हैं।

भिक्षा मांगने का अधिकार सब को नहीं है। आचार्य हरिभद्र ने तीन प्रकार की भिक्षा बताई है। पहली भिक्षा सर्वसम्पत्तिकरी है। दूसरी भिक्षा वृत्ति है और तीसरी पौरुषघातिनी है।

जिन मुनियों ने संसार-व्यवहार का सर्वथा परित्याग कर दिया है, जो पाँच महाव्रतों का पालन करते हैं और जिनका हृदय करुणा से ओत-प्रोत रहता है, वह मुनि संयम-रक्षा के लिए जो भिक्षा लेते हैं वह सर्वसम्पत्तिकरी भिक्षा कहलाती है। यह भिक्षा लेने वाले और देने वाले—दोनों को उच्चकोटि पर पहुँचाती है। उत्तम पात्र का योग पाकर दाता को सब प्रकार की सम्पत्ति का फल प्राप्त होता है।

प्रश्न किया जा सकता है—ग्यारहवीं पडिमा धारण करने वाले श्रावक की भिक्षा किस भिक्षा में अन्तर्गत है? इसका उत्तर यह है कि वह श्रावक बिना परिश्रम किये पेट भरने के लिए भिक्षा नहीं माँगता। वह भी मुनियों की तरह व्रतों का पालन करता है। वह मुनि के समान है, अतएव उसकी भिक्षा भी सर्वसम्पत्तिकरी भिक्षा है।

जो पुरुष अंगविकल—लूला, लँगड़ा या अँधा है, कमा कर खाने में असमर्थ है, वह अपने जीवन-निर्वाह के लिये जो भिक्षा माँगता है वह भिक्षा 'वृत्ति' कहलाती है। जैसे और लोग कमा कर खाते हैं, उसी प्रकार वह भीख माँग कर अपनी जीविका चलाता है। भिक्षा उसकी आजीविका है।

जो मनुष्य हट्टा-कट्टा है, तन्दुरुस्त और बलवान् है, कमा कर खाने के योग्य है, लेकिन कमाना न पड़े—इस अभिप्राय से

माँगकर खाता है, उसकी भिक्षा पौरुषघ्नी अर्थात् पुरुषार्थ का घात करने वाली है।

शास्त्र में कहा है—जो साधु अपने व्रतों का पालन नहीं करता, उसे भी भिक्षा माँगने का अधिकार नहीं है।

सुदत्त मुनि की भिक्षा सर्वसम्पत्तिकरी है। सुदत्त मुनि सहज भाव से ही सुमुख गाथापति के घर पहुँचते हैं और उसका भाग्य चमक उठता है!

हस्तिनापुर में गृहस्थों के घरों की कमी नहीं। लेकिन सुमुख में कोई आकर्षण-शक्ति है कि मुनि उसके यहाँ गोचरी के लिए पधारे हैं। जो मनुष्य अन्य कार्यों में भी शान्त और परोपकारी है, जिसके मन में झूठ और कपट नहीं है, उसके घर ऐसे विशिष्ट महात्मा पहुँच जाते हैं। अतएव सुपात्रदान की अभिलाषा रखने वाले गृहस्थ को अपना घर और हृदय पवित्र रखना चाहिए। कपट से, झूठ से या अन्याय से उपार्जित धन के द्वारा निपजा हुआ अन्न मुनियों के संयम में भी बाधा उपस्थित करता है।

सुदत्त मुनि घूमते-घूमते सुमुख गाथापति के घर आये। मुनि को देखते ही सुमुख का मन-मयूर उल्लास के कारण नाच उठा। जैसे वर्षा होने पर मोगरा का फूल खिल उठता है, उसी प्रकार सुदत्त मुनि को देखकर सुमुख का चित्त हर्ष से भर गया।

मुनि को आते देख हर्षित होने से प्रकट है कि उसकी प्रकृति पहले से ही प्रशस्त थी। उसने अपने जीवन में अनेक शुभ-कार्य किये होंगे, तब यह उदार प्रकृति बनी होगी।

कुछ लोग सुमुख गाथापति को मिथ्यदृष्टि कहते हैं । यह उनका अज्ञान है । जो सुमुख, सुदत्त अनगार पर नजर पड़ते ही, जलधारा गिरने पर मोगरे के फूल की तरह, विकसित—उल्लसित होता है—जिसका हृदय हर्ष से भर जाता है, उसे मिथ्या-दृष्टि कैसे कहा जा सकता है, यह समझ में नहीं आता ।

सुमुख, मुनिराज का दर्शन होते ही अपने आसन पर से खड़ा हो गया । फिर वह सात-आठ पैर आगे गया और उत्तरासन-पूर्वक, 'तिक्खुत्तो'* के पाठ से उन्हें वन्दना की—नमस्कार किया । श्रद्धा और भक्ति से उसका हृदय गद्-गद हो उठा । वह अपना जीवन धन्य मानने लगा । उसने अपने मनोभावों को संक्षेप में वाणी द्वारा इस प्रकार प्रकट किया—'गुरुदेव! आपके इस असीम अनु-ग्रह से मैं कृतार्थ हुआ । आज मेरा आंगन पावन हुआ । इस गरीब के घर कल्पवृक्ष आ गया; निर्धन के यहाँ कामधेनु का पदा-र्पण हुआ । इस क्षुद्र के आंगन में चरण-न्यास करके आपने आंगन को मोतियों से पूर दिया । प्रभो! आज मेरा गार्हस्थ्य-जीवन धन्य हो गया । आपकी अमित कृपा के लिए यह दास आपका चिरऋणी रहेगा ।'

मूलपाठ—तए णं से सुमुहे गाहावई सुदत्तं अणगारं एज्जमाणं पासइ; पासित्ता हट्ठतुट्ठे आसणाओ अब्भुट्ठे इ; अब्भुट्ठित्ता

*मुनि-वन्दना का पाठ इस प्रकार है—'तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदामि नमंसामि सक्कारेमि संमाणेमि, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं, पज्जुवासामि, मत्थएण वंदामि । यह पाठ बोलते हुए वन्दना की जाती है ।

पायपीढाओ पचोरुहइ । पचोरुहित्ता पाउयाओ ओमुयइ; ओमुइत्ता एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ, करेत्ता सुदत्तं अणगारं सत्तट्ठ पयाइं अणुगच्छइ; अणुगच्छइत्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ, नमंसइ, नमंसित्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता सयहत्थेणं विउलेणं असणपाणेणं पडिलाभिस्सामित्ति तुट्ठे, पडिलाभेमाणे वि तुट्ठे, पडिलाभिए वि तुट्ठे ॥

शब्दार्थ—तदनन्तर सुमुख गाथापति सुदत्त अनगार को आते देखता है। देखकर हर्षित और संतुष्ट होकर अपने आसन से उठ खड़ा होता है और पादपीठ से नीचे उतरता है। नीचे उतर कर पादुका खोल देता है और एकशाटिक उत्तरासंग करता है, फिर सुदत्त अनगार के सामने सात-आठ कदम सामने जाता है। सामने जाकर 'तिक्खुत्तो' के पाठ से प्रदक्षिणा-पूर्वक वन्दना-नमस्कार करता है। वन्दना-नमस्कार के पश्चात् भोजनशाला की ओर (मुनि के साथ) गया। अपने हाथ से, अशन-पान वहराऊँगा, यह सोचकर वह हर्षित हुआ, वहराते समय भी हर्षित हुआ और वहराने के पश्चात् भी हर्षित हुआ।

आज सुमुख की कोटि की पात्रता क्या सुलभ है? सुमुख की भद्रता, विनयशीलता, नम्रता और श्रद्धा-भक्ति वास्तव में आदर्श और अनुकरणीय है।

ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे (स्थान) में श्रमण संघ की व्याख्या करते हुये कहा गया है कि श्रावक को गुणपात्र बनना चाहिए। मगर कुछ भाई कहते हैं कि श्रावक पात्र नहीं, कुपात्र है और जब तक वह श्रावक-अवस्था में है और साधु नहीं बन जाता

है तब तक, उसकी कुपात्रता धुल नहीं सकती । श्रावक में पात्रता कभी आ नहीं सकती । हमें उन भाइयों पर करुणा आती है जो ऐसा कहने वालों के चेले बनते हैं और कुपात्र कहलाते हैं । जिनके सामने सिर झुकाया जाता है वही लोग सिर झुकाने वालों को कुपात्रता का पुरस्कार देते हैं, श्रद्धा-भक्ति का यह कितना विचित्र इनाम है ! जिस गुरु के सामने नतमस्तक होने से, जिसकी शिष्यता स्वीकार करने से, शिष्य में कुपात्रता आ जाती है, वह गुरु ही वास्तव में कुपात्र कहा जाना चाहिये ।

कहा जा सकता है—साधु और श्रावक में महान् अन्तर है, और साधु सुपात्र हैं तो श्रावक कुपात्र होने ही चाहिये । अगर साधु और श्रावक दोनों ही सुपात्र मान लिए जावें तो फिर दोनों में क्या भेद रहेगा ? यह तर्क बड़ा विचित्र है । साधु मनुष्य होते हैं, तो श्रावक मनुष्य नहीं होना चाहिए । अगर दोनों ही मनुष्य कहलायेंगे तो दोनों में क्या भेद रहेगा ? इसी प्रकार साधु सम्यग्दृष्टि होते हैं तो दोनों में भेद करने के लिये श्रावक को मिथ्यादृष्टि समझना होगा । इस प्रकार श्रावक मनुष्यता से भी गया, सम्यग्दर्शन से भी गया और पात्रता से भी गया !

किन्तु श्रावक और साधु में भेद करने की यह प्रणाली ही गलत है । जो लोग शास्त्रों का मर्म जानते हैं, उन्हें भलीभाँति विदित है कि श्रावक और साधु में संयम की मर्यादा का अन्तर है । साधु पूर्ण संयमी-महाव्रती होते हैं और श्रावक अणुव्रती–एकदेशसंयमी होता है । इस विभिन्नता के कारण, श्रावक और साधु की तमाम बातों में भेद की कल्पना करना बच्चों का हठ ही कहा जा सकता है।

श्रावक को 'तीर्थ' कहा गया है। जो तिरावे—पार पहुँचावे वह तीर्थ कहलाता है। 'तीर्यते अनेन स तीर्थः।' क्या अकेला साधु ही तिराने वाला है? श्रावक क्या डुबाने वाला है? नहीं।

खेद है कि अज्ञान के कारण तीर्थ को अतीर्थ और पात्र को कुपात्र मान लिया गया है। भ्रम में पड़े हुये भाई यदि वास्तविकता का विचार करें, शास्त्रावलोकन करें तो भ्रम-जाल से मुक्त हो सकते हैं।

हस्तिनापुर उस समय भारतवर्ष के विख्यात और विशाल नगरों में से एक था। उसमें हजारों घर थे। उन समस्त घरों को छोड़कर सुदत्त मुनि, सुमुख गाथापति के ही घर क्यों गये? यह प्रश्न जिज्ञासु हृदय में उत्पन्न होता है।

मित्रो! यह एक गूढ़ रहस्य है। इस घटना में गम्भीर तत्त्व छिपा है। इसमें 'योगानुयोग' की आकर्षण शक्ति, सुबाहुकुमार का निर्माण करने के लिए, आकर्षित कर रही है।

कारण के विना कार्य नहीं होता, यह न्याय-शास्त्र का सर्वसम्मत सिद्धान्त है। कारण की विद्यमानता ही कार्य को जन्म देती है। सुदत्त अनगार का सुमुख के घर जा पहुँचना कार्य है, इसलिये वह निष्कारण नहीं हो सकता। सुमुख गाथापति को, सुदत्त मुनि के लिये दान देने की प्रेरणा कोई अदृश्य शक्ति अवश्य कर रही होगी। वह अदृश्य शक्ति क्या होगी? पहले उपार्जन किया हुआ पुण्य। वह पुण्य किसी शुद्ध क्षेत्र में बीज बोने का फल था।

कोई किसान साफ सुथरी और कमाई हुई भूमि को छोड़कर इधर-उधर कहीं बीज बोता है ? नहीं। भलीभाँति जोती हुई भूमि में बीज बोने वाला किसान अपना श्रम सार्थक बनाता है और कृषि का उत्तम फल प्राप्त करता है। इसी प्रकार सुमुख ने, किसी अच्छे अवसर पर, उत्तम पुण्य का बीज बोया होगा। उसी पुण्य के प्रताप से सुदत्त जैसे महामहिमावान् मुनिराज उसका आंगन पावन बनाने के लिये पधारे।

जैसे सूखती हुई खेती को पानी मिल जाने से खेती हरी-भरी नवजीवन से परिपूर्ण बन जाती है, जैसे प्यास से पीड़ित प्राणी को पानी प्राप्त हो जाने पर अपूर्व उल्लास होता है, जैसे पुत्रहीन को पुत्र पाकर परम प्रसन्नता होती है, जैसे निर्धन को धन पाकर अद्भुत आनन्द अनुभव होता है, जैसे रोगी को औषध लाभ होने पर प्रसन्नता होती है, जैसे नाना प्रकार के दुःखों से अभिभूत दुखिया को, सब दुःख दूर होकर सुख-सामग्री उपलब्ध होने पर प्रसन्नता का पार नहीं रहता, उसी प्रकार सुमुख गाथापति को, सुदत्त अनगार का संयोग पाकर प्रसन्नता हुई।

सुमुख आज सुदत्त श्रमण को दान देने वाला है। वह जानता है कि उत्तम पुरुष विना किसी विशेष प्रयोजन के, किसी के घर नहीं जाते। तिस पर यहाँ तो महात्मा हैं। एकान्तवास में रत रहने वाले योगी हैं। प्रपंचों से विरत रहने वाले, दुनियादारी के व्यवहारों से बचने वाले, आत्मनिष्ठ अनगार हैं। यह महात्मा विना विशेष प्रयोजन मेरे घर कैसे पदार्पण कर सकते हैं ? आज मेरा भाग्य कितना महान् है! मेरा सौभाग्य-सूर्य आज सम्पूर्ण तेज के

साथ चमक उठा है। आज मैं नगण्य होते हुए भी धन्य हूँ, तुच्छ होते हुए भी महान हूँ; मेरा भाग्य मुझ पर प्रसन्न है।

मित्रो ! आज सुमुख का हृदय आनन्द के सरोवर में सराबोर हो गया है। उसका अन्तःकरण भक्ति के भार से नम्र हो गया है। प्रमोद-भावना उसके रक्त में नाच उठी है। सुमुख के आनन्द का पार नहीं है। मुनिराज के प्रति कितनी उत्कट भक्ति है ! कैसी प्रगाढ़ श्रद्धा है ! कैसा सच्चा आदर है ! सुमुख की इस पवित्र भावना ने उसे आगे जाकर सुबाहुकुमार बनाया। आदर-सत्कार के साथ दिये हुये दान की महिमा वाणी के अगोचर है।

सुमुख का यह भक्तिभार प्रत्येक श्रावक के लिए निर्मल दर्पण के समान है। इसे सामने रखकर प्रत्येक श्रावक को अपने अन्तःकरण का परीक्षण करना चाहिए। अपने हृदय को टटोलो- जिन्हें 'तिक्खुत्तो' के पाठ से वन्दना-नमस्कार करते हो, जिनके चरणों पर मस्तक टेकते हो, उनके प्रति दान देते समय ऐसा आदर-भाव रखते हो ? दान देते समय हाथ काँपने तो नहीं लगता ? हृदय संकुचित तो नहीं हो जाता ? अनुदारता का भाव तो हृदय के किसी कोने में उदित नहीं होता ? इस प्रकार अपनी मनोवृत्ति की परीक्षा करके देखो।

हाँ, नमस्कार करना—मस्तक झुकाना साधारण कार्य नहीं है। मस्तक झुकाना एक असाधारण मूल्यवान् व्यापार है। चाहे जिसके आगे मस्तक नहीं झुकाया जा सकता। मस्तक झुकाने वाला, जिसके आगे मस्तक झुकाता है, उसके प्रति सम्पूर्ण भाव से समर्पित हो जाता है। समर्पण की आन्तरिक क्रिया का बाह्य

प्रतीक है—नमस्कार करना। नमस्कार करने वाला, नमस्करणीय के चरणों में न केवल मस्तिष्क ही अर्पण करता है, वरन् वह अपना हृदय, अपना तन, अपनी बुद्धि, अपनी योग्यता और यहाँ तक कि अपना जीवन भी अर्पण कर देता है। वह सम्पूर्ण भाव से उसी का हो जाता है।

नमस्कार के रूप में सर्वस्व समर्पण कर देने वाला आराधक पाता क्या है? न वह प्रशंसा चाहता है, न कीर्ति चाहता है, न अहंकार खरीदता है, न गौरव मानता है। वह हृदय, मस्तिष्क, बुद्धि एवं अहंकार के भार को अपने आराध्य के आगे विसर्जित कर देता है, सो इसलिए नहीं कि उसके बदले वह कीर्ति, महिमा आदि खरीदे। वह अपना बोझ हल्का करता है, कीर्ति आदि का नया बोझ अपने ऊपर लादता नहीं है। यही निष्काम भक्ति है, यही विशुद्ध आराधना है। जिसके हृदय में ऐसी भक्ति होती है वही वास्तव में नमस्कार करने का अधिकारी है—उसी का नमस्कार पूर्ण फलदायक होता है।

आज आपको चाहे यह कल्पना न आती हो, मगर सत्य यह है कि यह धर्म वीर क्षत्रियों का है। यह कायरों का धर्म नहीं है। वीर क्षत्रिय मस्तक न झुकाने के लिए बड़े-बड़े संग्राम कर बैठे हैं। उनकी तलवारें म्यान में से बाहर निकल आती हैं। मस्तक न झुकाने के लिए महाराणा प्रताप अठारह वर्ष तक, राजधानी छोड़ कर जंगल-जंगल घूमते फिरे। उनकी महारानी पद्मावती को सामा का आटा तैयार करने के लिए अपने हाथ से चक्की चलानी पड़ी। महाराणा जैसे प्रचण्ड पराक्रमी पुरुष, स्वाभिमान की रक्षा के लिए

सामे की रोटियाँ खाते थे और वह भी भर पेट कहाँ नसीब होती थीं ? एक दिन सामे के आटे की रोटियाँ बाँटी जा रही थीं। उनकी लड़की ने कहा—'माँ, मुझे एक रोटी और चाहिए।' पर रोटियाँ इतनी थी नहीं। माता ने कहा—बेटी ! सब्र करो। तुम्हारे हिस्से में एक ही रोटी आई है। आज शाम को भी रोटी नहीं मिलेगी। आज सारा दिन इसी से काम चलाना पड़ेगा।'

बेचारी राणा की बेटी, और सामा की रोटी ! तिस पर भी पेट भर नहीं ! वह चुप हो रही। विपदाओं के निरन्तर सम्पर्क ने उसे भी सहिष्णु बना दिया था। उसने आधी रोटी खाई और आधी बचा कर, शाम के लिए गढ़ा खोदकर उसमें गाड़ दी। रहने के लिए कोई मकान तो था नहीं !

लड़की रोटी गाड़कर ज्यों ही दूसरी ओर जाती है कि एक जंगली बिलाव आता है और गढ़े से रोटी निकाल कर खाजाता है !

महाराणा की लाड़ली बेटी का धैर्य समाप्त हो गया ! आधी रोटी का मूल्य उस समय कितना था, सो वही जान सकता है जिसने उस मुसीबत में दिन गुजारे हों। बिलाव ने आधी रोटी क्या निकाली, मानो उसका कलेजा ही निकाल लिया। इस स्थिति में वह कैसे शान्त रहती ! जैसे ही रोटी खाते वन-बिलाव पर राजकुमारी की नजर पड़ी कि वह चीख उठी। बोली—हाय ! मेरी रोटी बिलाव खा गया ! अब शाम को मैं क्या करूँगी ?

राजकुमारी की चीख, एक ओर घास के बिछौने पर लेटे हुए मेवाड़पति महाराणा प्रताप के कानों तक पहुँची। वह उठे और

सोचने लगे—हाय ! मेरा प्रण ! जो राजकुमारी हीरा-मोतियों को पैर से ठुकरा देती थी, वही आज रोटी के एक टुकड़े के लिए विलाप कर रही है ! विधि का विधान कितना विचित्र है ? अदृष्ट की गति कितनी अस्थिर है ! संसार के सुख-सौभाग्य का यह हाल है !

मित्रो ! महाराणा प्रताप ने इतने भीषण कष्ट उठाना क्यों पसन्द किया ? वह चित्तौड़ में रहकर शाही सुख भोग सकते थे। पर इस सुख-भोग से अधिक आकर्षक कौनसी वस्तु थी, जिसे पाने के लिए महाराणा ने महान् मुसीबतों को आमन्त्रण दिया ? वह वस्तु थी—स्वाभिमान का संरक्षण। बादशाह के सामने सिर न झुकाने का निश्चल प्रण ! वीर पुरुष जिसके आगे सिर झुका देता है, उसके लिए वह प्राण भी अर्पण कर देता है।

कई एक श्रावक, साधु के सामने सिर झुका देते हैं, पर प्राण तो क्या, एक तुच्छ वस्तु का त्याग करते समय उनके हाथों में कँपकँपी छूटने लगती है। ऐसे श्रावक क्या वीर कहला सकते हैं ? नहीं, उनकी गणना वीरों में नहीं, कायरों में की जायगी।

सुमुख गाथापति कायर नहीं था। वह प्रदक्षिणा-नमस्कार करके सुदत्त मुनि को भोजनगृह में लाया। अन्न तो उसके सामने तुच्छ था। आवश्यकता होने पर वह प्राण भी अर्पण कर सकता था।

भाइयो ! धर्म वीरता से निभता है। 'हमारे पूर्वज इस धर्म को मानते आये हैं या वंश-परम्परा से वन्दना-नमस्कार करते आये हैं, इसलिये हमें भी यह धर्म मानना पड़ेगा और वन्दना-नमस्कार करना पड़ेगा।' इस प्रकार की लाचारी से अगर आप धर्म को

मानते हैं तो इस भावना को मैं निर्बल भावना कहूँगा। निर्बल भावना एक प्रकार की दीनता है, लाचारी है और अशक्ति का चिह्न है। निर्बल भावना वाला पुरुष धर्म का पालन नहीं कर सकता। धर्म हृदय के प्रेम से पाला जाता है। सच्चा धर्म वही है जो अन्तर-से उद्भूत होता है। जिस बाह्य क्रिया के साथ मन का मेल नहीं है, जो सिर्फ परम्परा का पालन करने के लिए की जाती है या प्रतिष्ठा के मोह से की जाती है, वह ठीक फल नहीं दे सकती। अतएव धर्म की आराधना अन्तःकरण से होनी चाहिए।

आप जिसके गुणों पर मोहित हैं, जिसके प्रति आपके अन्तःकरण में श्रद्धा की भावना है, जिसे आप अपना गुरु मानते हैं, उसी को नमस्कार कीजिये।

सुमुख महा दातार है। वह तिर जावे, यह कौनसी बड़ी बात है ? जिन्होंने उसके दान की अनुमोदना की थी, वे भी तिर गये।

सुदत्त अनगार को साथ लेकर सुमुख गाथापति भोजनगृह की ओर गया तो उसके हर्ष का पार नहीं था। इसमें एक बात समझने योग्य है। मुनि की भूख दुःख-वेदनीय कहलाती है पर श्रावक उस भूख को मिटाने की क्रिया में अपने यहाँ आनन्द-मंगल प्राप्त कर लेता है। सुमुख का कल्याण कैसे हुआ, यह समझना कठिन नहीं है। अगर कोई पुरुष भूख से पीड़ित है तो उसकी भूख मिटाने के लिए उसे कुछ देना अपने लिये कल्याण लेना है। दान लेने वाले की अपेक्षा दान देने वाला, अपने दान के द्वारा अधिक लाभ उठाता है।

जब दुष्काल पड़ता है, तब अनेक गरीब रोटी न मिलने के कारण भिक्षा माँगने निकलते हैं। कई भाई उन्हें कामचोर या भुख-मरे कहकर उनकी भर्त्सना करते हैं। परन्तु इससे याचक की हानि कम और भर्त्सना करने वाले की हानि अधिक है। उनकी यथोचित सहायता करना और अपने लिये पुण्योपार्जन का अवसर आया है, ऐसा समझना बुद्धिमान् का कर्त्तव्य है। वह काल दातार के लिए आनन्ददायक बन जाता है। बीमारी फैलने पर जो डाक्टर या वैद्य निस्वार्थ भाव से सेवा करता है, उसके सुयश की ख्याति फैलती है, वह बहुत लाभ प्राप्त करता है और पुण्य का भागी बनता है।

मित्रो! समय की कीमत है। समय पर किया हुआ काम बहुत फलप्रद सिद्ध होता है। कई भाइयों को संयोगवश दान देने का समय प्राप्त हो जाता है। पर वे दे नहीं सकते। उनकी दान देने योग्य वस्तुएँ असूझती—अशुद्ध—पड़ी रहती हैं।

सच्चे दाता को, दान का प्रसंग उपस्थित होने पर, तीन वक्त हर्ष उत्पन्न होता है। जैसे—आज मैं दान दूँगा—आज भाग्योदय से मुझे दान देने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। इस प्रकार दान देने से पहले जिसे ऐसा हर्ष होता है, उसका देय वस्तु से ममत्व छूट जाता है। ममत्व छूट जाने से दान देते समय किसी प्रकार का दुःख नहीं होता।

सच्चा दातार दान देते समय भी प्रसन्न होता है और दान देने के पश्चात् भी संतोष और आनन्द का अनुभव करता है। 'साधुजी ने इतना ले लिया' जिसके मन में ऐसे भाव आते हैं, उसने दान का महत्व नहीं समझा, ऐसा मानना चाहिये। दान की

महिमा जिसने जान ली है, वह साधुजी को घी बहराते समय द्र
में इतना तन्मय हो जाता है—दान के आनन्द में ऐसा बेभान-
हो जाता है कि, घी से पात्र भर जाने के पश्चात् अगर घी बा
गिरने लगे तब भी वह ऐसा नहीं कहता कि—'महाराज' घी से प
भर गया है और अब बाहर गिर रहा है।' वह इसे भी अप
अहोभाग्य मानता है। उस समय दाता उस घी को अपना न
मानता—वरन् साधुजी का ही मानता है। वह समझता है—
अगर बाहर गिरता है तो साधुजी का गिरता है।

मेरे कथन का आशय यह नहीं है कि घी पात्र से बाह
डाला जाय या उसका दुरुपयोग किया जाय। मेरा आशय दा
की परिणामधारा की उत्कृष्टता एवं महत्ता प्रदर्शित करना है।

सच्चे श्रावक को जितना आनन्द स्वयं खाने में अनुभव न
होता उतना मुनि को दान देने में होता है। स्वयं खाने से कदाचि
खाने वाले की जिह्वा की क्षणिक तृप्ति होती है; मगर दान से दा
की अन्तरात्मा को अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है
आन्तरिक आनन्द के सामने चटोरी जिह्वा की तृप्ति का क्या मूल
है, जो बढ़िया से बढ़िया रसों का आस्वादन करके, तत्काल फि
ज्यों की त्यों तरसने लगती है। स्वयं खाने से उदर की कुछ समय
लिए पूर्ति हो जाती है, परन्तु दान देने से उत्कृष्ट सौभाग्य की परिपूर्णत
होती है।

विवेकवान् श्रावक दान का अर्थ देना नहीं समझता प
लेना समझता है। वह मानता है-कल्पवृक्ष में क्या पानी डालूँ; य
तो सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाला है। कामधेनु को मैं क्या दूँ

वह तो स्वयं ही सब कुछ देने वाली है। सुमुख गाथापति मुनि को आहारदान देते समय ऐसा ही हर्षानुभव करता है। दान देने में यह दूसरे वक्त का हर्ष है।

सच्चा श्रावक अपनी वस्तु को साधु के निमित्त त्याग करने की भावना से जितना हर्षित होता है, उतना ही हर्ष उसे त्याग करने के समय भी होता है। पहले दान देना और फिर अफसोस करना कि—अरे! महाराज तो इतना ले गये, वह चीज बड़ी अच्छी और कीमती थी, मगर क्या करें साधुजी को देनी पड़ी; यह अत्यन्त घृणास्पद माना गया है। जो श्रावक दान देने के पश्चात् भी हर्ष मनाता है वह दान के तीसरे हर्ष का अनुभव करता है।

प्रत्येक श्रावक अपनी योग्यता के अनुसार दान दे सकता है। जो अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहे, उसे कोई रोक नहीं सकता। आवश्यकता है सिर्फ वस्तु सम्बन्धी ममता के त्याग की। ममता उतर जाने पर कोई वस्तु चाहे कितनी ही कीमती क्यों न हो; तुच्छ मालूम होने लगती है और वही वस्तु दान के योग्य है, जिस पर से मामत्व हट गया हो। यह आवश्यक नहीं कि देय वस्तु मूल्यवान ही होनी चाहिए, किन्तु आवश्यक यह है कि पवित्र भावना से दी जाय।

शुद्ध वस्तु का दान करने के लिए दाता भी शुद्ध होना चाहिये। दाता वही शुद्ध हो सकता है, जिसने किसी का कलेजा न चीरा हो, जिसने किसी के साथ विश्वासघात न किया हो, जिसने चोरी न की हो, जो डाका डालकर धन न लाया हो, जिसने नीति की

अवहेलना न की हो और जिसका अन्तःकरण त्याग के महत्व को समझता हो। ऐसा दाता ही शुद्ध दाता माना जाता है।

यहाँ तीनों प्रकार की शुद्धि विद्यमान थी। देय द्रव्य शुद्ध था, दातार शुद्ध था और पात्र भी शुद्ध थे। लोक में जैसे गंगा, यमुना और सरस्वती—तीर्थ कहलाती हैं, किन्तु तीनों मिलकर त्रिवेणी के नाम से तीर्थराज की पदवी पाती हैं, इसी प्रकार शुद्ध देय, शुद्ध दाता और शुद्ध ही दानपात्र का संयोग मिले तो वह दान महामंगल-दान है। सुमुख गाथापति ने जो दान दिया वहाँ तीनों का ही योग मिल गया। इस दान का फल क्या हुआ, इस सम्बन्ध में शास्त्र कहता है :—

मूलपाठ—तए णं तस्स सुमुहस्स गाहावइस्स तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं, पत्तसुद्धेणं तिविहेणं तिकरणसुद्धेणं सुदत्ते अणगारे पडिलाभिएसमाणे संसारे परित्तीकए मणुस्साउए निबद्धे। गिहंसि य से इमाइं पंचदिव्वाइं पाउब्भूयाइं। तंजहा—(१) वसुहारा वुट्ठा (२) दसद्धवण्णे कुसुमे निवाइए (३) चेलुक्खेवे कए (४) आहयाओ देव-दुंदुहीओ (५) अंतरा वि य णं आगासंसि 'अहोदाणमहो दाणं' घुट्ठं य।

हत्थिणाउरे सिंघाडग जाव पहेसु बहुजणो अण्णमण्णस्स एवं आयक्खेइ, एवं भासइ, एवं पन्नवेइ एवं परूवेइ, धन्ने णं देवाणुप्पिए सुमुहे गाहावई सुकयपुन्ने कयलक्खणे सुलद्धे णं माणुस्सजम्मे सुकयत्थरिद्धी य जाव तं धण्णे।

अर्थात्—सुमुख गाथापति ने शुद्ध द्रव्य (देय), शुद्ध दाता और शुद्ध पात्र होने से तथा तीन करण, तीन योग की शुद्धता-पूर्वक

सुदत्त अनगार को आहार दान देकर संसार कम किया और मनुष्यायु का बंध किया। उसके घर पाँच दिव्य प्रकट हुये। वे इस प्रकार हैं:—(१) स्वर्ण-मोहरों की वर्षा हुई (२) पाँच वर्ण के फूलों की वर्षा हुई (३) आकाश में ध्वजा फहराई गई (४)आकाश में देवदुंदुभी बजने लगी और (५) 'अहो दान, अहोदान'की ध्वनि हुई।

हस्तिनापुर नगर में तिरस्तों, चौराहों यावत सड़कों पर अर्थात् जगह-जगह, जनता इस प्रकार कहने लगी, इस प्रकार भाषण करने लगी और इस प्रकार प्रतिपादन करने लगी, इस प्रकार प्ररूपणा करने लगी कि—'देवानुप्रिय, यह सुमुख गाथापति धन्य है। यह पुण्यवान् है, यह सुलक्षण है, इसका मनुष्य-जन्म सार्थक हुआ, इसकी ऋद्धि सफल हुई, यावत—यह धन्य है।'

कुछ लोगों का कहना है कि सुमुख गाथापति ने मनुष्य का आयुष्य बाँधा, इससे सिद्ध होता है कि उसने मिथ्यात्व-दशा में दान दिया था। मगर उनका यह कथन मिथ्या है। सुमुख गाथापति में ऐसी अनन्य भक्ति थी, जैसी आजकल के उत्कृष्ट श्रावकों में भी नहीं देखी जाती। इस प्रकार की आन्तरिक भक्ति सम्यग्दृष्टि में ही सम्भव है। अतः दान देते समय वह सम्यग्दृष्टि ही था, क्योंकि सम्यग्दृष्टि के चिह्न उसमें स्पष्ट रूप से पाये जाते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि भगवती सूत्र के शतक ३० उ० १ के कथनानुसार सम्यग्दृष्टि मनुष्य एवं तिर्यंच वैमानिक गति के अतिरिक्त अन्य गतियों का बन्ध नहीं कर सकता, मगर सुमुख ने मनुष्य गति का बंध किया है। ऐसी स्थिति में उसे सम्यग्दृष्टि कैसे कहा जा सकता है ?

इसका उत्तर यह है कि जो मनुष्य और तिर्यंच विशिष्ट क्रियावादी (सम्यग्दृष्टि) होते हैं और अतिचार रहित निर्मल व्रत का पालन करते हैं, वे वैमानिक की ही आयु बाँधते हैं, सामान्य क्रियावादी के लिए यह नियम लागू नहीं होता।

कहा जा सकता है कि भगवती सूत्र में क्रियावादी पद है और विशिष्ट क्रियावादी नहीं लिखा है। फिर आप क्रियावादी का अर्थ विशिष्ट क्रियावादी कैसे करते हैं ?

इसका समाधान यह है कि दशाश्रुतस्कंध सूत्र में महारंभी और महापरिग्रही क्रियावादी को नरक में जाना कहा है। अगर सभी क्रियावादी वैमानिक आयु ही बाँधते हों तो दशाश्रुतस्कंध का कथन असंगत हो जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भगवती सूत्र में जिस क्रियावादी के लिये एक वैमानिक की ही आयु बाँधने का नियम बताया है, वह विशिष्ट क्रियावादी ही है, सभी क्रियावादी नहीं।

एक बात और। भगवती सूत्र के श० १ उ० २ में विराधक श्रावक की उत्पत्ति जघन्य भवनवासी और उत्कृष्ट ज्योतिषी देवों में बतलाई है। विराधक श्रावक भी क्रियावादी है, फिर भी वह वैमानिकों में उत्पन्न नहीं होता। इससे भी यह सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक क्रियावादी के लिए वैमानिक की आयु बाँधने का नियम नहीं है।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है, कि मनुष्य आयु का बंध देखकर सुमुख गाथापति को मिथ्यादृष्टि कहना मिथ्या* है।

---

* इस विषय की विस्तार-पूर्वक चर्चा के लिए सद्धर्ममण्डन (पृष्ठ ४०) देखिए।

इस पूर्ण पवित्र दान से पाँच दिव्य प्रकट हुये, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

कई भाई यह सोचेंगे कि सुदत्त मुनि ने मास-खमण का पारणा किया और उन्हें दान देने से स्वर्ण-मोहरों की वर्षा हुई, परन्तु आजकल के मुनि दो-दो मास का उपवास करते हैं और हम उन्हें दान भी देते हैं, मगर स्वर्ण की वर्षा नहीं होती। स्वर्ण की बात छोड़ दीजिये, आजकल तो रुपयों की भी वर्षा नहीं होती। यहाँ तक कि तांबे के पैसों तक की कहीं वर्षा नहीं देखी-सुनी जाती। ऐसा सोचने वालों को शायद यह नहीं मालूम कि स्वर्ण-मोहरों की वर्षा की लालसा ही उस वर्षा में एक बड़ी रुकावट है। जो लोग स्वर्ण-वर्षा की कामना करते हैं, वे थोड़ा देकर बहुत कुछ पाने की इच्छा करते हैं। यह स्पष्ट ही एक प्रकार का व्यापार है। व्यापारी के आँगन में देव स्वर्ण-वर्षा नहीं करते। स्वर्ण-वर्षा दाता के घर होती है और सच्चा दाता वही है, जिसके अन्तःकरण में दान के बदले में कुछ भी पाने की अभिलाषा नहीं होती, जो देने के लिए ही देता है, पाने के लिए नहीं। ऐसा सुधा दाता विरला ही होता है।

सुमुख गाथापति ने सुदत्त मुनि को दान दिया और देवों ने पाँच दिव्य वस्तुएँ प्रकट कीं। अब आप जरा बनियापन के हिसाब से इस पर विचार कीजिए। सुमुख ने जो दान दिया, अधिक से अधिक महँगे भाव से हिसाब गिनने पर उसका कितना मूल्य हुआ? बहुत होगा तो दो रुपया समझ लीजिए। मगर यह न भूल जाइये कि सुमुख इस महँगाई के जमाने में नहीं था। जिस जमाने में सुमुख ने दान दिया, वह भारतवर्ष का स्वर्णमय काल था। उसे

लगभग अढाई हजार वर्ष से भी अधिक समय बीत गया। उस समय के सस्तेपन की आज कल्पना करना ही कठिन प्रतीत होता है। इतनी दूर की बात जाने दीजिये, औरंगजेब के समय—जिसे लोग क्रूर बादशाह कहते हैं, एक रुपये का तीस सेर घी मिलता था, तब हजारों वर्ष पहले कितने सेर मिलता होगा ? इस प्रकार उस सस्तेपन को ध्यान में रखते हुये इस दान की कीमत का अंदाज लगाइये तो वह बहुत थोड़ी बैठेगी।

इसमें भी एक बात और है। दान की वह वस्तु मुनि के लिए तैयार नहीं की गई थी। वह घर वालों के लिए ही तैयार की गई थी और सहज भाव से उसमें से निकाल कर दान दिया गया था। इस दृष्टि से उस देय वस्तु की कोई कीमत ही नहीं रह जाती।

ऐसा होने पर भी देवों ने पुष्प-वर्षा की, स्वर्ण बरसाया, इसका क्या कारण है ? इसका मुख्य कारण यही था कि दाता के भाव बहुत शुद्ध थे और उच्च थे। इसी कारण इस दान की कीमत बढ़ गई और देवताओं ने स्वर्ण मोहरों की वर्षा की। सुमुख गाथापति को अगले जन्म में जो अतिशय ऋद्धि और अन्त में सिद्धि का लाभ हुआ, वह तो अलग ही है।

इस वर्षा का अभिप्राय क्या है ? इस वर्षा द्वारा मानो देव कहते हैं—ऐ मनुष्यो ! तुम बड़े भाग्यशाली हो। देवताओं ने इन सौनैयों की वर्षा क्या की, मानो अपनी लघुता और मनुष्यजन्म की महत्ता प्रकट की और 'अहो दाणं अहो दाणं' करके सोनैयों की वर्षा कर दान का उत्सव मनाया। मित्रो ! दान करने का अवसर मनुष्य को सहज ही मिलता है और देवता इसके लिए तरसते हैं।

अतएव सुपात्रदान के लिए सदा उद्यत रहो। जो कृपण इस कथा को सुनकर भी दान देने के लिए तैयार नहीं होता, जिसके हृदय में दान देने की भावना ही जागृत नहीं होती, जो उपेक्षा अथवा अवज्ञा करके दान देता है, ऐसे मनुष्य को इस कथा के सुनने से भी कोई लाभ नहीं पहुँच सकता।

जिस दान की प्रसन्नता से प्रेरित होकर देवता स्वर्ण-वर्षा करते हैं, वह दान देने की योग्यता, हे मनुष्य! तेरे ही भीतर है। यह तेरा कितना महान् पुण्य है?

दान के विषय में एक बात मुझे और याद आ गई। औरंगजेब के जमाने में एक रुपये का तीस सेर घी मिलता था। चावल आठ मन मिलते थे। इस हिसाब से इस दान की कोई खास कीमत नहीं हुई, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से अन्न की कीमत सोनैयों से ज्यादा है। जीवन की दृष्टि से तो स्पष्ट है कि अन्न के सामने मोहरें नगण्य हैं। आपके पास हजार मोहरें हैं, लेकिन आप जंगल में रास्ता भूलकर भटकते-फिरते हैं। भूख के मारे प्राणों पर संकट आ पड़ा है। ऐसी दशा में मोहरें किस काम आएँगी? क्या मोहरें खाकर कोई जीवन-निर्वाह कर सकता है? नहीं। वास्तव में जीवन के लिए अन्न के सामने मोहरें मूल्यहीन हैं और अन्न की कीमत का क्या अनुमान किया जाय, जिसके बिना जीवन नहीं चल सकता।

जो लोग इतने बहुमूल्य अन्न को जूठन में फेंक देते हैं, उसकी अवज्ञा करते हैं; समझना चाहिए उन्होंने अन्न का महत्त्व ही नहीं समझा। जूठन डालना एक बड़ा पाप है। जिस जूठे अन्न को

आप फेंक देते हैं, उससे कई एक अपना जीवन निभा सकते हैं। अतएव अन्न को वृथा जूठन में डालकर दूसरों को भूखा रखने का पाप मत करो।

तुम्हारे पास एक ऐसी सतरंजी है, जिसे ठीक तरह फैलाकर बिछाने से आठ-दस आदमी बैठ सकते हैं। किन्तु आप उसे दोहरी, चौहरी करके अकेले ही उस पर अकड़ कर बैठो और दूसरे आने वालों को जमीन पर बैठना पड़े, तो क्या तुम सभ्य कहलाओगे? नहीं। हाँ, तुम अपने मन में सबसे ऊपर बैठने का अभिमान भले ही अनुभव कर लो, मगर लोगों की निगाह में तुम गिर जाओगे। लोग तुम्हें असभ्य ही कहेंगे। इसी प्रकार जिस अन्न को खाकर २-४ आदमी अपना निर्वाह कर सकते हैं, उसे जो जूठन में फेंक देता है अथवा लोलुपता के वशीभूत होकर अनावश्यक रूप से पेट में ठूंसता है, क्या उसे आप सभ्य मानेंगे?

भोजन कैसा करना चाहिये, इस विषय का विचार बहुत लम्बा है। यदि उस पर ठीक तरह विचार किया जाय और आप उसे लाभदायक समझ लें तो आपको अपनी सारी भोजन-विधि बदलनी पड़ेगी। यहाँ सम्पूर्ण भोजन-विधि पर विचार करने का अवसर नहीं है, तथापि इतना अवश्य कहता हूँ कि आपने भोजन-विधि में बड़ी गड़बड़ी पैदा कर ली है। प्रथम तो भोज्य-पदार्थों के औचित्य पर आपका ध्यान नहीं जाता। आप भोजन को जिह्वा-आस्वाद की कसौटी पर कसते हैं, जीवन की कसौटी पर नहीं। दूसरे भोजन के परिमाण का भी विचार नहीं करते। शरीर के लिए वास्तव में कितने भोजन की आवश्यकता है, यह कम ही देखा

जाता है। कोई लोग ठूंस-ठूंस कर भर लेते हैं। कदाचित् दूसरे के यहाँ दावत हो तो फिर पूछना ही क्या है? इस लोलुपता के कारण तत्काल अजीर्ण रोग हो जाता है। अजीर्ण प्रारम्भ में हल्का लगता है और वह चूर्ण आदि के द्वारा मिटा लेते हैं, परन्तु जब अधिक बढ़ जाता है तो सोडा-वाटर और लेमिन आदि की बोतलें पीने की आदत डालनी पड़ती है। जब इनसे भी काम नहीं चलता और भोजन ज्यों का त्यों चलता रहता है तो बदहजमी बढ़ जाती है और फिर जुलाब का शरण लिया जाता है। जब जुलाब भी जवाब दे देता है तो दवाइयों का आसरा लेना पड़ता है और वैद्यों की सेवा करनी पड़ती है। फिर बसन्तमालती और मकरध्वज जैसी मंहगी दवाइयों के लिए पैसा बर्बाद करना पड़ता है। मगर यह सब भाड़े की पाचनशक्ति आखिर कब तक काम देगी? अन्ततः शरीर रोगों का घर बनकर निकम्मा हो जाता है। अतएव प्रथम ही भोजन के परिमाण का विचार रखना चाहिये और कीमती भोजन के प्रलोभन में नहीं पड़ना चाहिये। सादा और सात्विक भोजन करने वाला ही 'दक्षा' और 'भोक्षा' का लाभ उठा सकता है।

हे पुरुष! तू ऐसा न करके, जो भोजन करता है उससे दो-चार आदमियों का पेट भर सकता है और तू जैसा भोजन करता है, उसमें सादे भोजन की अपेक्षा चार गुना और आठ गुना पैसा ज्यादा खर्च होता है। मिताहारी और सात्विक भोजी बनकर, शेष का दान करके क्या पुण्य उपार्जन नहीं किया जा सकता?

मित्रो! सादा भोजन बच जाय तो दूसरे को दिया जा सकता है। कदाचित् उस समय मुनि आ गये तो फिर कहना ही

क्या है ? लेकिन दाल का हलवा या खोये की मिठाई बच जाय तो क्या सादे भोजन की भाँति सहज भाव से उसका दान किया जा सकता है ? नहीं । वहिनें बचे हुये हलुवा को फिर सेंक कर काम में ले लेती हैं, पर गेहूँ की सादी रोटी बच जाय तो उसे किसी भूखे को देने की भावना हो ही जाती है ।

शास्त्रानुसार भोजन करने वाला प्रायः बीमार नहीं होता। कभी उससे असावधानी होती भी है तो उपवास करके वह रोग के कारण को मिटा देता है । शास्त्रविहित भोजन करने वाला कभी पेटू नहीं बनता । वह और दो-चार को भोजन करा कर दुनिया का भला करता है । वह वैद्यों और डाक्टरों के घर जाने वाले पैसों की बचत कर लेता है और आरोग्यता का भी आनन्द उठाता है ।

सरस और गरिष्ठ भोजन करने से तरह-तरह की बीमारियाँ खड़ी हो जाती हैं । इसलिए मैं भाइयों और बहिनों को, और विशेषतः विधवा बहिनों को ऐसा भोजन न करने की सलाह देता हूँ । सरस और गरिष्ठ भोजन करने से काम-क्रोध की वृद्धि होती है और मोह की उत्पत्ति होती है । सरस भोजन अगर विधवा बहिनें करेंगी तो उनमें से कइयों को लुक-छिप कर पाप करने की भावना होगी । ऐसा भोजन पाप में सहायक होता है और धर्म को नष्ट करने वाला है । लुक-छिप कर किया जाने वाला पाप, खुल कर किये जाने वाले पाप से भी अधिक बुरा है ।

विधवा बहिनों का धर्म क्या है ? उन्हें क्या करना चाहिए ? इस विषय पर मैं हो सका तो फिर कभी प्रकाश डालूँगा । आज तो सिर्फ यही कहना चाहता हूँ कि उन्हें तथा सर्वसाधारण को अन्न का

आदर करना चाहिये। सात्विक आहार के अतिरिक्त दूसरे खान-पान से बचना चाहिये।

मित्रो! अन्न में अजीब शक्ति है। इसका दान करने से मनुष्य बड़े पुण्य का बंध करता है। कई लोग कहते हैं—हाय, क्या करें? हम करोड़पति नहीं बने, अन्यथा दान करने का अवसर मिलता। मगर मैं कहता हूँ—अरे कायरो! रोते क्यों हो! क्या अन्नदान में कम शक्ति है? सुमुख गाथापति ने अन्न ही का तो दान दिया था, फिर भी देवों ने स्वर्ण की वर्षा की। अगर स्वर्ण की अपेक्षा अन्न कम कीमती होता तो अन्न के बदले देव स्वर्ण क्यों बरसाते? लेकिन ऐसी बात नहीं है। स्वर्ण में प्राण दूर है; अन्न में प्राण नजदीक हैं। नेत्रों में देखने की शक्ति, कानों में सुनने की शक्ति, नाक में सूंघने की शक्ति, जीभ में चखने की शक्ति और हाथों-पैरों में काम करने की शक्ति अन्न के ही प्रताप से है। दो-चार तो क्या, एक दिन भी अन्न के बिना काम नहीं चल सकता। जो उपवास आदि करते हैं, वे अपने आत्म-बल से—मनोबल से; अन्न के द्वारा शरीर में रही हुई शक्ति से ही करते हैं। अतएव जैसे घास में घी दूर और दूध में नजदीक है, उसी प्रकार सोने में प्राण दूर और अन्न में नजदीक है।

आप मुनि को जो अन्न दान करते हैं, उसी के द्वारा वे ध्यान, संयम, तप आदि धर्म-साधना करते हैं। आप मुनि को दान क्या देते हैं, मानों सर्वकामना पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष को सींच रहे हैं। साधारण प्राणी इसी के द्वारा सम्यक्त्व या पुण्य बाँध लेता है। जो अज्ञानी यह बात स्वीकार नहीं करता, समझना चाहिए कि उसने शास्त्र श्रवण ही नहीं किया।

सोनैया बरसाकर देवों ने पाप किया, इस भ्रम का निवारण करने के लिये यहाँ एक बात कह देना आवश्यक है। लौकिक उदाहरण देने से यह बात जल्दी समझ में आ जायगी। गृहस्थ अपने पुत्र या पुत्री की सगाई करता है। जहाँ सगाई की जाती है उन लोगों को वह अपना संबंधी समझता है। स्त्रियाँ आपस में सम्बन्धित होती हैं। दोनों ओर से ऐसा ही समझा जाता है। जब तक सगाई नहीं की गई थी तब तक तो कोई बात ही नहीं थी, पर जब सगाई की गई तब एक सम्बन्धी जब दूसरे सम्बन्धी के यहाँ मिलने जाता है या एक सम्बन्धी जब दूसरे सम्बन्धी से भेंट करने जाता है, तब गृहस्वामी अपने आगत सम्बन्धी को आदरपूर्वक बिठलाता है। पान सुपारी आदि से सत्कार करता है। सुन्दर भोजन बनवाये जाते हैं और आग्रहपूर्वक जिमाया जाता है। तब लड़का वाला यह समझ लेता है कि मेरे यहाँ जो सगाई की गई है, वह पक्की है। अगर लड़की वाला हो तो यह समझता है कि मैंने जिस लड़की की सगाई की है, वह इन्हें पसन्द है। इस प्रकार दोनों ही दोनों के मनोभाव समझकर हर्षित होते हैं और परस्पर एक-दूसरे का गुणगान करते हैं। अगर गृहस्वामी इससे विपरीत व्यवहार करे और आगन्तुक का यथोचित सत्कार न करके मुँह चढ़ाये बैठा रहे तो लड़की वाला समझ जाता है कि इन्हें मेरी लड़की पसन्द नहीं है। अगर लड़का वाला हुआ तो वह भाँप लेता है कि इनकी इच्छा सगाई छोड़ने की है। मतलब यह है कि प्रत्यक्ष शब्दों से हाँ या ना न करने पर भी अपने मनोभाव कार्य द्वारा प्रकाशित कर दिए जाते हैं। देवों ने 'अहो दानं अहो दानं' करके भी दान की प्रशंसा की और स्वर्ण-वर्षा करके भी दान की अनुमोदना की। जब दान देना

पाप नहीं है तो उसकी अनुमोदना करना, पाप कैसे कहा जा सकता है ? जो कार्य परम पुण्यरूप है, उसकी अनुमोदना भी पुण्य ही है।

सुमुख गाथापति ने सुदत्त अनगार को दान दिया और देवों तथा मनुष्यों ने इसकी खुशी मनाई। इस दान के उत्सव से जनता में बड़ा भारी आनन्द फैल गया। लोग जगह-जगह परस्पर सुमुख के दान की सराहना करने लगे और सुमुख के जीवन को धन्य मानने लगे।

जगत् दान-धर्म का महत्व पहचान ले, इसी आशय से शास्त्र में इस कथा का वर्णन आया है; अन्यथा गौतम स्वामी का प्रश्न तो इतना ही था कि यह सुबाहुकुमार किस कर्त्तव्य से सुबाहुकुमार बना ? परन्तु शास्त्र इस कथा से जगत् को उपदेश देना चाहता है।

दान देने के पश्चात् सुमुख की क्या स्थिति हुई, इस विषय में शास्त्र कहता है:—

मूलपाठ—तए णं से सुमुहे गाहावई बहूहिं वाससयाइं आउयं पालित्ता कालमासे कालं किच्चा इहेव जंबूदीवे भारहे वासे हत्थिसीसे नयरे अदीणसत्तुस्स रण्णो धारिणीए देवीए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववण्णे। तए णं सा धारिणी देवी सयणिज्जंसि सुत्त-जागरा ओहीरमाणी २ तहेव सीहं पासइ, सेसं तं चेव जाव उप्पि पासाएव—विहरइ। एवं खलु गोयमा ! सुबाहुणा इमा एयारूवा मणुस्सरिद्धी लद्धा, पत्ता, अभिसमण्णागया।

अर्थात्—तदनन्तर सुमुख गाथापति कई सौ वर्षों तक आयु भोग कर—सुख से जीवन व्यतीत करके काल के अवसर पर

अर्थात् सम्पूर्ण आयु भोग कर इसी जम्बू द्वीप के भरत (खंड) क्षेत्र में, हस्तिशीर्ष नगर में महाराज अदीनशत्रु की धर्मपत्नी धारिणी देवी की कोख में पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। जब सुमुख गाथापति अपना पहले का शरीर छोड़कर इस देवी की कोख में आया, तब देवी ने अर्ध सुप्त अवस्था में सिंह का स्वप्न देखा। बाद में सुबाहु के रूप में मनुष्य-शरीर धारण किया। शेष सब कथा पहले के समान ही समझना चाहिए; यावत्—ऊँचे प्रासाद में भोग भोगता हुआ विचरता है।

लोक में कहावत है—'होनहार विवरान के होत चीकने पात।' अर्थात् जो पुरुष होनहार होता है, उसकी बुनियाद शुरू से ही विलक्षण ढंग की होती है। इस कहावत के अनुसार सुबाहु के होने से पहले उसकी माता ने सिंह का स्वप्न देखा। सुबाहु बड़ा बुद्धिमान् और बहत्तर कलाओं में परिपक्व था। युवावस्था आने पर एक दिन रथ में बैठकर भगवान महावीर के दर्शन करने गया। वहाँ प्रतिबोध प्राप्त किया और बारह व्रतों को स्वीकार कर सच्चा श्रावक बन गया।

भगवान् कहते हैं—गौतम ! तुमने जो प्रश्न किया था उसका उत्तर हो चुका। सुबाहु कौन था ? इसका पहले क्या नाम था ? किस नगर में जन्म था ? इत्यादि बातें तुम्हें बतला दीं। अब यह भी समझ लो कि इसमें यह कान्ति कैसे पैदा हुई और यह ऋद्धि कैसे आई ?

मित्रो ! यह तो ऊपर की बात हुई। इसके अन्तरंग का गहरा विचार करने पर मुझे इसमें अमूल्य रत्न नजर आते हैं। इस

कथा में कितना और क्या-क्या रहस्य भरा हुआ है, यह तो ज्ञानी ही जानते हैं; परन्तु अपनी बुद्धि के अनुसार रहस्यों को खोज निकालने का अधिकार हम लोगों को भी है। गरुड़ पक्षी आकाश में बहुत ऊँचे और दूर तक उड़ सकता है, क्या पतंग उतना उड़ सकता है ? नहीं। फिर भी जिस आकाश में गरुड़ को उड़ने का अधिकार है, उसी आकाश में पतंग को उड़ने का हक है। महाज्ञानी अपनी बुद्धि को बहुत गहराई में ले जाकर विचार करते हैं और महाशान्ति प्राप्त करते हैं। उसी गहराई की ओर अपनी अल्प बुद्धि ले जाकर रहस्य को थोड़ा-बहुत समझकर हम लोग भी आत्मानन्द प्राप्त कर सकते हैं। यह हमारा हक है। उन ज्ञानियों की बुद्धि में और हमारी बुद्धि में बहुत अन्तर अवश्य है, तथापि विचार करने का हक तो सभी को है। कुमार्ग में जाने वाली बुद्धि को इस प्रकार सन्मार्ग में लगाने से कल्याण होता है।

शास्त्र में चार प्रकार के मेघ कहे गये हैं-(१) पहला क्षेत्र में बरसने वाला (२) दूसरा अक्षेत्र में बरसने वाला (३) तीसरा क्षेत्र और अक्षेत्र—दोनों में बरसने वाला और (४) चौथा क्षेत्र या अक्षेत्र में से किसी में भी न बरसने वाला। इसी प्रकार चार तरह के दातार होते हैं:—क्षेत्र में बरसने वाला अर्थात् सुपात्र को दान देने वाला; अक्षेत्र में बरसने वाला अर्थात् अपात्र को दान देने वाला; तीसरा क्षेत्र अक्षेत्र में बरसने वाला अर्थात् सुपात्र और कुपात्र दोनों को दान देने वाला और चौथा कहीं न बरसने वाला अर्थात् किसी को दान न देने वाला। कई अति उदार पुरुष ऐसे होते हैं, जो दोनों को ही दान देते हैं। वह सुपात्र को तो देते ही हैं, पर प्रवचन-प्रभावना आदि के लिए कुपात्र को भी दान देते हैं। कुपात्र धर्मबुद्धि से चाहे

दान का अधिकारी नहीं है, तथापि करुणा-बुद्धि से प्राणीमात्र दान का अधिकारी है।

सभी प्रकार के दाताओं में सुपात्र को दान देने वाला श्रेष्ठ है। सुपात्रदान से बड़ा लाभ होता है। लोग बहुतसा धन खर्च करते हैं। अगर वह सुमार्ग में लगाया जाय तो बड़ी उन्नति हो। कहने का तात्पर्य यही है कि जैसे दान का उपयोग सुपात्र में करना चाहिए, उसी प्रकार बुद्धि का उपयोग सुशास्त्र में करना चाहिए और यह बात जान लेना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् जीवन-व्यवहार में प्रयोग करने से ही लाभ हो सकता है। कोई रसोइया पाकशास्त्र की बहुतसी बातें जान ले, अमुक चीज किस प्रकार बनती है और फलाँ चीज कैसे बनाई जाती है, यह सब उसे मालूम हो जाय, तो भी इतने मात्र से कोई विशेष लाभ नहीं होता। इससे ज्ञान तो हो जायगा मगर असली आनन्द तो चीजें बनाकर उनका भोजन करने से ही होगा। शास्त्र का श्रवण कल्याण के लिए करते हो, यह अच्छा है; पर शास्त्र में प्ररूपित कर्त्तव्य का पालन करने से ही आनन्द लाभ होगा।

भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी को सुबाहु का पूर्वजन्म बतला दिया। मगर बहुत से लोगों को पूर्वजन्म के होने में ही संदेह है। पूर्वजन्म का विषय महाविषय है। इसे सिद्ध करना बड़े महत्त्व का काम गिना जाता है। भगवान् ने गौतम को पूर्वजन्म की बात साक्षात् बतला दी। जो नियम सिन्धु में है, वही नियम बिन्दु में भी है। सुबाहु के पूर्वजन्म को बतलाने में बड़ा रहस्य है। उस जमाने में जो नास्तिक—पूर्वजन्म को न स्वीकार करने वाले रहे होंगे, उन पर भगवान् की इस बात का गहरा असर हुआ होगा। उनमें

में कई एक भव्य आस्तिक बन गये होंगे और पूर्वजन्म की सत्यता स्वीकार करने लगे होंगे। पूर्वजन्म की यह कथा सुनकर नागरिक लोगों को कितना कुतूहल और कितना आनन्द हुआ होगा! आज कोई महाज्ञानी पुरुष आपके पूर्वभव का वृत्तान्त बतला दे कि आप अमुक शहर के निवासी थे, अमुक नाम था—इत्यादि तो आपको और साथ ही दूसरों को कितना आश्चर्य होगा? इसी प्रकार जब साक्षात् भगवान् ने सुबाहु के पूर्वजन्म का हाल कहा तो लोगों को कितना आश्चर्य हुआ होगा? संभवतः हस्तिनापुर से हस्तिशीर्ष नगर कुछ ही दूर होगा। दोनों बड़े-बड़े नगर थे। जिसे विश्वास न होता वह वहाँ जाकर पूछताछ भी कर सकता था।

जैन-सिद्धान्त पर विश्वास रखने वाले, शास्त्र की इस बात को सत्य मानेंगे ही; परन्तु अन्य मतावलम्बी अगर जिज्ञासा से प्रेरित होकर जैनधर्म का अध्ययन करे और पूर्वजन्म के इस वृत्तान्त को बनावटी मान ले तो उसके लिए क्या उत्तर होगा? कोई विशिष्ट ज्ञानी महात्मा होता तो वह प्रत्यक्ष में पूवजन्म सिद्ध करके बता देता, परन्तु हम लोगों में यह सामर्थ्य नहीं है। तथापि पूर्वजन्म का अस्तित्व प्रमाणित करने वाली घटनाएँ आज भी कहीं कहीं सुनी जाती हैं।

मैं जब घाटकोपर (बम्बई) में था तब एक समाचार-पत्र में एक घटना पढ़ी थी। उसमें यह उल्लेख था कि सरकारी जाँच से यह प्रकट हुआ कि मद्रास प्रान्त में किसी गाँव में (समाचार-पत्र में गाँव, नाम आदि का पूरा ब्योरा दिया गया था, मगर मुझे इस समय स्मरण नहीं है) एक महिला रहती थी। वह अपनी लड़की के साथ दूसरी जगह जा रही थी। रास्ते में लड़की विचार करने लगी-

यह रास्ता तो मेरा देखा हुआ है, लेकिन कभी मैं इस ओर आई तो नहीं हूँ ! वह ज्यों-ज्यों आगे चली, रास्ता और वहाँ के पेड़-पहाड़ आदि सब देखे हुये मालूम पड़े। जब रास्ते में नदी आई तो पक्का विश्वास हो गया कि इस नदी पर मैं अनेक बार जल भरने आई थी। वह लड़की आनन्द के कारण हँसने लगी। तब उसकी माँ ने कहा—बिना बात हँस रही है, क्या पागल हो गई है? लड़की ने उत्तर दिया—नहीं माँ, मैं पागल नहीं हुई हूँ। मुझे यह रास्ता, नदी, पेड़ पहाड़ आदि सब देखे हुये प्रतीत होते हैं और जब मैं आगे के किसी निशान का विचार करती हूँ, वही आगे आ जाता है। इसी कारण मुझे बड़ा आनन्द हो रहा है और हँसी आती है।

माँ और बेटी चलती-चलती शहर में पहुँची। वहाँ पहुँचकर लड़की तमाम बातें बतलाने लगी—मैं अमुक की पत्नी थी, अमुक मुहल्ले में अमुक जगह मेरा घर था। मेरे सास-ससुर का नाम यह था, आदि। माता को उसकी बात सुनकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। माँ उसे लेकर उसके घर गई। उसने अपने सब सम्बन्धियों को पहचान लिया। बहुत से लोग इस विचित्र घटना के कारण इकट्ठे हो गये। जब लड़की ने यह बतलाया कि अमुक-अमुक वस्तु अमुक-अमुक ठिकाने छिपाई हुई रक्खी है, तब तो घर वालों को और दूसरे लोगों को उसकी बात में कुछ भी सन्देह न रह गया। उन्होंने उसके पूर्वजन्म की सत्यता स्वीकार की। उस लड़की ने अपने पूर्व-जन्म के पति को ही पति रूप में स्वीकार किया।

ऐसी ही एक घटना, अमेरिका में घटी थी। एक नामी विद्वान् की पुत्री मर कर छाया रूप में नहीं, किन्तु साक्षात् रूप में

मिली थी और उसने अपने पूर्वजन्म की समस्त बातें बतलाई थीं। अमेरिका के कोई-कोई विद्वान् पूर्वजन्म का पता लगाने की चेष्टा करते हैं। जब विज्ञान का विशेष विकास होगा और उसकी गति अध्यात्म की ओर विशेष रूप से होगी, तब बहुतों का सन्देह मिट जायगा।

आजकल के शिक्षितों में विशेष रूप से नास्तिकता पाई जाती है। जिन्हें धार्मिक वातावरण में रहने का अवसर नहीं मिलता और जो आध्यात्मिक साहित्य के पठन-पाठन से वंचित रहते हैं, उनमें आस्तिकता के संस्कार मुश्किल से ही आते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि छात्रों को अन्यान्य लौकिक विषयों के साथ धार्मिक शिक्षा अवश्य दी जाय, जिससे वह ऐसे अत्यावश्यक विषय में विपरीत श्रद्धा वाले न बनें। भविष्य में बनने वाले इन श्रावकों पर मैं विशेष ध्यान रखना चाहता हूँ।

सुबाहुकुमार का यह चरित आजकल का लिखा हुआ नहीं है। यह हजारों वर्ष पहले सर्वज्ञ ने कहा था। गणधरों ने ग्रन्थ-रूप में गूंथा और मुनियों द्वारा लिखा गया है। इसलिए इसमें संदेह करने का कोई कारण नहीं है। धर्म की भावना कम हो जाने से यह बात अटपटी भले लगती हो, किन्तु प्राचीन काल में धार्मिक प्रेम विशेष था। उस समय के लोग आरम्भ से ही बच्चों को धर्मशास्त्र की बातें सिखाते थे। समय के हेर फेर से आज यह बात नहीं देखी जाती।

जैनशास्त्र ने पत्थर में जीव, मिट्टी में जीव और वनस्पति में जीव माना है। परन्तु दूसरे कई भाई इस मान्यता की हँसी उड़ाते थे। उनका कहना था कि पत्थर में जीव कहाँ से आ गया? नमक

में जीव कैसे माना जा सकता है ? मगर विज्ञान के विकास के साथ यह स्थिति मिटती जा रही है। वैज्ञानिकों ने इनमें जीव का अस्तित्व सिद्ध किया है।

विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र बोस का नाम विश्व में विख्यात है। वह संसार के बड़े बड़े वैज्ञानिकों में गिने जाते हैं।* यूरोप आदि सभी जगह उनका मान है। संसार के कई धुरन्धर वैज्ञानिक उन्हें अपना गुरु मानने में अपना अहोभाग्य समझते हैं। जगदीश-चन्द्र बोस ने एक बार बम्बई में, वनस्पति में जीव प्रमाणित करने वाला प्रयोग बतलाया था। दर्शकों की फीस चालीस रुपया थी। लोकमान्य तिलक उस प्रदर्शन के अध्यक्ष (प्रेसीडेन्ट) थे। इतनी फीस होने पर भी दर्शकों की अपार भीड़ थी। बहुत से लोगों को टिकट न मिल सका और उन्हें प्रदर्शन देखने से वंचित होना पड़ा।

जगदीश बाबू जिस समय अपना प्रयोग दिखलाने लगे, उनके सामने पौधों के गमले लगा दिये गये। गमलों के आगे की ओर काँच के बड़े-बड़े तख्ते लगाये गये। फिर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र को योग्य स्थान पर सजा कर उपस्थित जन-समूह से कहा गया—'आप लोग सामने की ओर देखिए। मैं इन पौधों को खुश करता हूँ।'

इतना कहकर बोस बाबू हर्षोत्पादक शब्दों में संबोधन करके उनकी तारीफ करने लगे। ज्यों-ज्यों तारीफ की गई, पौधे खुश होकर बढ़ने-फूलने लगे, जैसे किसी मनुष्य की स्तुति करने पर वह

---

*इस व्याख्यान के समय बोस बाबू जीवित थे। अब न वही मौजूद हैं, न इस व्याख्यान के व्याख्याता ही मौजूद हैं।

खुश होता है। इसके बाद बोस बाबू ने जब उनकी निन्दा आरम्भ की, उनके लिए अपमान-जनक शब्दों का प्रयोग किया, तब वही पौधे मुरझाने लगे। यह दृश्य देखकर लोग आश्चर्य से विह्वल हो गये। सभी को विश्वास होगया कि वृक्षों में जीव है, यह निःसन्देह है।

बोस बाबू इतना ही करके नहीं रह गये। उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिखाया कि वृक्षों में स्नायु जाल है और वह मनुष्यों के स्नायु जाल की ही भाँति स्पंदित भी होता है। जैसे—एक मनुष्य के हाथ में पैंसिल दे दी जाय। फिर उसमें बिजली की शक्ति का प्रयोग करने पर मनुष्य का हाथ अपने-आप काँपने लगता है और पास में रक्खे हुये कागज पर पैंसिल की रेखाएँ अंकित हो जाती हैं, उसी प्रकार पौधों के विशेष स्थान पर पैंसिल रखकर बिजली के द्वारा कागज पर पैंसिल की रेखाएँ अंकित कराकर पौधों के स्नायुजाल के स्पंदन को सिद्ध करके दिखलाया।

मित्रो! यह एक-दो प्रयोग चालीस रुपया खर्च करने पर मालूम हुए। पर आप एक थोकड़ा सीखकर कितना साइंस का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं? वैज्ञानिकों ने जिस प्रकार वनस्पति में जीव सिद्ध किया है, उसी प्रकार अन्य धातुओं में भी सिद्ध किया है। परन्तु इनका यह साइंस अभी अपूर्ण है। हमारे अरिहंतों का साइंस बहुत बढ़ा-चढ़ा है। वहाँ तक पहुँचने में आधुनिक वैज्ञानिकों को न मालूम कितना समय लगेगा! इन्होंने अभी तक एक ही अंग की खोज की है, परन्तु हमारे शास्त्रों में इनका सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन पाया जाता है। यह शास्त्र आजकल के प्रयोग देखकर नहीं लिखे गये हैं, वरन् हजारों वर्ष पहले लिखे गये हैं।

वनस्पति में एक इन्द्रिय मानी जाती है। अतएव यह आशंका की जा सकती है कि कान के अभाव में शब्द कैसे सुने जा सकते हैं और शब्दश्रवणजन्य हर्ष-शोक किस प्रकार हो सकते हैं? इस प्रश्न का समाधान विशेषावश्यक सूत्र और ठाणांग आचारांग सूत्र की टीका में अच्छी तरह किया गया है। वहाँ यह बतलाया गया है कि द्रव्येन्द्रिय एक है, मगर भावेन्द्रिय पाँचों हैं।

जिस शास्त्र में जीवों का इतना बारीक से बारीक हाल मिलता है उसे सर्वाङ्ग-पूर्ण शास्त्र कहना चाहिए और ऐसे शास्त्र की अन्यान्य बातों के—जैसे सुबाहुकुमार के चरित के—यथार्थ होने में कोई संशय नहीं किया जा सकता।

इतने विस्तार के साथ कहने का मेरा आशय यह है कि जिन लोगों को सत्-शास्त्र और सद्गुरु का संयोग मिला है और जिन्हें उन पर पूर्ण श्रद्धा है, उन्हें शास्त्रानुसार क्रिया करके आत्म-कल्याण करना चाहिए। यह अवसर, जो आज आपको मिला है, न मालूम किस पुण्य से मिला है। यह बार-बार नहीं मिलता। सुअवसर से लाभ उठाने वाला मनुष्य ही चतुर और विवेकवान् कहलाता है। आप इस अवसर को यों ही हाथ से न खो दें। अगर किसी को कलकत्ता जाने पर पाँच-दस हजार रुपया मिलने की आशा हो तो क्या वह आलस्य करेगा? वह घर पर ही बैठा रहेगा? नहीं। तो फिर मित्रो! आपको इन शास्त्रों पर विश्वास है। इनके अनुसार चलने में आप अपनी भलाई समझते हैं। फिर क्रिया करने में क्यों सुस्ती करते हैं?

आप शास्त्र पर विश्वास रखते हो तो क्या परलोक पर अविश्वास करोगे? अगर आप परलोक पर विश्वास करते हो तो

उसे सुन्दर और सफल बनाने में आलस्य क्यों करते हो ? आप घर बैठे बैठे दूरदेश में चलने वाली दुकानों का खयाल रखते हो, उनके हिसाब-किताब की ओर आपका परिपूर्ण ध्यान रहता है, तो पर-लोक को किस प्रकार भूल रहे हो ?

संसार में आर्य-धर्म और आर्य-शास्त्र के समान कोई धर्म और शास्त्र नहीं है। कर्मयोग से आपको यह शास्त्र सुनने की योग्यता मिली है, इस पर विचार करके आप क्रिया करने में जुट जाइये। कई भाई और बाइयाँ १५-२० दिनों की तपस्या (उपवास) कर रहे हैं। किन्तु केवल तपस्या करने से काम नहीं चलेगा। अन्तःकरण की निर्मलता की ओर ध्यान देना आवश्यक है। प्राणीमात्र के प्रति प्रेमभाव रखने का ध्यान रक्खो। अहंकार और काम-क्रोध को दूर करो। शान्त बनो। ऐसा करने से चित्त की शुद्धि होती हुई नजर आयेगी। चित्त-शुद्धि से ऐसा अपूर्व आनन्द प्राप्त होगा, जो केवल अनुभवगोचर है और वाणी के द्वारा नहीं कहा जा सकता।

बहुत से लोग चित्त-शुद्धि को कठिन कार्य समझते हैं। वास्तव में चिरकालीन काम, क्रोध, ईर्षा, द्वेष आदि के संस्कारों को समूल नष्ट कर देना एकदम सरल भी नहीं है। फिर भी निरन्तर के अध्यवसाय से यह असाध्य नहीं है। चित्त-शुद्धि का एक सरल उपाय मैं बतलाता हूँ। उसे कोई भी आजमा सकता है। वह है प्रभु के नाम का स्मरण। हर समय परमात्मा का नाम स्मरण करते रहो, आपके चित्त की मलिनता दूर होगी और आपको शान्ति का अनुभव होगा। इस नाम के आगे दूसरी सब वस्तुएँ तुच्छ प्रतीत होनी चाहिए। खाते-पीते, सोते, चलते-बैठते हरदम भगवान् के

नाम का स्मरण करते रहो। ऐसा करने से बहुत शीघ्र चित्त शुद्ध होगा। भगवान के शीघ्र ही दर्शन होंगे। ईश्वर की प्रार्थना करो। ईश्वर को पहचानने का प्रयत्न करो।

कहा जा सकता है कि हमने कभी परमात्मा के दर्शन नहीं किये। बिना दर्शन हुए उससे प्रीति किस प्रकार की जाय? कभी परमात्मा की बोली भी नहीं सुनी तो उसका स्मरण कैसे किया जाय? यह प्रश्न ठीक है। इसका समाधान करने के लिए एक लौकिक दृष्टान्त उपयोगी होगा। आप अशुद्ध वस्तु को अच्छी तरह जानते हैं। उसके सहारे शुद्ध वस्तु को भी समझ जाएँगे।

एक मनुष्य किसी सुन्दरी महिला के रूप पर इतना मोहित हो गया कि उसके बिना उसे चैन न पड़ता। उसे चलते-फिरते सदैव उसी बाई का ध्यान रहता। कब उससे मेरा मिलन हो और कब मैं अपने हृदय की प्यास बुझाऊँ; बस ऐसा ही विचार उसके मन में सदा बना रहता था। उस मनुष्य की बात किसी दूसरी बाई ने जानी। वह विचारशीला और सदाचारिणी थी। उसने सोचा इस मनुष्य का पतन होने वाला है। यह स्वयं तो भ्रष्ट होगा ही, एक मेरी बहिन को भी भ्रष्ट करेगा। अतएव इन्हें भ्रष्ट होने से बचाने का कोई उपाय करना चाहिए।

अगर आपको ऐसे भोगाभिलाषी पुरुष का पता चल जाय तो आप क्या करेंगे? आप मारेंगे, पीटेंगे या दुत्कारेंगे। इसके सिवाय और कुछ नहीं करेंगे। परन्तु सुधार का यह मार्ग ठीक नहीं है। यह तो उसे और गड़हे में डालने का उपाय है। किसी को

दुत्कार कर, फटकार कर या किसी के प्रति घृणा करके उसे पाप से नहीं बचाया जा सकता। अगर पापी से प्रेम करो और शान्ति-पूर्वक समझाओ तो वह बहुत आसानी से समझ जायगा।

उस दूसरी बाई ने यही रास्ता अख्तियार किया। वह उस कामी पुरुष के पास जाकर बोली—भाई, तू इतनी चिन्ता क्यों करता है? तेरे मन की बात मैं जानती हूँ। अगर तू मेरा कहना माने तो मैं तुझे उस स्त्री से मिला दूँगी।

उस पुरुष ने कुछ घबराहट से कहा—ऐं तुम मेरे मन की बात जानती हो? और उससे मिला दोगी? किसने तुम्हें यह बात कही है?

स्त्री—मैं तुम्हारे हाव-भाव से समझ गई हूँ। फिकर मत करो। मैं उससे मिला दूँगी।

पुरुष को कुछ तसल्ली हुई। उसने सोचा—चलो, अच्छा हुआ। अनायास और मुफ्त ही एक दूती मिल गई।

स्त्री ने कहा—मैं तुम्हारा काम तो कर दूँगी, पर तुम्हें मेरा कहना मानना होगा। कहो, मानोगे?

पुरुष—वाह, मैं तुम्हारा कहना नहीं मानूँगा? अगर तुम उससे मिला दोगी तो मैं तुम्हारे लिए तन-धन निछावर कर दूँगा।

'तो बस, ठीक है।' इतना कहकर वह बाई चली गई। वह दूसरे दिन फिर आई। उसने पुरुष से कहा—भाई, चलो।

पुरुष की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने समझा, कोई न रहा है तो ढील क्यों की जाय! वह जल्दी जल्दी सजकर साथ चलने के लिए तैयार हो गया।

वह बाई उसे एक बड़े सफाखाने में ले गई। वहाँ कई एक रोगियों की चीर-फाड़ की जाती थी। कई सड़ रहे थे। कइयों के शरीर से लोहू और मवाद झर रहा था। चारों ओर दुर्गंध फैल रही थी।

यह सब बीभत्स दृश्य देखकर उस पुरुष ने कहा—ऐसे गन्दे स्थान पर क्यों ले आई हो? मारे दुर्गन्ध के सिर फटा जाता है, चक्कर आते हैं। चलो जल्दी यहाँ से।

स्त्री—'जरा ठहरो, बस चलती हूँ।' इतना कहकर वह रोगियों से पूछने लगी—भाइयो, तुम्हें यह रोग कैसे हो गये?

रोगियों में से एक ने कहा—बहिन, क्या बताएँ, यह सब हमारे ही खोटे कर्मों के फल हैं। विषय-सेवन की कोई मर्यादा न पालने से किसी को सुजाक, किसी को गर्मी, किसी को कुछ और किसी को कुछ रोग हो गया है। अगर हम मर्यादा में रहे होते, पराई स्त्रियों को माता-बहिन समझते तो हमारी यह दुर्दशा न होती। मगर क्या किया जाय? अब तो अपने हाथ की बात रही नहीं।

स्त्री ने अपने साथी पुरुष को लक्ष्य करके कहा—सुना आपने, यह रोगी क्या कह रहे हैं? ध्यान से सुन लीजिये।

वह बोला—हाँ सुना। बस सुना। तुम बाहर निकलो। मेरा सिर दुर्गन्ध के मारे फटा जा रहा है।

दोनों बाहर निकल पड़े और अपने-अपने घर चले गये। स्त्री ने सोचा—मेरी दवाई ने अभी पूरा असर नहीं किया। खैर, कल फिर देखा जायगा।

दूसरे दिन वह फिर उसके घर पहुँची। चलने के लिये कहा। तब वह पुरुष कहने लगा—तुम उससे कब मिलाओगी? चकमा तो नहीं दे रही हो?

उत्तर मिला—भैया, उसी से मिलाने के लिए तो उद्योग कर रही हूँ।

पुरुष—तो ठीक है। चलो।

आज वह स्त्री उसे जेलखाने में ले गई। कोई आजन्म कैदी था, कोई आठ वर्ष की और कोई दस वर्ष की सजा पाया हुआ था।

स्त्री ने एक कैदी से पूछा—कहो भाई, तुम किस अपराध में सजा भोग रहे हो?

कैदी बोला—हम तो अलग-अलग अपराधों के अपराधी हैं। किसी ने चोरी की, किसी ने जालसाजी की, किसी ने परस्त्री-गमन किया। इसी कारण हम लोग इस नरक में पड़े सड़ रहे हैं। किसी को भरपेट रोटी नहीं मिलती। कोई बहुत तंग कोठरी में रक्खा गया है। उसी कोठरी में खाना और उसी में पाखाना! कइयों को बेंत लगते हैं और बहुतों को चक्की पीसनी पड़ती है। हम लोगों को जीवित अवस्था में ही नरक से पाला पड़ा है।

स्त्री ने अपने साथी से कहा—सुनो भैया, इनकी बातें। यह बेचारे कितना कष्ट पा रहे हैं! ध्यान दिया आपने!

वह पुरुष बोला—होगा, इससे हमें क्या सरोकार है ?

स्त्री ने सोचा—अब भी मेरा उद्देश्य पूरा नहीं हुआ। कल दूसरा प्रयोग करूँगी। यह सोच वह लौट गई।

प्रातःकाल होते ही वह उसे समझा-बुझा कर साथ ले गई। उसने आज कसाईखाने में प्रवेश किया। वहाँ बकरों की गर्दन पर खचाखच छुरियाँ चल रही थीं। प्राणी अपने प्राणों की रक्षा के लिए 'बें-बें' चिल्लाते हुये दूर भागना चाहते थे। मगर कसाइयों के हाथ से उन्हें कैसे छुटकारा मिल सकता था ? बड़ा ही निर्दयतापूर्ण दृश्य था। कहीं गाय-भैंसों का सिर कटा पड़ा था। कहीं कलेजा कटा पड़ा थड़-थड़ा रहा था। कहीं किसी जानवर का चमड़ा उधेड़ा जा रहा था। कोई मांस को इधर-उधर ले जा रहा था। कहीं हड्डियों के ढेर लगे थे और कहीं आगे कटने वाले जानवर खड़े थे। दुर्गन्ध की तो बात ही क्या पूछना ? वह मनुष्य यह सब देखकर घबरा उठा। बोला—यह सब क्या हो रहा है ?

स्त्री ने कहा—भैया, घबराओ नहीं। अभी इन आदमियों से पूछ लेती हूँ। इतना कहकर कसाई से पूछा—भाई, तुम इन जानवरों को क्यों मारते हो ?

कसाई—मारें नहीं तो क्या करें ? पैसा कमावें नहीं ? इन्हें मारकर इनका मांस बेचते हैं और अपने बाल-बच्चों की परवरिश करते हैं।

स्त्री—भाई, इन पर कुछ दया करो न ?

कसाई—दया किस पर ? यह तो हमारे खाने के लिए ही पैदा किये गए हैं।

साथ का पुरुष बीच ही में बोला—चलो यहाँ से। मुझ से यह दृश्य नहीं देखा जाता।

स्त्री ने सोचा—ठीक है, हृदय कुछ तो पिघला।

दोनों कसाईखाने से बाहर निकले। बाहर निकलने के बाद वह पुरुष कहने लगा—आखिर इतने पशु क्यों मारे जाते हैं ?

स्त्री—इन पशुओं ने पहले खराब काम किये होंगे।

पुरुष—क्या खराब काम किये होंगे इन बेचारों ने ?

स्त्री—खराब काम यही—चोरी करना, विश्वासघात करना, किसी को ठगना, परस्त्री पर मोहित होना आदि।

पुरुष—इन कामों का फल इतना भयंकर है !

स्त्री—सो तो तुमने अपनी आँखों देखा है।

अन्त में दोनों अपने-अपने घर चले गये। उस स्त्री ने विचार किया—ऐसे-ऐसे दृश्य दिखलाने पर भी ठीक परिणाम न निकला। वह अपनी बात के पीछे पागल हुआ जा रहा है। करना क्या चाहिये ?

संयोग की बात है कि जिस महिला पर वह मोहित था, उसका कुछ ही दिन बाद अचानक देहान्त हो गया। जैसे ही उस

स्त्री को उसके देहान्त की खबर लगी कि वह दौड़कर उस पुरुष के पास गई। जाकर उससे बोली—आज उससे मिलने का मौका है। चलो, देरी मत करो।

वह पुरुष अतीव प्रसन्नता के साथ जल्दी तैयार हो गया। इत्र लगाकर और सुन्दर वस्त्र धारण करके चला।

पुरुष के साथ आने वाली बाई को सभी जानते और आदर की दृष्टि से देखते थे। उसे वहाँ आती देख लोगों ने पूछा—आज आपका यहाँ कैसे पधारना हुआ?

उसने उत्तर दिया—भाइयो, आज मैं एक महत्वपूर्ण काम से आई हूँ। आप सब लोग थोड़ी देर के लिए ज़रा बाहर हो जाइये।

सब लोग बाई का कहना मानकर बाहर चले गये। उन्हें विश्वास था कि यह बाई किसी न किसी धार्मिक काम के लिए ही आई है। अतएव उसका कहना मानने में किसी को आपत्ति नहीं हुई।

बाई पहले अकेली अन्दर गई। मृत स्त्री को अच्छे कपड़े पहनाये और आभूषण पहनाये। इत्र भी लगा दिया। फिर वह बाहर आई और उस पुरुष को अन्दर ले जाने लगी।

दोनों भीतर गये। बाई बोली—भैया, लो यह तैयार है। भेंट कर लो।

वह पुरुष कुछ आगे बढ़ा और फिर एकदम एक कदम पीछे लौटता हुआ घबराकर बोला—यह तो मर चुकी है।

बाई बोली—मरना कैसा? वही शरीर है। वही कान और नाक हैं। वही मुख है। वही वस्त्र और आभूषण हैं। सभी कुछ वही तो है। फिर मर गई का क्या अर्थ?

पुरुष—इसमें प्राण नहीं रहे।

बाई—तुम्हारा प्रेम प्राणों (आत्मा) से था या इस शरीर से?

पुरुष—यह तो बड़ा ही भयंकर है। मुझे भय मालूम होता है।

बाई—तो क्या तुम इसकी आत्मा को भ्रष्ट करना चाहते थे? अरे पागल! कसाई बकरा मार कर उसके शरीर के मांस को लेना चाहता है और तू इसके जीते जी ही इसके मांस आदि पर अपना अधिकार जमाना चाहता था? जिसके लिए तू तड़फ रहा था, आज उसी से भयभीत हो रहा है। तेरा प्रेम ऐसा ही था!

पुरुष कुछ कहना ही चाहता था कि बीच में बाई फिर बोल उठी—अरे मेरे भाई! जितना प्रेम तू इस शरीर पर करता था, उतना अगर आत्मा पर किया होता तो तिर जाता, क्योंकि सब आत्मा समान हैं। आत्मा ही अपनी दबी हुई शक्तियाँ विकसित करके परमात्मा बन जाता है।

मित्रो! तुम में से कोई भाई अगर दूसरे आत्मा को भ्रष्ट करना चाहते हों तो उन्हें मेरी सलाह है कि वे इस काम से बाज आएँ। जो पुरुष स्वस्त्री को छोड़कर दूसरे आत्मा को भ्रष्ट न करना चाहे, वह अपना हाथ ऊँचा उठा दे।

(बहुत से लोगों ने हाथ उठाकर परस्त्रीगमन का त्याग किया)

भाइयो ! परस्त्री के बदले परमात्मा से नेह जोड़ो तो कितना कल्याण होगा । कहा है—

जैसी दृष्टि हराम में, वैसी हरि में होय ।
चला जाय वैकुंठ में, पला न पकड़े कोय ॥

वैकुंठ दूर नहीं है । तुम्हारे और वैकुंठ के बीच में हराम का जो पर्दा है, उसे हटा दो । प्रभु के ध्यान में मग्न हो जाओ । आत्मा को सिद्ध करो । काम, क्रोध आदि मलीन भावों को दूर कर दो । ऐसा करने से शीघ्र ही परमात्मा के दर्शन होंगे ।

मूलपाठ—पभू णं भन्ते ! सुबाहुकुमारे देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता आगारो अणगारियं पव्वइत्तए ? हंता पभू ।

तते णं से भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति, नमंसति, २ त्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति । तते णं से समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइं हत्थिसीसाओ णगराओ पुप्फकरंडाओ उज्जाणाओ कयवणमालपियस्स जक्खस्स जक्खायय-णाओ पडिणिक्खमइ, २ त्ता बहिया जणवयविहारं विहरति ।

अर्थात्—गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—भगवन् ! सुबाहु-कुमार, देवानुप्रिय (आप) के निकट मुंडित होकर गृहवास त्याग-कर अनगार होने में समर्थ है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—हाँ, समर्थ है ।

तदनन्तर भगवान् गौतम, श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन करते हैं, नमस्कार करते हैं और वन्दन नमस्कार करके संयम

एवं तप से आत्मा को भावित करते हुये विचरते हैं। तत्पश्चात् श्रमण भगवान महावीर किसी अन्य समय हस्तिशीर्ष नगर से, पुष्पकरंड उद्यान से और कृतवनमालप्रिय यक्ष के यक्षायतन से निकलते हैं। निकलकर बाहर जनपद-विहार विहरते हैं।

सुबाहुकुमार पूर्वजन्म में कौन था? उसने क्या कर्त्तव्य किया था? यह बात गौतम स्वामी ने पूछ ली। भगवान महावीर की कही हुई परोक्ष बात में किसी को किसी प्रकार का सन्देह न रहे, इस प्रयोजन से अब वह भविष्य की बात पूछ रहे हैं।

कई वर्षों बाद होने वाले सूर्यग्रहण का हाल अंधेरी कोठरी में बैठा हुआ ज्योतिषी गणित के द्वारा पहले ही लिख देता है। वह ग्रहण ठीक समय—घंटा और मिनिट भी बतला देता है। यह बात दूसरी है कि कोई ज्योतिषी गणना में भूलकर बैठे और इस कारण समय में अन्तर पड़ जाय और ग्रहण आगे-पीछे हो। परन्तु ज्योतिषी की गलती से ज्योतिष झूठा नहीं कहा जा सकता। ज्योतिषी की भविष्यकालीन बात सत्य होने से भूतकालीन बात भी सत्य मानी जाती है। इस लोकप्रसिद्ध उदाहरण के अनुसार 'सुमुख गाथापति ने सुदत्त मुनि से प्रतिलाभ किया।' इस भूतकालीन बात को, सुबाहु का भविष्य में होने वाली दीक्षा का हाल कहकर पुष्ट किया।

सुबाहु नहीं जानता था कि मैं गृहस्थाश्रम त्याग कर कभी मुनि दीक्षा ग्रहण करूँगा। उसने अपनी शक्ति को देखकर श्रावक के बारह व्रतों का पालन करके ही यथासंभव आत्मकल्याण करने का निश्चय किया था। किन्तु भगवान महावीर ने गौतम से सुबाहु के

भविष्य की बात कही। उन्होंने फरमाया—सुबाहु एक दिन सिर मुंडन करके अवश्य मुनि बनेगा।

सिर के बाल उतार देना ही मुंडन नहीं कहलाता है। मुंडन का अर्थ यह भी है कि सिर पर रहे हुए गृहस्थी के भार को छोड़कर हृदय के विषय-कषाय को निकाल बाहर कर देना।

भगवान् महावीर की बतलाई बात असत्य कैसे हो सकती है? वह भूत-भविष्य को जानने वाले त्रिकालदर्शी महात्मा थे। सुबाहुकुमार के विषय में उन्होंने जो भविष्यवाणी की, वह अन्त में सत्य ही सिद्ध हुई। ऐसी स्थिति में यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि उनके द्वारा प्ररूपित मोक्षमार्ग कदापि असत्य नहीं हो सकता। अतएव इस उपाय को काम में लाने में तनिक भी प्रमाद मत करो। प्रमाद का परित्याग कर निश्चयपूर्वक दृढ़ विश्वास के साथ मोक्षमार्ग पर अग्रसर होओगे तो असली सुख पाओगे।

गौतम स्वामी अपने ही ज्ञान से जान सकते थे कि यह सुबाहु कौन था, इसने क्या काम किया, जिससे यह गति मिली? किन्तु जगत् के कल्याण के लिए उन्होंने भगवान् से पूछा। गौतम स्वामी में रही हुई जगत्-कल्याण की भावना ही इस प्रश्न का प्रधान कारण थी।

आज आप लोगों में परोपकार की वृत्ति बहुत मन्द हो गई है। परोपकार की वृत्ति मन्द हो जाने से धर्म का संकोच हो गया है। भगवान् महावीर और गौतम के प्रश्नोत्तर आज उपलब्ध न होते तो जनता का इतना उपकार कैसे होता? ज्ञानी अपना ज्ञान अपने ही अन्तःकरण में दबा रखते तो अज्ञानियों को ज्ञान कैसे होता?

गौतम स्वामी ने अपना ध्यान-मौन छोड़कर सुबाहु वगैरह के विषय में क्यों प्रश्न पूछे ? ध्यान-मौन में रहने से उन्हें विशेष लाभ था। पर नहीं, उनमें परोपकार की प्रबल भावना थी। वह जनता की भलाई करना चाहते थे। इसी कारण वे प्रश्न पूछने में प्रवृत्त हुए। भगवान मृगालोढ़ा के पास क्यों गये ? इसीलिए कि संसार को यह बता दें कि किस पाप से क्या फल प्राप्त होता है ! जितशत्रु राजा को ज्ञान देने के लिये सुबुद्धि प्रधान ने ४९ दिन तक जल को उथल-पुथल किया था। वह जितशत्रु को राह पर ले आया। गौतम स्वामी ने ध्यान-मौन छोड़कर यह सब प्रश्न भी परोपकार की पवित्र भावना से ही किये। अन्यथा वह सोच सकते थे कि जिसका जो भवितव्य हो सो होगा। मुझे अपना ध्यान-मौन छोड़ने की क्या आवश्यकता है ? पर नहीं, महापुरुषों के कार्य परोपकार की भावना से ही होते हैं।

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
न चन्दनं जिघ्रति सौरभं च, परोपकाराय सतां विभूतयः।

यह सुभाषित वचन है। सुभाषित वचन वह कहलाता है जो हर मजहब वाले के काम आ सके। सभी को नीति की आवश्यकता होती है। इन सुभाषित वचनों में नीति का सार समाया है। एक विद्वान ने कहा है—सच्ची पुस्तक कुदरत के काम ही हैं। प्रकृति की क्रीड़ा के पन्ने उलटकर ही सच्ची शिक्षा प्राप्त की जा सकती है। ज्योतिष, पंचांग में नहीं, आसमान में है। पंचांग में उसका उल्लेख मात्र है। अगर यह बात आपकी समझ में न आये तो एक प्रश्न पर आप विचार करें। बताइए तिजोरी में रक्खा हुआ माल बहुमूल्य है या उसकी सूची-टीप बहुमूल्य है ?

'मात्र ।'

इसी प्रकार पुस्तकों में—शास्त्रों में—तत्व की टीप मात्र है। चौदह राजू लोक का नक्शा तो मनुष्य-शरीर के भीतर ही चित्रित है। मोक्ष कहीं दूर नहीं है। वह तुम्हारे ही भीतर बसा हुआ है। सारा ब्रह्माण्ड तुम्हारे ही अन्दर है। मगर तुम उसे देखते कहाँ हो? तुमने तो हाट-हवेली में ही अपना पता मान लिया है। आप उन्हें ही अपना समझ बैठे हैं। खोटी वस्तुओं पर आपका इतना मोह है और सत्य की ओर से उदासीन हो रहे हो। इस मायाजाल से निकलो।

अरे पुरुष! तू दो छोकरा-छोकरियों को ही क्यों अपना समझता है? मूर्ख! विचार कर। इन तुच्छ वस्तुओं में क्या पड़ा है! सारा ब्रह्माण्ड ही तेरा है। संकुचित भावना छोड़ दे तो तेरी नई आँख खुल जायगी।

प्रकृति का शास्त्र छोटा नहीं है। वह हमें क्या-क्या सिखाती है, यह विचार करने की अपेक्षा यह विचार करना अधिक उपयुक्त होगा कि वह हमें क्या नहीं सिखलाती? वास्तव में निसर्ग की शिक्षा समग्र है। बड़े-बड़े विद्वान् और विज्ञानवेत्ता प्रकृति की पाठ्यपुस्तक की वर्णमाला भी अभी तक नहीं सीख पाये। आप अगर उसके मोटे-मोटे कामों को देख लेंगे तो भी बड़ी शिक्षा मिलेगी। पूर्वोक्त श्लोक में कहा गया है कि नदियाँ अपना जल आप ही नहीं पीतीं। वे दूसरों की प्यास बुझाने के लिए ही बहती हैं।

नदियाँ दूसरों को अपना जल न देकर स्वयं पी लेतीं तो कैसी बीतती? किन्तु नहीं। वे अगणित वृक्षों और अन्य जीवधारियों को जल पिलाती हैं और लाखों मनुष्यों को जीविका दे रही

हैं। इस परोपकार के कारण नदियाँ समुद्र में जाकर मिल जाती हैं। इनके संसर्ग से छोटे-छोटे नाले भी समुद्र में पहुँच जाते हैं। नदियाँ कहती हैं—हमें कुछ नहीं चाहिये। हमारे पास जो कुछ है, वह सब के लिए है। कोई भी उसे इच्छानुसार ले सकता है। जब नदियाँ अपने परोपकार-भाव को इस प्रकार बढ़ाती हैं तो ईश्वरभक्त सम्यग्दृष्टि को क्या कहना चाहिये ?

सच्चा भक्त ईश्वर के चरणों का शरण ग्रहण करने के लिए तन, मन और धन सभी कुछ समर्पण कर देता है। आप कह सकते हैं—क्या हम अपना सारा धन आज ही दूसरों को लुटा दें ? लेकिन समर्पण का मतलब लुटा देना नहीं है। मगर उस धन का दुरुपयोग नहीं होना चाहिए—नीच कामों में उसका व्यय नहीं होना चाहिए। वेश्या को रुपया देना बुरा है पर उसकी वेश्यावृत्ति छुडाने के लिए अगर रुपया दिया जाय तो अच्छा है—पुण्य है। कसाई को रुपया देना पाप है पर उसकी कसाई-वृत्ति छुड़ाने के लिए रुपयों की मदद देना पुण्य गिना गया है। इस प्रकार दान देने से पुण्य भी होता है और पाप भी हो सकता है, ऊपर के दृष्टान्तों से यह बात समझ में आ सकती है।

तन, मन, धन सब ईश्वर को समर्पण करने के बाद चाहे धन रहे या जाय, उसकी चिन्ता नहीं हो सकती। धन का जाना भक्त को दुःख नहीं पहुँचा सकता। भक्त कहता है—

सुनेरी मैंने निर्बल के बल राम।

मुझे किसी का बल नहीं चाहिये। मुझे सिर्फ ईश्वरीय बल की आवश्यकता है। आप इस बात का विचार करें कि ईश्वर का बल प्रबल है या धन का बल ?

'ईश्वर का !'

'तुम दूकान पर बैठे हो और एक रुपये में हीरा बिक रहा हो तो देरी करोगे ?

'नहीं !'

तो फिर बिना पैसे मिलने वाला ईश्वर का रत्न क्यों नहीं ग्रहण करते ?

आप अकड़ कर, मूंछें मरोड़ कर चलते हैं। अपने अभिमान के कारण किसी को कुछ नहीं समझते। इसी कारण आपको ईश्वर नहीं मिलता। ईश्वर से मिलने के लिए हृदय स्वच्छ होना चाहिये। हृदय में अहंकार की अस्पष्ट छाया भी नहीं रहनी चाहिए।

उक्त श्लोक के दूसरे पद का अर्थ है—वृक्ष फल उत्पन्न करते हैं, परन्तु स्वयं नहीं खाते। वृक्ष इतना परोपकार करें और मनुष्य स्वार्थ का पुतला ही बना रहे, यह कितने आश्चर्य की बात है ! वृक्ष तो खैर जीव ही है, निर्जीव ईंट-पत्थर भी दूसरे का उपकार करने के लिए मकान बनने के काम आता है। तुम पत्थर होते तो इस परोपकार के काम में तो आते !

आगे श्लोक में कहा है—मेघ, जल बरसाकर धान्य उत्पन्न करता है, मगर उसमें से एक मुट्ठी-भर भी दाने अपने लिए नहीं लेता।

जिसने तुम्हारे ऊपर उपकार किया है, उसका आभार नहीं मानोगे ? उसके उपकार का बदला नहीं चुकाओगे ? आज साधा-

रण ऋण भी चुकना कठिन हो रहा है तो प्रकृति का ऋण क्या चुकेगा ? माता-पिता का मनुष्य पर कितना ऋण है ? अगर कोई पुत्र कहता है—'माता-पिता ने मिलकर विषयभोग का सुख लूटा और मैं बीच में ही अनायास पैदा हो गया। मुझे उनका उपकार मानने की क्या आवश्यकता है ?' तो आप ऐसे पुत्र को क्या कहेंगे ? कुपात्र ! फिर वह कहता है—'मुझे जन्म देकर माता-पिता ने मुझ पर उपकार नहीं किया, सो तो ठीक है, मगर उत्पन्न होने के पश्चात् उन्होंने गाल चूमे, छाती से चिपटाकर अपना कलेजा ठण्डा किया, आनन्द माना और अपना मनोरंजन किया। वे खिलाड़ी बने और मुझे अपना खिलौना बनाया। यह सब उन्हें मेरी ही बदौलत मिला। अतएव उन्हें मेरा उपकार मानना चाहिए।' आप उससे कहेंगे—'तुझे माता-पिता ने नहलाया, धुलाया, खिलाया, पिलाया, क्या यह तेरे ऊपर असीम उपकार नहीं है ?' लड़का उत्तर देगा—'मेरे जन्म से माता का बांझपन और पिता का निपूतापन मिट गया, क्या यह मेरा उन पर असीम उपकार नहीं है ? इसके अतिरिक्त मेरे विवाह आदि के अवसर पर फिर वह लाभ उठाएँगे, यह ऋण उन पर अलग ही है।' तब माता-पिता उस पुत्र से कहें—अच्छा सपूत बेटा ! जाने दो। हमारा उपकार मत मानो। हम ही तुम्हारे उपकार के भारी भार से लदे हैं। किन्तु तुम्हें हमने जो चीजें दी हैं, वह हमें वापिस दे दो।'

ठाणांग सूत्र में उल्लेख है कि पुत्र को तीन अंग माता से और तीन अंग पिता से मिलते हैं। इन्हीं अंगों से शरीर का निर्माण होता है। माता से रक्त, मांस और माथा तथा पिता से हड्डी, मज्जा और दाढ़ी-मूंछ मिलते हैं।

यह छह अंग पुत्र अगर माता-पिता को वापिस दे दे तो फिर उसके पास क्या बच रहेगा ? कोई भी लड़का, अगर जीवित रहना चाहता है तो, यह अंग माता-पिता को नहीं दे सकता। इसीलिए माता-पिता का पुत्र पर बड़ा भारी उपकार है।

मित्रो ! क्या तुम्हारे ऊपर पानी का, वृक्ष का, और पृथ्वी आदि का उपकार नहीं है ? अगर है तो इनका बदला चुकाने का विचार क्यों नहीं करते ? कोई उपाय क्यों नहीं सोचते ?

तुच्छ प्राणी अपनी बुद्धि के वेग को तुच्छ कामनाओं को पूर्ण करने की तरफ लगाता है। इससे विपरीत ज्ञानी अपनी बुद्धि के वेग का उपयोग संसार का कल्याण करने में करता है। अज्ञानी पराई निन्दा, अवज्ञा और तिरस्कार में अपनी बुद्धि का व्यय करता है, ज्ञानी दूसरों को ज्ञान-दान करने में अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है अज्ञानी का प्रत्येक कार्य स्वार्थ की प्रधानता से होता है, ज्ञानी की प्रत्येक चेष्टा में परोपकार की भावना भरी रहती है। मूर्ख जन का प्रयास असत्कार्य के लिए होता है और पंडित पुरुष का सत्कार्य के लिए। स्वार्थी मनुष्य लोगों को रास्ता भुलाता है, परोपकारी भूलों को रास्ता दिखाता है। सुबाहुकुमार के चरित से यह सब बातें हम सीख सकते हैं।

सुबाहुकुमार सुशील, उदार, नीतिमान और व्यवहार-कुशल था। उसकी प्रत्येक क्रिया दूसरों के लिये उदाहरण-रूप थी। सुबाहु जैसा सुशील था वैसा ही सुरूपवान् भी था। वह ऋद्धिशाली भी था। सुन्दर रूप और उत्तम ऋद्धि उसी की सफल मानी जाती है,

जो संसार के हित के लिए उनका उपयोग करता है। जो ऋद्धि केवल अपने ही काम आती है और परोपकार के काम में नहीं लगाई जाती, वह नरक के द्वार पर ले जाने वाली है।

सुबाहु अपने सत्कार्यों से संसार के लोगों को ही आनन्दित नहीं करता था, परन्तु परमेश्वर के निकट पहुँचने का भी प्रयास करता था। इसी उद्देश्य से उसने श्रावक के बारह व्रत धारण किये। कई लोग सोचते हैं कि धर्म करने से संसार के कार्यों में रुकावट होती है। उनका यह खयाल भ्रमपूर्ण है। धर्म सांसारिक कार्यों में रुकावट नहीं डालता। यही नहीं, वरन् सांसारिक कार्य धर्म के साथ करने से वे और अधिक आनन्दमय और सरस बन जाते हैं। धर्म का उलटा और ऊटपटांग अर्थ समझने से लोगों की धर्मपालन करने की हिम्मत टूट—सी गई है। मगर वास्तव में धर्म ऐसा भयंकर नहीं है। यह समझाने वालों का दोष है कि धर्म के वास्तविक स्वरूप को उन्होंने नहीं समझाया। विधवा बहिन कोठरी के किसी अंधकारमय कोने में बैठकर ही धर्म का पालन कर सकती है, यह धारणा एकदम गलत है। धर्म तो राजाओं के मुकुट पर बैठकर उन्हें भी अपने आदेशानुसार कर्त्तव्य पालन के लिए प्रेरित करता है।

सुबाहुकुमार ने व्रत धारण किये और उसके कुछ काल के पश्चात् भगवान् महावीर जनपदों में विहार करने लगे।

महात्मा पुरुषों के विहार करने में बड़ा रहस्य है। शास्त्र में महात्माओं को जंगम तीर्थ कहा है। संसार में स्थावर तीर्थ इधर-उधर अनेक हैं, मगर उन तक पहुँचना धनवानों या अन्य शक्ति-

शालियों का काम है। मगर ये घूमते हुये तीर्थ दुःखी से दुःखी और अज्ञात-नाम-गोत्र वाले दीन से दीन मनुष्यों से भी भेंट करते हैं और उन्हें पवित्र बना देते हैं।

भगवान् महावीर को किसी से कुछ लेना नहीं था। उन्हें किसी पर मोह नहीं था। फिर भी वह गाँव-गाँव घूमते थे। इसका क्या उद्देश्य था? लोगों के समक्ष परोपकार का सुनहरा आदर्श उपस्थित करना ही उनके विहार का प्रयोजन था। महात्मा अपने कार्यों से जनता के सामने आदर्श खड़ा करते हैं। कोरा बकवास करने वाले स्वयंभू 'लीडरों' की बात निराली है।

आज सर्वसाधारण में परोपकार की भावना मंद पड़ गई है। पर पहले के अनेक महात्माओं ने घूम-घूमकर, वन-वन में भ्रमण करके परोपकार की दीप्तिमयी ज्योति जागृत की थी। परोपकार ही उनका एकमात्र उद्देश्य था। आप रामचन्द्र की ओर ही देखिए। उनके राज्याभिषेक की तैयारी हो रही थी। उसी समय कैकेयी राजा दशरथ से अपने वरदान का तकाजा करती है। राम चाहते तो माता-पिता को एक किनारे रख राज्य प्राप्त कर सकते थे। समस्त प्रजा उनके पक्ष में थी। भरत भी नाराज नहीं थे, उलटे वह रामचंद्र का समर्थन ही करते। पर उस परोपकारी राम ने वन में जाकर घूम-घूमकर परोपकार करना ही श्रेष्ठ समझा।

कहाँ तक कहूँ, मित्रो! आप तीर्थङ्करों के भक्त कहलाते हैं, महावीर के प्यारे कहलाते हैं। पर कभी किसी दुखिया का दुःख दूर करने के लिये चार कदम भी आगे रक्खे हैं? आप रक्खेंगे कैसे, आपका अन्तःकरण परोपकार की भावना से ही सूना है।

श्रीकृष्ण अपनी गीता में अर्जुन से कहते हैं:—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

अर्थात्—हे अर्जुन ! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है अर्थात् स्वार्थमय नहीं है। जो मेरे जन्म और कर्म को भलीभाँति जानता है अर्थात् अपने जन्म और कर्म को मेरी ही तरह स्वार्थरहित कर लेता है वह पुनर्जन्म से छुटकारा पाता है और परमात्मा में मिल जाता है।

श्रीकृष्ण अर्जुन से फिर कहते हैं—हे पांडव, मैं संसार में जो-जो लीला करूँगा वह सब जनता का कल्याण करने वाली होगी।

मित्रो ! क्या आप तीर्थंकरों के जन्म को दिव्य नहीं मानते ? अगर मानते हो तो 'हाँ' करके सिर हिला देने से काम नहीं चलेगा।

आपको शायद हँसी आयगी, पर एक बात पूछता हूँ। क्या आप किसी राहगीर को जंवाई (जामातृ-दामाद) कहते हैं ?

'नहीं।'

'क्योंकि जब तक किसी को बेटी न दी जाय तब तक वह जंवाई नहीं कहलाता। लेकिन जब आप किसी को बेटी दे देते हैं तब उसे जंवाई कहने से कभी इंकार करते हैं ? नहीं। बल्कि उसका असाधारण आदर-सत्कार करते हैं।

अब मेरी बात की तरफ ध्यान दीजिये। जब आप तीर्थंकर को अपना प्रभु मान चुके, आपकी आत्मा ने उनका वरण कर लिया,

तब उनकी क्रिया का आदर न करना क्या उनका उपहास करना नहीं है ? क्या आप ऐसा करके उनका सन्मान करते हैं ?

तीर्थंकर जब जन्म लेते हैं तो साथ में अनन्त पुण्य और अनेक लब्धियाँ लाते हैं। अपरिमित बल उनके साथ आता है। वे त्रिकालदर्शी होते हैं। फिर वह साधारण प्राणियों-मनुष्यों की तरह माता के गर्भ में क्यों रहते हैं ? किसलिए वह माता के गर्भ में कष्ट उठाते हैं ? वे दिव्य ज्ञानी होने पर भी माता के गर्भ से जल्दी बाहर निकलने की कला काम में क्यों नहीं लाते ? क्या ऐसी कला उनके पास नहीं है ? आप इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं ?

आप इसका उत्तर नहीं दे सकते। मैं जो उत्तर दे रहा हूँ, वह एकदम सही है यह भी नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता तो परम ज्ञानी ही जानते हैं। परन्तु मेरी बुद्धि में जो बात आई है, उसे प्रकट कर देता हूँ। मित्रो ! उनमें वह ताकत और वह कला थी कि चाहते तो बहुत जल्दी गर्भ से बाहर निकल आते। मगर गर्भ में रह कर उन्होंने लोगों को यह समझाया है कि कुदरत के नियमों को तोड़ने से हरेक काम अधूरा रह जायगा। वे अपनी समस्त शक्ति दबाये रहे और नैसर्गिक तरीके से ही बाहर निकले।

कुदरत के कानून को तमाम तीर्थंकरों और संसार के सब अवतारों ने मान दिया, परन्तु उन्हीं के अनुयायी आप लोग उस कानून का गला घोट रहे हैं। कुदरत के नियमों को ठुकराने के क्या नतीजा निकला ? ऐसा करके आपने अपने तमाम कामों को पंगु बना लिया। आपके वस्त्र, आपका गृह, आपका रहन-सहन सभी

कुछ प्रकृति के प्रतिकूल हो गया है। इसी कारण किसी के हाथ कमजोर हैं, किसी की आँखें काम नहीं देतीं, किसी के कान कमजोर हैं और किसी के पैरों में पंगुपन आ गया है। आप एक प्रकार की उतावली में पड़े हैं मगर आपका उतावलापन कितना विनाशकारी है, इस ओर आप ध्यान नहीं दे रहे हैं।

उदाहरण के लिए बिजली की रोशनी को ही लीजिए। आपको बिजली की रोशनी का शौक है। मगर इसने आँखों को कितनी हानि पहुँचाई है, यह आप जानते हैं? आप इस बात का विचार तो कीजिये कि बिजली की रोशनी अधिक है या आँखों की? क्या बिजली की रोशनी आपके घर मुफ्त आती है? नहीं, पैसे देने पर आती है। तब पैसे भी देना और आँखों से अंधा भी होना, यह कैसा ज्ञान है? क्या आपने इस रोशनी के विषय में जगदीशचन्द्र बोस जैसे विद्वान् वैज्ञानिक का मत सुना है? उनका कहना है कि हमें रोशनी करने की आवश्यकता नहीं। ऐसा करने से प्रकृति हमें इन्कार करती है। जब तक आपके घरों में देशी दीपक था, तब तक तो स्थिति कुछ और थी परन्तु जो बिजली आपके घर में लगी हुई है, उसी का तार वेश्या के घर में लगा हुआ है। क्या उसके घर के कुछ संस्कार आपके घर में नहीं आते होंगे? मगर आप इसका विचार ही क्यों करने लगे। आपका ज्ञान, आपका धन उन तीर्थंकरों और अवतारों से ज्यादा है! उन्होंने संसार को भूलभुलैया में नहीं डाला, पर आप ऐसा करके अपना बड़प्पन दिखलाना चाहते हैं।

मित्रो! जरा बतलाओ तो सही, आँखों का नूर किस भाव मिलता है?

'यह तो दुनिया के पर्दे पर मिल ही नहीं सकता।'

फिर भी इस अनमोल नूर का नाश करने में आपको संकोच नहीं होता ? अफसोस ! आपने अभी तक अवतारों का जीवन-तत्त्व नहीं पहचाना। आपने सिर में सेन्ट लगा-लगाकर न जाने अपने मस्तिष्क की किन-किन शक्तियों का नाश कर डाला है ! ज्ञानियों का कहना है कि पुष्प मत तोड़ो। हवा पुष्पों की सुगन्ध लाकर तुम्हें अर्पित कर देगी। मगर मनुष्य नहीं मानता। वह फूलों को तोड़-मरोड़ कर सारी सुगन्ध अपनी ही नाक में भर लेना चाहता है।

रेडियम धातु बहुत कमती होने पर भी मिल जाती है। पर आँखों की ज्योति लाखों खर्च करने पर भी नहीं मिलती। फिर भी आप घर में बिजली जलाकर और सिनेमा आदि देखकर उसका नाश करने पर तुले हुए हैं। इस प्रकार आपने अपने तमाम कामों में कुदरत को ठुकरा दिया है। खाने के विषय में भी आपने यही किया। स्वादयुक्त चटपटी चीजें खाना ही आपका ध्येय हो गया। पेट में भूख है या नहीं, इसकी कौन चिन्ता करता है ? बस, जीभ रानी को संतुष्ट करना परमावश्यक है। अधिक खाने से कैसी दुर्दशा होती है, इस विषय में रोम के एक बादशाह का हिस्सा मैं कई बार कह चुका हूँ। उसे कुमौत से मरना पड़ा था।

जो मनुष्य प्रकृति के नियमों के अनुसार ही खाता-पीता है वह नीरोग रहता है। नीरोग का अर्थ यह नहीं कि वह मोटा-ताजा दिखाई दे या वह कभी वैद्य अथवा डाक्टर के पास न जाता हो। वास्तव में नीरोग वह है जिसके स्वस्थ शरीर में पवित्र मन का वास

हो। शरीर को स्वस्थ और मन को पवित्र रखने के लिए सात्विक आहार ही उपयोगी साधन है। मगर खाने के शौकीनों को चैन कहाँ? वे कलकत्ता में बैठे-बैठे बीकानेर के पापड़ों और भुजियों के लिए तार खटखटाते हैं। इस सबका नतीजा क्या हुआ? शरीर में रोग घुस गये और शक्ल बन्दर की सी हो गई। सन्तान की दशा का तो पूछना ही क्या है।

आज तीर्थंकरों और अवतारों की मर्यादा भंग करके लोग कितने दुःखी हो गये हैं! अवतारों ने मानव-समाज में जन्म लेकर बालकों के साथ बालक्रीड़ा करके हमें कैसा उत्तम मार्ग दिखलाया था? नेमिनाथ भगवान् बालब्रह्मचारी रहे। उन्होंने विवाह क्यों नहीं किया? विवाह करने से मोक्ष अटक जाता? क्या विवाह करने वाले मोक्ष नहीं गये? पर नहीं, उन्होंने हमारे सामने यह आदर्श रक्खा कि जैसे विवाह करने वाले मोक्ष जा सकते हैं, उसी प्रकार अविवाहित भी मोक्ष जा सकते हैं। भीष्म पितामह ने विवाह क्यों नहीं किया? क्या उन्हें ब्याहने वाली कोई कन्या न मिलती? नहीं। इन महापुरुषों ने हमारे समक्ष ऐसे आदर्श खड़े किये हैं कि उनका अनुसरण करके हम प्रत्येक परिस्थिति में अपना परम कल्याण-साधन कर सकते हैं।

तीर्थंकरों और अवतारों में असीम शक्ति थी, फिर भी उन्होंने बालविवाह किया था? कृष्ण जैसे अवतार में इतनी शक्ति थी कि पालने में पड़े-पड़े ही पूतना के स्तनों का पान क्या किया, उसके प्राण ही पी लिये। तीर्थंकर महावीर भगवान् में इतनी शक्ति थी कि पैर के अंगूठे से उन्होंने मेरु पर्वत को हिला दिया था। कृष्ण

ने गोवर्धन पर्वत उठाया था। क्या इनमें आप लोगों से या आपके बच्चों से कम शक्ति थी? तब इन्होंने बाल-विवाह क्यों नहीं किया? मित्रो! इन आदर्श पुरुषों के रहस्य को समझो तो तुम्हारा कल्याण होगा।

बहुत से भाई और खास तौर से बहिनें अपने बच्चे को बचपन में ब्याह देने में ही अपना अहोभाग्य मानती हैं। लड़कों के हाथ पीले किये और मानों स्वर्ग या वैकुंठ ही मिल गया। मगर इस घातक मूर्खता से मानव-समाज का कितना घोर पतन हुआ है, इसने भावी मनुष्य-प्रजा का सत्व किस निर्दयता के साथ चूस लिया है, इस बात का विचार करो। इस प्रथा ने समाज की जड़ खोखली कर डाली है। इसने मनुष्य का सत्यानाश कर डाला है!

मित्रो! विवाह एक धर्मक्रिया है। आप सामायिक, पौषध और अधिक से अधिक दीक्षा में ही धर्म मानते हैं। मगर याद रखो, यह सब बाद की धर्मक्रिया है। मूलधर्म विवाह से आरम्भ होता है। अगर विवाहप्रथा न होती तो मनुष्य न जाने क्या कर डालता। उसकी हालत जानवरों से भी गई-बीती होती। मगर विवाह को धर्म का रूप न देकर आज लोगों ने उसे भोग का साधन बना लिया है। बहुत से भाई विवाहित स्त्री के साथ मनमाना भोगविलास करने में स्वतन्त्रता समझते हैं--ईश्वर का दिया हुआ अधिकार मानते हैं। मगर उनका यह खयाल गलत है।

डाक्टर रोगी के गुप्त से गुप्त रोग को देखकर उसका इलाज करता है और उपदेशक समाज की छिपी हुई कुरीतियों का नग्न चित्र जनता के सामने खड़ा करता है और उनके समूल नाश का

उपाय बतलाता है। इसीलिए मैं निःसंकोच भाव से कहता हूँ—दस पन्द्रह वर्ष के बच्चों का विवाह करके, उन्हें एक कमरे में बंद करके, वीर्यपात करने का महान् भयंकर उपदेश माता-पिता कहलाने वाले मनुष्य करते हैं! मगर अकाल में वीर्य नष्ट कराना बालकों की हत्या करने के बराबर है। नीति में कहा है कि जब तक कम से कम बीस वर्ष का लड़का और सोलह वर्ष की लड़की न हो जाय तब तक उनका विवाह नहीं होना चाहिये। लेकिन आज समाज की स्थिति देखते हुये अगर यह सम्भव नहीं हो तो भी जब तक कम से कम अठारह वर्ष का लड़का और चौदह वर्ष की लड़की न हो जाय तब तक तो हर्गिज उनका विवाह नहीं करना चाहिए। जो भाई-बहिनें इस नियम का पालन करना चाहें वे अपना हाथ ऊँचा उठाकर प्रतिज्ञाबद्ध हो जाएँ। (बहुत से हाथ ऊँचे उठे)

मित्रो! यह प्रतिज्ञा ग्रहण करके आपने बहुत अच्छा काम किया है। आपने समाज को जीवन-दान देने की ओर कदम बढ़ाया है। बालविवाह की दुष्ट प्रथा ने न जाने कितनी माताओं की गोद सूनी कर दी। इस पिशाचिनी ने कौन जाने कितनी बहिनों का सुहाग छीन लिया। पहले के जमाने में किसी की छोटी उम्र में मृत्यु हो जाती तो हाहाकार मच जाता था। पर आज यह मामूली बात हो गई है। भारत में जितनी अकाल मृत्यु होती है, उतनी और किसी देश में शायद ही होती हो। इंग्लैंड और अमेरिका जैसे देशों में सत्तर वर्ष के लगभग औसत आयु आती है, तब हमारे अभागे देश में पूरे पच्चीस वर्ष की भी औसत आयु नहीं। इसका क्या कारण है? अन्य कारणों के साथ बालविवाह भी इसका एक प्रधान कारण

है। मित्रो ! आप सिर्फ सामायिक में ही धर्म न मानो, इस विवाह-पद्धति को भी धर्म मानकर मूल को सुधारने का उपाय करो।

कई भाइयों का कथन है कि लड़कियों का विवाह जल्दी इस कारण किया जाता है कि वह शीघ्र ऋतुमती हो जाती हैं। लेकिन, भाइयो ! यह सब किसका दोष है ? आप उन छोटी लड़कियों के सामने ऐसे कृत्य करते हैं कि हमें कहने में भी लज्जा आती है, मगर आपको करने में लज्जा नहीं आती। 'थारे वींद किसो लावां ?, 'कालो चाहिजे के गोरो ?' इस प्रकार की बातें लड़कियों से कही जाती हैं। बचपन में ही उनकी भावना बिगाड़ देते हो और उनका खान-पान तथा रहन-सहन ऐसा बना देते हो कि उनके हृदय में जल्दी ही कामवासना जागृत हो जाती है।

मूल बात यह है कि आप गृहस्थाश्रम को शुद्ध बनाइये। अपना जीवन संयममय और त्यागमय बनाने की ओर पूरा लक्ष्य दीजिए। ऐसा करने से आप परमात्मपद की ओर अग्रसर हो सकेंगे। त्यागमय जीवन बनाने का एक अच्छा उपाय है—अहंकार का त्याग करना और दिल में दया धारण करना। इसीलिए तुलसीदासजी कहते हैं—

> दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
> तुलसी दया न छांडिए, जब लग घट में प्रान ॥

इसका मतलब आप समझ गये होंगे। 'हूँ' को निकाल दो और 'तू' को रहने दो। मान लो, यही ईश्वर में मिलना है।

सुबाहुकुमार ने इसी ओर प्रयाण किया। उसने श्रावक के बारह व्रत धारण कर लिए। उधर भगवान् महावीर सुबाहु का पूर्व-

जन्म का चरित प्रसिद्ध करके जनपद में विचरने लगे। महात्मा क्यों विचरते हैं, यह पहले कहा जा चुका है।

श्रावक-व्रत धारण करने के पश्चात् सुबाहुकुमार में क्या-क्या परिवर्तन हुआ ? यह देखना है। शास्त्र श्रवण करके अगर आत्मा शास्त्र के उपदेश को ठीक समझ ले तो तदनुसार ही जीवन बना लेना श्रोता का सब से बड़ा कर्त्तव्य है। उपदेश सुनना किन्तु उसे समझकर व्यवहार में न लाना लगभग समय नष्ट करना है। उपदेश सुन-समझकर एक किनारे रख देने की चीज नहीं है।

सुबाहु ने एक बार उपदेश सुना और उसी के अनुसार अपना जीवन बना लिया। आप प्रतिदिन उपदेश सुनते हैं मगर आपके जीवन में कोई परिवर्तन नहीं होता। इसका क्या कारण है ? आपको आज जो उपदेश मैं दे रहा हूँ, उसे पूर्णरूप से जीवन में उतारने का काम मेरे लिए भी अभी शेष है। मैंने भी इसे पूर्ण-रूप से जीवन में अभी तक नहीं उतार पाया हैं। पर मैं इस ओर सदा सचेष्ट रहता हूँ। आप भी सचेष्ट रहकर इसे अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करो। ऐसा करने पर ही कल्याण हो सकता है।

शास्त्रों में कहा गया है कि सुबाहुकुमार ने जब व्रत धारण किये, तब उसका दूसरा जन्म हुआ। शास्त्र में श्रावक को 'द्विजन्मा' कहा है। 'द्विजन्मा' के अनेक अर्थ हैं—ब्राह्मण, पक्षी, साधु, श्रावक आदि। ब्राह्मण द्विजन्मा तब कहलाता है, जब उसका यज्ञोपवीत संस्कार हो जाय। यज्ञोपवीत—जनेऊ—लेने के बाद यह संसार के मायाजाल से दूर होकर तत्त्व विचार में लीन हो जाता था। उसका जीवन, पहले वाले जीवन से भिन्न हो जाता था। इसीलिए उसे

द्विजन्मा अर्थात् दूसरा जन्म धारण करने वाला कहा है। पक्षी पहले-पहल अंडे के रूप में होता है। न उसके पैर होते हैं, न पंख आदि। सिर्फ एक तरल पदार्थ के रूप में अंडे में रहता है। कालान्तर में अंडा फूटता है और उसमें से पैर, पंख आदि समस्त अंगोपांगों से युक्त पक्षी निकलता है। वह पक्षी पहले किस रूप में था और फिर किस रूप में आ गया, अर्थात् उसके जीवन में कितना अन्तर आ गया? इसी विशेष अन्तर के कारण वह द्विजन्मा कहलाता है। इसी प्रकार साधु के विषय में समझ लेना चाहिए। साधु पहले गृहस्थ था। अब उसने साधुदीक्षा ग्रहण की और अपने जीवन में महान् परिवर्तन कर लिया। अतएव साधु को भी द्विजन्मा कहते हैं।

कई भाई सोचते हैं कि श्रावक के घर में जन्म लेने से ही हम श्रावक हो गये हैं। अथवा ब्राह्मण के कुल में जन्म धारण करने से ही हम ब्राह्मण हैं। अतः हम भी द्विजन्मा कहलाने के अधिकारी हैं। मगर यह विचार सही नहीं है। मोर, हंस, बगुला आदि प्राणियों के अंडे को हम मोर, हंस या बगुला नहीं कह सकते। वे उन पक्षियों के अंडे हैं, यह तो कहा जा सकता है, मगर अंडा, पक्षी नहीं कहा जा सकता। कालान्तर में जब अंडा फूट जायगा और जीव पक्षी का रूप धारण कर लेगा, तब उसे मोर, हंस आदि—जो कुछ वह हो—कहा जायगा। इसी प्रकार श्रावक या ब्राह्मण के कुल में जन्म लेना अंडे के रूप में आने के समान है। किन्तु जब व्रत धारण कर लिए जाएँगे और उपनयन संस्कार हो जायगा तभी श्रावक और ब्राह्मण संज्ञा प्राप्त होगी। उसी समय 'द्विजन्मा' कहलाने का अधिकार प्राप्त होता है।

जो श्रावक तत्त्व से अज्ञात है, मिथ्या भाषण करता है, दुराचार का सेवन करता है, उसे 'द्विजन्मा' नहीं कह सकते। इसी प्रकार जो ब्राह्मण ब्रह्मचर्य आदि गुणों से रहित है, जो संसार के मायाजाल से दूर नहीं हुआ है, वह द्विजन्मा कहलाने का अधिकारी नहीं है।

आप एक प्रश्न पर विचार कर लें—आप पक्षी बनना चाहते हैं या अंडे में ही रहना चाहते हैं ? अगर आप पक्षी बनना चाहते हैं तो अपने मिथ्या ज्ञान और खोटे आचरण को दूर करो। मोह-निद्रा से जागृत होओ। अज्ञान के खोखे से बाहर निकलो। जो अज्ञान के आवरण में बन्द रहेगा, वह द्विजन्मा नहीं कहला सकेगा।

मित्रो ! अगर आप पृथ्वी पर पेट रगड़कर न चलना चाहें और उच्च आकाश में स्वच्छन्द विहार करना चाहते हों तो मोह के मोटे बन्धन को तोड़ कर 'पक्षी' बन जाओ।

क्या आप इस बात का रहस्य समझ गये ? अगर समझ गये हैं तो उस पर अमल करो। आप समझकर और 'हाँ' कहकर भी उस पर अमल नहीं करते, यही बड़ी भारी त्रुटि है। मैं तो उस पक्षी के समान हूँ जो अंडे को फोड़कर, पक्षी को बाहर निकालना चाहता है। मैं उपदेश रूपी टोंच मारता हूँ। उसमें से निकलना या न निकलना आपका काम है।

मित्रो ! आपको एक बात और कह देता हूँ। आपके पास सोना ज्यादा हो गया है, सो आप इसके नशे में न रहें। पढ़ने-पढ़ाने और सुधार करने के काम में इसका उपयोग करो। आपके समाज

द्विजन्मा अर्थात् दूसरा जन्म धारण करने वाला कहा है। पक्षी पहले-पहल अंडे के रूप में होता है। न उसके पैर होते हैं, न पंख आदि। सिर्फ एक तरल पदार्थ के रूप में अंडे में रहता है। कालान्तर में अंडा फूटता है और उसमें से पैर, पंख आदि समस्त अंगोपांगों से युक्त पक्षी निकलता है। वह पक्षी पहले किस रूप में था और फिर किस रूप में आ गया, अर्थात् उसके जीवन में कितना अन्तर आ गया? इसी विशेष अन्तर के कारण वह द्विजन्मा कहलाता है। इसी प्रकार साधु के विषय में समझ लेना चाहिए। साधु पहले गृहस्थ था। अब उसने साधुदीक्षा ग्रहण की और अपने जीवन में महान् परिवर्तन कर लिया। अतएव साधु को भी द्विजन्मा कहते हैं।

कई भाई सोचते हैं कि श्रावक के घर में जन्म लेने से ही हम श्रावक हो गये हैं। अथवा ब्राह्मण के कुल में जन्म धारण करने से ही हम ब्राह्मण हैं। अतः हम भी द्विजन्मा कहलाने के अधिकारी हैं। मगर यह विचार सही नहीं है। मोर, हंस, बगुला आदि प्राणियों के अंडे को हम मोर, हंस या बगुला नहीं कह सकते। वे उन पक्षियों के अंडे हैं, यह तो कहा जा सकता है, मगर अंडा, पक्षी नहीं कहा जा सकता। कालान्तर में जब अंडा फूट जायगा और जीव पक्षी का रूप धारण कर लेगा, तब उसे मोर, हंस आदि—जो कुछ वह हो—कहा जायगा। इसी प्रकार श्रावक या ब्राह्मण के कुल में जन्म लेना अंडे के रूप में आने के समान है। किन्तु जब व्रत धारण कर लिए जाएँगे और उपनयन संस्कार हो जायगा, तभी श्रावक और ब्राह्मण संज्ञा प्राप्त होगी। उसी समय 'द्विजन्मा' कहलाने का अधिकार प्राप्त होता है।

जो श्रावक तत्त्व से अज्ञात है, मिथ्या भाषण करता है, दुराचार का सेवन करता है, उसे 'द्विजन्मा' नहीं कह सकते। इसी प्रकार जो ब्राह्मण ब्रह्मचर्य आदि गुणों से रहित है, जो संसार के मायाजाल से दूर नहीं हुआ है, वह द्विजन्मा कहलाने का अधिकारी नहीं है।

आप एक प्रश्न पर विचार कर लें—आप पक्षी बनना चाहते हैं या अंडे में ही रहना चाहते हैं? अगर आप पक्षी बनना चाहते हैं तो अपने मिथ्या ज्ञान और खोटे आचरण को दूर करो। मोह-निद्रा से जागृत होओ। अज्ञान के खोखे से बाहर निकलो। जो अज्ञान के आवरण में बन्द रहेगा, वह द्विजन्मा नहीं कहला सकेगा।

मित्रो! अगर आप पृथ्वी पर पेट रगड़कर न चलना चाहें और उच्च आकाश में स्वच्छन्द विहार करना चाहते हों तो मोह के मोटे बन्धन को तोड़ कर 'पक्षी' बन जाओ।

क्या आप इस बात का रहस्य समझ गये? अगर समझ गये हैं तो उस पर अमल करो। आप समझकर और 'हाँ' कहकर भी उस पर अमल नहीं करते, यही बड़ी भारी त्रुटि है। मैं तो उस पक्षी के समान हूँ जो अंडे को फोड़कर, पक्षी को बाहर निकालना चाहता है। मैं उपदेश रूपी टोंच मारता हूँ। उसमें से निकलना या न निकलना आपका काम है।

मित्रो! आपको एक बात और कहे देता हूँ। आपके पास सोना ज्यादा हो गया है, सो आप इसके नशे में न रहें। पढ़ने-पढ़ाने और सुधार करने के काम में इसका उपयोग करो। आपके समाज

की विधवा बहिनों पर बड़ा भारी संकट आया हुआ है। उसके निवारण का उपाय सोचो। वैधव्य धर्म का किस प्रकार भलीभाँति पालन हो, इस ओर लक्ष्य दो। अगर यह विधवा बहिनें अपना धर्म समझ जाएँगी तो अन्य बहिनों में सनसनी फैल जायगी और बहुत जल्दी समाजसुधार होगा। इससे मेरा काम भी कुछ हल्का हो जायगा।

लोग बैठकर आपस में गप्पें मारते रहते हैं। क्या वह इस बात का भी कभी विचार करते हैं कि समाज का सुधार किस प्रकार हो सकता है? उन्हें यह विचार करने की आवश्यकता ही क्या है! यह विचार करने से आरम्भ समारम्भ का पाप जो लगता है!

बीकानेर में जब ब्रह्मचर्याश्रम (गुरुकुल) खोलने का विचार किया जा रहा था तब कइयों ने अपने विचार प्रकट किये-ब्रह्मचर्याश्रम में रहने वाले लड़के पेशाब करेंगे और पेशाब में जो सम्मूर्छिम जीव उत्पन्न होकर मरेंगे, उसका पाप हमें लगेगा; अतएव ब्रह्मचर्याश्रम नहीं खोलना चाहिए। हाय हाय! यह कैसे घृणित विचार हैं! मानो, ब्रह्मचर्याश्रम में आने वाले लड़के अपने घर मूतते ही न होंगे और यहीं आकर मूतना शुरू करेंगे। खेद है कि ऐसे भाइयों की दृष्टि इस ओर तो चली गई, किन्तु लड़के यहाँ आकर अच्छी क्रिया करेंगे, धर्म का आचरण करेंगे, ब्रह्मचर्य पालेंगे, पढ़-लिख कर होशियार हो जाएँगे, सुसंस्कारी बनकर उत्तम भाव प्राप्त करेंगे, संसार पर अपने धर्म की छाप मारेंगे, इन सब बातों की ओर उनका लक्ष्य ही नहीं जाता। मित्रों! समय बदल गया है। उठो,

चेतो, जागो। जो कुछ शंका हो, पूछो। अज्ञान के अंडे में से निकल कर पक्षी का रूप धारण करो।

जब कोई बहिन विधवा हो जाती है तो उसे रोने की टेव तो डाल देते हो, पर धर्म सुनने के लिए कहीं नहीं भेजते। अगर कोई कहता भी है तो उत्तर मिलता है—'कांई करां स्या, म्हारा मां एडी रीत कोयनी।' मित्रो! यह रीति अगर पहले की होती तो आज कुछ कहने का वक्त ही नहीं आता। इसका चलन तो आपने ही किया है, इसलिए आपसे कहा जाता है। पहले की विधवा बहिनें लम्बी अंगरखियाँ पहनती थीं। सोने के आभूषण पहनने की चाल उनमें नहीं थी। वह वैराग्य की साक्षात् मूर्ति बनी हुई थीं। पर आज विधवा बहिनें कितना सोना पहनती हैं, कैसे कपड़े-लत्ते धारण करती हैं, यह बात आपसे छिपी हुई नहीं है। इसलिए कहता हूँ—अब चेतो। अज्ञान रूपी अंडे में से निकलो और द्विजन्मा बनो। अगर द्विजन्मा न बनोगे तो पृथ्वी पर ठोकरें खाते फिरोगे। द्विजन्मा बन गये तो आकाश में सुखपूर्वक विचरण करोगे।

मित्रो! आप अभी द्विजन्मा नहीं बने, इससे मुझे दुःख होता है। आप द्विजन्मा बनो और मेरा संकट काटो। आप मुझे किसी प्रकार का कष्ट न होने देने की अपनी जिम्मेवारी समझते हैं। आज अगर मुझ में रोटी पचाने की शक्ति न हो और मुझे दूध की जरूरत हो तो आप मुझे दूध देते हैं। किसलिए? मेरे भूख का दुःख दूर करने के लिए। तब आपकी अंडा रूप अवस्था देखकर मुझे जो दुःख हो रहा है, उसे दूर करना आप अपना कर्त्तव्य क्यों नहीं समझते?

एक वृक्ष की डाली पर एक बन्दर और एक पक्षी बैठा है। वृक्ष गिरने लगा या वह डाली टूटने लगी तो वह बन्दर के लिए दुखदायी होगी या पक्षी के लिए ?

'बन्दर के लिए !'

क्यों ? इसीलिए कि बन्दर उड़ नहीं सकता, परन्तु पक्षी उड़ सकता है। पक्षी को वृक्ष के गिरने से किसी प्रकार का दुख न होगा, क्योंकि उसे उड़ना आता है। जब तक डाल पर बैठा रहेगा, आनन्द मनाता रहेगा और डाल जब टूट जायगी तो आकाश में सुखपूर्वक विचरकर आनन्द मानेगा। इसी प्रकार जो श्रावक बाहर व्रत धारण कर उनका पालन करके द्विजन्मा होता है वह संसार-रूपी वृक्ष पर बैठा हुआ भी आनन्द मनाता है। अगर संसार-वृक्ष टूट जाय तो उसे किसी प्रकार का दुख नहीं होता। वह संसार को अपना क्रीड़ा-स्थान समझता है और संसार की सुख-रूपी ऊँची से ऊँची डाली पर बैठ सकता है। जो द्विजन्मा नहीं होता उसकी हालत बन्दर की जैसी होती है। मित्रो ! आप बन्दर बनना चाहोगे या पक्षी ? अगर आप संसार-रूपी वृक्ष पर पक्षी बनकर न बैठोगे तो इस वृक्ष के टूटने पर आपको घोर दुःख होगा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि श्रावक के व्रत धारण करके आप द्विजन्मा बन जाइए।

(१४)

जीवन में परिवर्तन ।

ते णं से सुबाहुकुमारे समणोवासए जाए, अभिगयजीवाजीवे, उवलद्धपुण्णपावे, आसवसंवर-णिज्जर-किरियाहिगरण बंध-मोक्खकुसले, असहेज्जदेवतासुर-नाग-सुवण्णजक्ख-रक्खस-किन्नर किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावय-णाओ अणइक्कमणिज्जे, निग्गंथे पावयणे निस्संकिए, निक्कंखिए, निव्वितिगिच्छे, लद्धट्ठे, गहियट्ठे, पुच्छियट्ठे, अहिगयट्ठे, विणिच्छियट्ठे अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ते, अयमाउसो णिग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे, ऊसियफलिहे, अवंगुयदुवारे, चियत्तंतेउरघरप्प-वेसे, बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं चाउद्द-सट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणे समाणे, निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमणं वत्थ-पडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं पीढफलगसिज्जासंथारएणं ओसहभेस-ज्जेण य पडिलाभेमाणे अहापरिग्गयहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावे-माणे विहरइ ।

अर्थात्—अब सुबाहुकुमार श्रावक हुआ । उसने जीव और अजीव तत्त्व को जाना, पुण्य और पाप को जाना, आस्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बंध और मोक्ष में कुशल हो गया। किसी भी कार्य में वह दूसरों की आशा नहीं रखता था । अथवा

वह निर्ग्रन्थ प्रवचन में इतना दृढ़ था कि समर्थ देव, असुर, नाग, सुवर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड़, गन्धर्व, महोरग आदि देवता भी उसे निर्ग्रन्थ प्रवचन से विचलित नहीं कर सकते थे। उसे निर्ग्रन्थ-प्रवचन में शंका, कांक्षा और विचिकित्सा नहीं थी। उसने शास्त्र का अर्थ समझ लिया था, शास्त्र का अर्थ निश्चित रूप से ग्रहण किया था, शास्त्र के सन्देह-जनक स्थल पूछकर निर्णीत कर लिये थे, शास्त्र का अर्थ समझ लिया था, निश्चय कर लिया था, उसकी नस-नस में निर्ग्रन्थ प्रवचन के ऊपर प्रेम व्याप्त हो गया था। अतएव वह समझता था कि—हे आयुष्मन! यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन ही अर्थ और परमार्थ है, अन्य सब अनर्थ-रूप हैं। उसकी उदारता के कारण उसके भवन के दरवाजे की आगल ऊँची रहती थी, उसका द्वार सबके लिए सदा खुला रहता था। वह जिसके घर या अन्तःपुर में जाता, उसे प्रीति उत्पन्न करता था। वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान, पौषध और उपवास से चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या तथा पूर्णिमा के दिन परिपूर्ण पौषध करता था, श्रमण निर्ग्रन्थों को निर्दोष और ग्राह्य अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण, पाट, शय्या, संथारा और औषध-भेषज, यह सब देता हुआ गृहीत तपस्या से आत्मा को भावित करता हुआ विचरता था।

सुबाहुकुमार द्विजन्मा-श्रावक बन गया। श्रावक के पहले व्रत का पालन करने के लिए जीव और अजीव का भेद समझना आवश्यक है। सुबाहुकुमार ने जीव और अजीव का भेद समझा। जीव और अजीव कहो या जड़ और चेतन कहो, बात एक ही है।

जीव का अस्तित्व स्वीकार करने वाला आस्तिक और न स्वीकार करने वाला नास्तिक कहलाता है। आस्तिक और नास्तिक की चर्चा में सब शास्त्र का सार गर्भित हो जाता है। जड़ और चेतन की व्याख्या में सब शास्त्र समाप्त हो जाते हैं।

प्रश्न होता है जीव किसे कहना चाहिए और अजीव किसे कहना चाहिए? यह विषय बड़ा गहन है। भारतवर्ष के समस्त धर्मों ने इस पर खूब विचार किया है। किस धर्म वाले की सम्मति इस विषय में क्या है, यह बात उनकी धर्म-पुस्तकों से जानना चाहिए। गीता के इस विषय पर आपका क्या मत है?

श्रीकृष्ण, अर्जुन से कहते हैं:—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन—
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमनुशृणोति,
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

अर्थात्—इस चिदानन्द का स्वरूप भीतर क्या है और बाहर क्या है, इसे देखकर कई लोग आश्चर्य करने लगते हैं। कई लोग इसका आश्चर्यकारक वर्णन करते हैं और कई इसके वर्णन को आश्चर्यचकित होकर सुनते हैं। परन्तु इसका असली स्वरूप किसी ने नहीं जाना।

आत्मा के तत्त्व को जानने के लिए गई हुई मन सहित वाणी लौट आई और उसने 'नेति-नेति' की घोषणा कर दी अर्थात्

उसने कह दिया—आत्मा का पार नहीं पा सकते। ऐसे गहन विषय को समझाने की जिम्मेदारी मैं अपने सिर ले रहा हूँ। इसका निर्णय कैसे किया जाय ? जैसे बड़ा न्यायाधीश अपने सामने आये हुये बड़े गहरे और पेचीदे मुकद्दमे को कानून की किताबों से, दफाओं से, लौकिक रीति-रिवाजों के प्रमाण से तथा अन्य प्रकार के सबूतों से निपटाता है, दूध और पानी को जुदा-जुदा कर देता है, उसी प्रकार प्राचीन और अर्वाचीन प्रमाणों से इसके निर्णय करने का उद्योग किया जायगा।

जड़ और चेतन के सम्बन्ध में हजारों अनुभवियों ने अपने अपने अनुभव लिखे हैं। पर अभी महाराष्ट्र के कवि तुकाराम का अनुभव रखता हूँ। तुकाराम एक बड़ा भक्त हो गया है। उसकी कविता-शक्ति बड़ी ओजस्विनी मानी गई है। महाराष्ट्र के बड़े बड़े विद्वान् उसकी कविताओं का रसास्वाद करके आनन्द का अनुभव करते हैं। लोकमान्य तिलक भी तुकाराम की कविता पर मुग्ध थे। उन्होंने अपनी बनाई पुस्तकों में तथा व्याख्यानों में इसकी कविता का खूब उपयोग किया है और उसका रहस्य विस्तृत करके उस पर अपने विचार प्रकट किये हैं। तुकाराम ने आत्मा के विषय में अपने अनुभव का वर्णन इस प्रकार किया है:—

जिह्वा जाणे फिके मधुरची क्षार येर मार हाता सनकले।
देखावे नेत्री बोलावें मुखें, चिंता सुख-दुखें कलो येती।
परिमलासी घ्राण रोकती श्रवण एकाचे कारण एका नव्हे।
एके देहिं भिन्न ठेविय ले कला नाचवी पुतला सूत्रधारी।
तुका म्हणे ऐशी जयाची सता कां तया अनते विसर लेसी।

यह कविता मराठी भाषा में है। बहुत से पाठक इसका अर्थ शायद न समझ सकेंगे।

कई लोगों का कहना है कि यह देह पाँच भूतों से बना हुआ है और पाँच भूत जब तक बिखर नहीं जाते, तब तक वह 'अपना' काम करता रहता है। इसका समर्थन करने के लिए घड़ी का उदाहरण दिया जाता है। जैसे घड़ी के पुर्जों को यथास्थान जोड़ देने से वह टक् टक् शब्द करती हुई चलती रहती है, इसी प्रकार पाँच भूतों का विशेष प्रकार का एकीकरण होने से देह भी अपना काम करता है। ऐसा कहने वाले लोग आत्मा या चैतन्य को जुदा नहीं मानते। पाँच भूत बिखरने के पश्चात् कुछ भी शेष नहीं रहता।

मगर विचार करने से प्रतीत होगा कि यह मत गलत है। ऐसे लोग आँखों से देखते हैं कि यह अमुक वस्तु है, पर आँखों से कौन देख रहा है, यह बात ये नहीं समझते। इन्हें यह मालूम नहीं है कि दृश्य क्या है और द्रष्टा कौन है?

तुकाराम अपनी कविता में कहते हैं—जिह्वा में और हाथ में मांस है, लोहू है। पाँचों भूत जिह्वा में भी हैं और हाथ में भी हैं, परन्तु खट्टे मीठे आदि रसों का स्वाद जिह्वा ही पहचानती है, हाथ नहीं पहचानता। दोनों अवयवों में पंच महाभूत समान हैं, फिर इतनी भिन्नता क्यों है? इस भिन्नता को देखते हुए भी देह से जुदे देह के संचालक के अस्तित्व में संदेह करना क्या उचित है? नेत्र दिखाने का काम करता है और कान सुनाने का। अगर इस व्यवस्था को उलट दिया जाय अर्थात् नेत्र को बन्द करके कान लगाया जाय तो

कोई वस्तु देखी जा सकती है ? या कानों में उँगलियाँ डालकर आँख फाड़ फाड़कर देखने का प्रयत्न किया जाय तो क्या सुनना सम्भव है ? नहीं । जो इन्द्रिय जिस काम के लिए बनी है, उससे वही काम होता है, अन्य नहीं । सुख दुःख का ज्ञान किसे होता है ? क्या नेत्र आदि किसी इन्द्रिय को इसका ज्ञान हो सकता है ? इसका ज्ञान इन्द्रियों के राजा आत्मा को ही होता है । वही द्रष्टा कहलाता है। आप व्याख्यान सुनने के लिए बैठे हैं; लेकिन कान में उँगलियाँ डालकर और नाक ऊँची करके सुनने की कोशिश करें तो क्या व्याख्यान सुन सकते हैं ? अगर कान सुन सकता तो मृत अवस्था में क्यों न सुनता ?

दर असल बात यह है कि सुनने वाला कोई दूसरा ही है। कान सुनने के सिर्फ औजार हैं। वह सुनने वाला ही आत्मा कहलाता है। आप घड़ी की सुन्दरता देखकर उसके बनाने वाले वैज्ञानिक की तारीफ करते हैं, मगर इस अद्भुत यन्त्रशाला को बनाने वाले की तरफ आप कुछ भी ध्यान नहीं देते। इस शरीर में बैठा हुआ सूत्रधार कैसा विचित्र नाटक कर रहा है, जरा इसकी ओर देखिए। वह पुतले को किस प्रकार नचा रहा है, यह देखकर आपके आश्चर्य का पार नहीं रहेगा।

आप एक बार कान से जो शब्द सुनते हैं, वे हरदम तो बोले नहीं जाते, फिर उनका स्मरण किसे रहता है ? किसको उनकी चाहे जब याद आती रहती है ? जिस आदमी की सूरत एक बार आपने अच्छी तरह देख ली, उसे कालान्तर में कौन नहीं पहचान लेता ? यह सब सुनना और देखना किसे याद रहता है ? चिदानन्द

को, जो अजर-अमर है, जिसका कभी नाश नहीं होता और जो पाप-पुण्य का भोक्ता है।

शरीर के भीतर एक ऐसी वस्तु है जो पाँचों इन्द्रियों के काम को एक साथ अनुभव कर रही है। उदाहरण के लिए पापड़ लीजिए। जब आप पापड़ खाते हैं तो जीभ उसका स्वाद जानती है, नाक उसका गन्ध अनुभव करती है, हाथ उसके स्पर्श को जानता है, आँख उसका रूप जानती है और कान चर-मर शब्द को श्रवण करते हैं। इन सब चीजों को चिदानन्द ही एक साथ अनुभव करता है। पाँचों विषयों का सम्मिलित ज्ञान किसी भी एक इन्द्रिय को होना सम्भव नहीं है, क्योंकि एक इन्द्रिय सिर्फ एक ही विषय को जान पाती है। अगर एक ही इन्द्रिय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द को जानने में समर्थ होती तो पाँच इन्द्रियों के बनाने की आवश्यकता ही क्या रहती है?

कल्पना कीजिए किसी महल के झरोखे में देवदत्त नामक एक पुरुष खड़ा है। नीचे सड़क पर एक स्त्री और एक पुरुष खड़ा है। एक को उनका दृश्य देखकर वैराग्य उत्पन्न होता है और दूसरे को नीचता करनी सूझती है। एक ही दृश्य से दो व्यक्तियों की जुदी जुदी बुद्धि किसने दी है? इन्हें यह सिखाने वाला कौन है? आत्मा। आत्मा ने ही भिन्न-भिन्न बुद्धि दी, इससे मालूम होता है कि हरेक में आत्मा भिन्न-भिन्न है।

आत्मा को पुण्य का और पाप का फल भोगना पड़ता है। पुण्य का—सत्कार्य का फल अच्छा मिलता है और पाप का—असत्कार्य का फल बुरा होता है। अगर आप आत्मा को मानते हैं तो

आप आस्तिक हैं। आस्तिक को चाहिए कि वह आत्मा की भलाई के लिये अच्छे काम करे और बुरे काम छोड़ दे। परन्तु आज परिस्थिति कुछ विपरीत ही नजर आती है। नास्तिक आत्मा को नहीं मानते, वे स्वर्ग-नरक भी नहीं मानते। उनकी मान्यता है कि यह देह पाँच भूतों का बना हुआ है और कभी इनके जुदा होने पर यह बिखर जायगा। जिनका ऐसा मत है, वे विशेष चरित्रवान् देखे गये हैं। आत्मा को पुण्य-पाप का भोक्ता मानने वाले कुचारित्रवान् हों और आत्मा को न मानने वाले उनकी अपेक्षा चारित्रवान् हों, यह अद्भुत और आश्चर्यजनक बात है!

अगर कोई आस्तिक झूठ बोलता है, चोरी करता है या ऐसा ही कोई और पाप का काम करता है तो क्या वह अपने व्यवहार से नास्तिता फैलाने वाला नहीं है? नास्तिकता लोग बात के धनी, सच बोलने वाले और अन्याय से घृणा करने वाले बनें और आस्तिक उससे उलटे काम करें, तो बताइए वास्तव में, व्यावहारिक दृष्टि से कौन आस्तिक और कौन नास्तिक है?

एक राजा अपने हाथ में राज्यसत्ता लेकर प्रजा की रक्षा का कुछ भी काम न करे तो आप उसे क्या कहेंगे? इसी प्रकार जब आप आस्तिक मत को स्वीकार करते हैं, धर्म में विश्वास करते हैं, तब फिर आलस्य में-प्रमाद में पड़े रहकर उलटे काम करना कहाँ तक उचित है? यह कैसा आस्तिकपन है? आप विवाह के अवसर पर लाख रुपया खर्च कर देंगे, धूम-धाम करने के लिए रातदिन एक कर देंगे, मगर ज्ञान के प्रचार में कितना धन खर्च करते हैं? क्या आप बातें बनाने में आस्तिक और काम करने में नास्तिक नहीं हैं?

क्या यह अंडे से बाहर निकलने का काम है? सच्चा आस्तिक तुच्छ मोह में नहीं पड़ता। वह कपट नहीं करता। किसी को जाल में नहीं फँसाता। नसके विचार, उसका धन और उसके पास की तमाम शक्ति सम्यग्ज्ञान फैलाने के लिए, देश के कल्याण के लिए और प्राणीमात्र की भलाई के लिये तथा धर्म के ऊपर न्योछावर करने के लिये होती है।

मित्रो! विजय क्रिया की होगी, बातों की नहीं। इतिहास देखने से पता चलता है कि आस्तिकों ने धर्म के ऊपर हँसते हँसते अपने प्राण समर्पण कर दिये। आस्तिकों को अपना धर्म छोड़ने के लिए चमचमाती हुई तलवार दिखाकर कहा गया कि तुम अपना धर्म छोड़ दो, वरना तुम्हारे शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाएँगे, परन्तु धर्मवीर आस्तिक तनिक भी विचलित नहीं हुये, उनका एक रोम भी न काँपा। आज बहिनें बड़ी-बड़ी तपस्या करती हैं पर छाया को भूत मानकर थर-थर काँपती हैं। डाकिन के नाम से बेहद डरती हैं। जादू वाले तो मानो इन्हीं पर अपने जादू की आजमायश करने वाले हैं। इसलिए घर छोड़कर बाहर नहीं जा सकतीं। इन सब बतों के मूल में क्या है? आत्मविश्वास का अभाव। जिसे आत्म-विश्वास नहीं, उसे धैर्य कहाँ से आवे और उसमें निश्चय-बल कैसे प्रकट हो?

अजमेर में एक बार एक सिक्ख सरदार आये। वे अपने साथ अपने धर्माचार्यों के चित्रों की पुस्तक भी लिये थे। उन्होंने मुझे चित्र दिखलाकर बतलाया—इन धर्माचार्यों को मुसलमान बादशाह ने अपना धर्म छोड़ने के लिये कहा, परन्तु उन्होंने अपना धर्म नहीं छोड़ा। तब बादशाह ने इन्हें उबलते हुये पानी की कड़ाई

में डाल दिया। पर वे उसमें नहीं जले। यह देखकर बादशाह ने उन्हें आग से लाल हुई कढ़ाई में बिठलाया। पर वहाँ भी उनका बाल बाँका न हुआ। यह सब क्या है? इसका प्रधान कारण आत्मविश्वास है।

भारत के इतिहास में सिक्खों का इतिहास बड़ा जाज्वल्यमान है। सच्चे क्षात्रधर्म की झलक उनमें दिखाई देती है। माता के सामने उसके प्राण-प्यारे बच्चे के टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये मगर माता ने धर्म का परित्याग करना स्वीकार न किया। उन्हें भयंकर से भयंकर त्रास दिया गया, मगर उन्होंने सभी कुछ हँसते-हँसते स्वीकार कर लिया। गुरु गोविन्दसिंह के बच्चों को बादशाह भीत में चिनता है, फिर भी वे धर्म त्यागने से इंकार ही करते हैं। जब बड़े भाई को बादशाह दीवार में चिनता है तो छोटा भाई खड़ा-खड़ा रोता है। उसे रोते देख बादशाह समझता है कि यह डर गया है। इसलिए धर्म छोड़ देगा। वह लड़के को आश्वासन देकर कहता है-बच्चे, रोओ मत। तुम्हें नहीं चिनेंगे। किन्तु वह शेर बच्चा कहता है-बादशाह! मैं किस लिये रोता हूँ, यह तुम नहीं जानते। मैं मौत से डर कर नहीं रोता—दीवार में चिने जाने का मुझे खौफ नहीं है। मुझे अफसोस यह है कि मैं अपने भाई से पहले क्यों नहीं चिना गया? मेरा भाई हँसते-हँसते धर्म के ऊपर बलिदान हो गया। उसका बलिदान मेरी आँखों ने देखा, पर मेरा बलिदान कौन देखेगा? यह सोचकर मुझे रोना आता है।

ओह! कितनी वीरता है! कितनी धीरता है!

'सीता की अग्नि परीक्षा' नामक पुस्तक में लिखा है—एक बादशाह ने अपनी मूर्त्ति बनवाकर ढिंढोरा पिटवा दिया कि सब

लोग मेरी मूर्त्ति के सामने सिर झुकाएँ और इसे ईश्वर के तुल्य मानें। बादशाह के हुक्म के अनुसार हजारों नर-नारी—जो बेचारे कायर थे—उस मूर्ति के सामने सिर झुकाते। परन्तु बादशाह के खास वजीर और सेनापति ने सिर नहीं झुकाया। यह बात बादशाह को मालूम हुई। उसने कहा—सब लोग मुझे सिर झुकाते हैं, पर मेरा ही नौकर मेरी मूर्त्ति के आगे सिर नहीं झुकाता! यह बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। उसे अभी मेरे सामने बुलाओ।

वजीर हाजिर हुआ। बादशाह ने क्रोध-भरे स्वर में कहा—क्योंजी, तुम उस मूर्त्ति के सामने सिर क्यों नहीं झुकाते?

वजीर—मैं उस मूर्त्ति के सामने सिर नहीं झुकाऊँगा और न उसे ईश्वर मानूँगा।

वजीर के यह शब्द सुनकर बादशाह के क्रोध का पारा बहुत ऊँचा चढ़ गया। उसने वजीर को जला देने की आज्ञा दे दी।

वजीर को अग्नि में प्रविष्ट किया गया, पर उसके कपड़े का एक सूत भी न जला। बादशाह ने उसका आत्मविश्वास देखकर और आश्चर्यजनक घटना से चकित होकर अपना हठ छोड़ दिया।

मित्रो! आत्मविश्वासियों के उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। उन्हें पढ़ो तो पता चलेगा कि कितने ही पुरुषों और नारियों ने नारकीय यातनाएँ सहना स्वीकार किया मगर अपना दृढ़-विश्वास न छोड़ा।

हिन्दू जाति जब अपने धर्म पर आरूढ़ थी और धर्म के लिए सभी कुछ समर्पण करने के लिए तैयार थी, तब उसका यश

सौरभ सारे संसार में महक रहा था। जब से उसने धर्म की ओर से उदासीनता दिखलाना आरम्भ किया, तभी से उसकी दशा पलटने लगी। धर्म ही सब कुछ है। धर्म पर दृढ़ रहने से कैसे-कैसे सुयोग मिल जाते हैं, यह बात आप ऋषभदेव भगवान् की कथा से जानने का उद्योग करो।

तात्पर्य यह है कि धर्म को धारण करके ही आप अपना श्रेयस् साध सकते हैं। आपके जीवन में धर्म का स्थान सर्वोच्च होना चाहिए। संसार का वैभव धर्म के प्रताप से ही मिलता है। आत्मिक शान्ति भी धर्म के बिना नहीं मिल सकती। अतएव अपने जीवन को धन्य और मान्य बनाने के लिए आप सुबाहुकुमार की भाँति धर्मनिष्ठ बनो।

सुबाहुकुमार राजकुमार था, पर उसने श्रावक-धर्म धारण करके अपने जीवन में परिवर्तन कर लिया। सुबाहु का जीवनचरित्र मेरे लिए तो विचारणीय है ही, परन्तु आपको इस पर विशेष विचार करना चाहिए। यह चरित सुबाहु का नहीं, आपका ही है, ऐसा समझकर आप इस पर विचार करें।

कई भाई सोचते हैं—हम बारह व्रत पालने लगेंगे तो हमारा गृहस्थाश्रम कैसे निभेगा? यह कितना भ्रम है! आज आप लोग तो साधारण गृहस्थ ही हैं, पर प्राचीन काल के अनेक श्रावक राज्य के मालिक होते हुए भी बारह व्रतों का पालन करते थे। अगर इनका पालन करना कठिन होता तो वे क्यों इन्हें स्वीकार करते?

श्रावक के व्रत पालने में जब राजा-महाराजाओं को भी अड़चन नहीं आती थी और वे धर्मपालन में चुस्त थे, तब आपको

कौनसी अड़चन आ सकती है? हमें तो अड़चन की कोई बात ध्यान में नहीं आती। ऐसी स्थिति में आप धर्म-पालन करने में चुस्ती के बदले जो सुस्ती दिखला रहे हैं, उसका एकमात्र कारण हमें तो अज्ञान ही मालूम होता है।

सुबाहु श्रावकव्रत धारण करके कैसा जीवन बिताने लगा, इस सम्बन्ध में शास्त्र कहता है कि वह पहले द्विजन्मा बना। उसे जीव और अजीव का ज्ञान हो गया। इससे आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हुआ। आत्मा अजर-अमर पदार्थ है। आत्मा का कभी नाश नहीं होता। मरना और जन्म लेना सिर्फ स्थिति का परिवर्तन है। आत्मा का मरना कहना, उस पर गलत आरोप करना है। इसका वास्तविक अर्थ इतना ही है कि आत्मा एक पर्याय को त्याग कर दूसरे पर्याय में चला गया। जब लोगों को संध्या के पश्चात् सूर्य नहीं दिखाई देता तो वे कहते हैं—सूर्य अस्त हो गया। जब प्रातः काल होने पर वह फिर दिखाई देने लगता है तो कहते हैं—सूर्योदय हो गया। मगर वास्तव में न कभी सूर्य का उदय होता है, न वह अस्त ही होता है। जो सूर्य आपको अस्त हुआ मालूम होता है, वह दूसरी जगह दिखाई देता है। ऐसी हालत में सूर्य का उदय और अस्त सिर्फ एक देश से दूसरे देश में जाना ही है, उसका नाश या उत्पाद नहीं। इसी प्रकार आत्मा जब शरीर धारण करके एक योनि में आता है, तब उसका जन्म कहलाता है और जब स्थूल शरीर छोड़कर दूसरी योनि में चला जाता है तब मरना कहलाता है। ज्ञानी पुरुष इसे आत्मा की अवस्था का परिवर्तन मात्र समझते हैं और आत्मा को प्रत्येक अवस्था में विद्यमान रहने वाला—अजर-

असर मानते हैं। जिसने आत्मा के अजर-अमर स्वरूप को नहीं जाना, समझना चाहिए उसका ऊपरी ज्ञान सब थोथा है।

जहाँ लगी आतम-तत्व चिंत्यो नहीं।
तहाँ लगी साधना सर्व झूठी ॥

जिसने आत्म-तत्त्व पर विचार नहीं किया, उसके अन्य विचार बालकों के खेल से हैं।

शास्त्रों में बड़ी रम्य भाषा में आत्मा का विचार किया गया है। जन्म और मृत्यु क्या है, इस सम्बन्ध में गीता कहती है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरः पराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

जैसे मनुष्य पुराने कपड़ों को छोड़कर दूसरे नये कपड़े पहनता है, वैसे ही देही-आत्मा—पुराने शरीर को त्याग कर नया शरीर धारण करता है।

आप इसका आशय समझ गये होंगे। घर में पहनने की पोशाक आपके यहाँ अलग होती है और विवाह-शादी या सभा-सोसाइटी में सम्मिलित होने की पोशाक अलग होती है। जब आप बाहर जाते हैं, उस घरू पोशाक को उतार देते हैं और बाहर के योग्य पहन लेते हैं। इस परिवर्तन से आप बदल नहीं जाते। आप वही रहते हैं, सिर्फ आपका ऊपरी वेष बदल जाता है। इसी प्रकार जब

आत्मा इस देह को छोड़ देता है —जिसे आप मरना कहते हैं-तब वह दूसरा देह धारण कर लेता है। यही जनमना कहलाता है।

अब आप विचार कीजिये कि आप नया कपड़ा हँसते-हँसते पहनते हैं या रोते-रोते ?

'हँसते-हँसते !'

क्योंकि आप जानते हैं कि पुराना जा रहा है और नया मिल रहा है। इसमें रोने की बात ही क्या है ? इसी प्रकार ज्ञानी को मृत्यु के समय आनन्द होता है। वह जानता है कि मैं पुरानी देह छोड़ रहा हूँ। ज्ञानी शरीर छोड़ते समय हाय-तोबा नहीं मचाता। वह खुशी के साथ शरीर त्यागने के लिए तैयार रहता है। जो हाय-हाय करके रोते-रोते शरीर छोड़ता है, उसे नरक मिलता है और जो हँसते-हँसते खुशी के साथ देह त्यागता है, वह स्वर्ग का स्वामी बनता है। यह सब जान करके भी आप रोते-रोते शरीर छोड़ना चाहते हैं या हँसते-हँसते ?

'हँसते-हँसते !'

तो फिर किसी आत्मीय जन की मृत्यु होने पर रोने का क्या अर्थ है ? हाँ, मोह के कारण उसके वियोग का दिल में दर्द पैदा हो जाय तो उस समय रोकर दिल की भाप निकालना क्षम्य है परन्तु महीने-महीने और वर्ष-दो वर्ष तक रिवाज के तौर पर रोने का क्या मतलब है ? और बाइयाँ रोती ही कहाँ हैं ? वह तो प्रायः ऊँ-ऊँ करके रोने का ढोंग करती हैं। वह जिसके यहाँ मातमपुर्सी के लिए जाती हैं, वहाँ घूंघट में उनके असली रोने न रोने का पता तो

चलता नहीं, लेकिन घर वाले को और अधिक दुखी कर देती हैं। उसका वियोग-जन्य दुःख या तो उमड़ आता है या उसे भी रिवाज के तौर पर रोना पड़ता है। इस प्रकार रोना भी हिन्दू संस्कृति का एक आवश्यक अंग बन गया है।

लोगों को रुलाने में न जाने क्या मजा आता है? एक तरफ कहते हैं—आत्मा अजर-अमर है और दूसरी तरफ उसके लिए रोते हैं। अगर रोना नहीं आता तो रोने का ढोंग करते हैं। क्या यह शास्त्र का ठट्ठा करना नहीं है?

रोने की अनेक किस्में बना ली गई हैं। सुबह का रोना जुदा और शाम का जुदा, दोपहर का रोना तीसरे ही प्रकार का! और फिर राखी, दीवाली आदि का रोना अलग ही तरह का। इस प्रकार महिला-समाज ने रोने का मानों ठेका ही ले लिया है।

क्या हिन्दुओं में ही स्वजनों की मृत्यु होती है? मुसलमानों के प्रियजन नहीं मरते? अथवा उन्हें अपने माता-पिता और भाई-बन्द प्यारे नहीं होते? फिर वह नहीं रोते और तुम रोते हो? मैंने एक बार एक घटना देखी। किसी मुसलमान भाई के लड़के की मृत्यु हो गई थी। उसे कब्रस्तान में ले जाते समय उसके घर वाले एक गाना गा रहे थे। उसका सारांश यह था कि हे नबी! ऐ मेरे पैगम्बर! यह बच्चा तेरी शरण में आया है। तू इसे सम्भालना।

भाइयो! और बहिनो! मुसलमान तो अपने बच्चे के लिए गाएँ और ऐसी प्रार्थना करें और तुम बच्चे के लिए रोओ। क्या इसीलिए तत्त्व-ज्ञान सीखा है?

जब कोई आदमी व्यापार के निमित्त परदेश जाता है, तब नहीं रोते; फिर आदमी के मरने पर क्यों रोते हो ? अगर यात्रा के लिए स्वजन के जाने पर रोना अमंगल है तो मृतक के पीछे रोना क्या अमंगल नहीं है ? मित्रो ! सच समझो, मृतक के लिए रोना ज्ञानियों का काम नहीं है। यह नास्तिकों का काम है।

जैसे त्यौहार आने पर आप पुराने कपड़े उतार कर नये कपड़े पहनकर खुशी मनाते हैं, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष मृत्यु का महोत्सव मनाते हैं और दुर्गंधमय शरीर को त्याग कर आजीवन किये धर्माचरण का फल प्राप्त करते हैं।

अगर आपको राजघराने से सम्मान देने के लिए बुलावा आवे तो आपको रोना आएगा या आनन्द होगा ?

'आनन्द होगा !'

क्यों ? इसीलिए न कि आपने राज्यघराने का कोई अच्छा काम किया है। उसके उपलक्ष्य में आपको सम्मान मिलने वाला है। मगर आपको गिरफ्तारी का वारंट मिले तो आप रोएँगे या हर्ष मनाएँगे ? उस समय आप रोएँगे; क्योंकि आप जानते हैं कि मैंने चोरी की है, डाका डाला है या इसी प्रकार का कोई दूसरा अन्याय किया है। अतएव उसके उपलक्ष्य में आपको कोई दंड मिलेगा।

सारांश यह है कि जिसने अच्छा काम किया है उसे आनन्द आता है और बुरा काम करने वाले को रोना आता है। इसी प्रकार जिसने अपने जीवन में अच्छे अच्छे काम किये हैं,

वह अपना शरीर छोड़कर खुशी के साथ अपना हिसाब देने चला जाता है, मगर जिसने बुरे काम किये हैं, उसे रोना आता है। उसका पाप उसमें कायरता उत्पन्न करता है और रुलाता है। जिसने भलीभाँति श्रावक के व्रतों का पालन किया है, उसे मरते समय धैर्य रहता है, वह प्रसन्न होता है और घबराता नहीं है। पर जिसने अपने व्रत को अच्छी तरह नहीं पाला, उसे घबराहट रहती है, वह दुखी होता है और हाय-तोबा मचाता है। हँसते-हँसते मरने वाला वीर है और जो धैर्य खोकर घबराहट के साथ मरता है, वह कायर है।

अब आप आत्मतत्त्व को समझ गये। अब इस बात का विचार कीजिए कि जीवात्मा विशुद्ध है तो वह जुदे-जुदे रूपों में क्यों दिखाई देता है? कोई लक्षाधिपति बना हुआ है और कोई टुकड़े-टुकड़े के लिए तरसता और भीख माँगता फिरता है। कोई मूर्ख है, कोई चतुर है। कोई सुखी है तो कोई भयानक त्रास पा रहा है। इसका क्या कारण है? जीवात्मा की यह विचित्र गति क्यों हो जाती है? इसका उत्तर है—पुण्य और पाप का भोग। जिस आत्मा ने जैसा पाप या पुण्य किया है, उसे वैसा ही दुःख या सुख रूप फल प्राप्त होता है। जिसने पाप किया है उसे दुःख और जिसने पुण्य किया है उसे सुख प्राप्त होता है।

पुण्य क्या है और पाप क्या है, यह बात ज्ञानी पुरुषों को हथेली की रेखा के समान स्पष्ट हो जाती है। एक ही सोना राजा का मुकुट बनकर उसके सिर पर चढ़ता है और वही झांझर बनकर पैर में पहना जाता है। जिस मिट्टी का बना कलश मस्तक पर

उठाया जाता है उसी मिट्टी का बना सिकोरा शौच के काम आता है। यह सब कर्म की विचित्र गति है। इसी विचित्रता ने जीव को जुदा-जुदा रूप प्रदान किया है। इस विषय का विस्तार बहुत लम्बा है। थोड़े में यही कहा जा सकता है कि एक चीज के निमित्त से अज्ञानी पाप का उपार्जन करता है और उसी को ज्ञानी धर्म या पुण्य के उपार्जन का हेतु बना लेता है। एक मनुष्य अन्न से पाप कमाता है और दूसरा उसी से पुण्य उपार्जन करता है।

न केवल अन्न की ही, वरन् समस्त पदार्थों की तीन दशाएँ होती हैं—दान, भोग और नाश। जो लोग खाने के लिए सौ, दो सौ या पाँच सौ का अनाज घर में लाकर भर लेते हैं, उसकी भी तीन दशाएँ होती हैं। कुछ तो पड़े रहने से सड़-गल जाता है अर्थात् नष्ट हो जाता है, शेष को खा लेते हैं और दान तो कोई विरला ही करता है। बहुत से लोग तो उतना भी दान नहीं देते, जितना नष्ट हो जाता है। यह जानते हुये भी लोग अन्नदान नहीं करते। अगर आप अब दान देने के लिए तैयार हैं तो पहले न देने के लिए पश्चात्ताप करो। पश्चात्ताप इस प्रकार करो, जैसा कि इस मराठी गीत में किया गया है:—

उत्तम जन्मा येऊनी रामा गलोमीं वाया।
दुष्ट पातकी शरणमीं आलो सत्वर तव पाया।
आर्जवियले बहु लवण भंजने व्याया जेवाया।
क्षुधित अतिथि कचि नहीं घेतला प्रेम जेवाया॥

यह एक रामभक्त का कथन है। मैं तो राम और अरिहंत को एक ही मानता हूँ। जो राम है वही अरिहंत है और जो अरिहंत है वही राम है। अस्तु।

रामभक्त कवि कहता है—हाय! मैंने उत्तम मनुष्य-जन्म पाया और अच्छे कुल में जन्म लिया, परन्तु उसे वृथा गँवा दिया। हे प्रभो! अब तेरी शरण में आया हूँ। मैंने समधी-ज्याईजी को जिमाने के लिये नाना प्रकार के भोजन बनवाये, तरह-तरह के शाक तैयार करवाए, भाँति-भाँति की मिठाइयाँ बनवाईं। जब समधीजी भोजन कर चुके-पेट भर चुके, तब भी मनुहार की—अजी, लीजिए, लीजिए, एक लड्डू तो और ले लीजिये।

समधीजी कहते—नहीं साहब, अब पेट में जगह नहीं है।

तब मैं कहता—अजी एक लड्डू में अजीर्ण थोड़े ही हो जायगा! अगर हो भी गया तो मेरे पास खट्टा-मीठा हाजमा चूर्ण मौजूद है। उसकी एक ही फाँकी से सब साफ हो जायगा।

मुझे मालूम था—एक भूखा आदमी—जिसे अपने प्राणों की रक्षा के लिए अन्न की आवश्यकता थी, माँग रहा था। पर हाय! मैंने उसे नहीं दिया।

भाइयो! राम का भक्त इस प्रकार पश्चात्ताप करता है। अब आप अपनी स्थिति पर दृष्टि दीजिए। आपने कभी भूखे को प्रसन्नता-पूर्वक अन्तःकरण की प्रेरणा से दान दिया है? ज्याईजी को ठूंस-ठूंस कर भोजन कराने में पाप समझते हो या पुण्य मानते हो? पाप! फिर उन्हें क्यों ठूंसने के लिए जबर्दस्ती करते हो?

जिसे वास्तव में अन्न की आवश्यकता है, जो मुट्ठी भर दानों के लिए आपके सामने हाथ फैलाता है, उसे तो आप चार दाने या

एक टुकड़ा भी नहीं देते, पर जिसे जरूरत नहीं है, जो लेने से इंकार कर रहा है, उसे आप जबर्दस्ती परोसते हो ! न जाने आपको इसमें कौन सा महान् पुण्य दिखाई दे रहा है ! हमारी समझ में तो कुछ आता नहीं।

मित्रो ! जैसे व्याईजी को खुशी के साथ लड्डू परोसते हो, उसी प्रकार कभी किसी गरीब और दुखी आत्मा को दान दिया स्मरण आता है ? स्मरण कहाँ से आवे ! वह तो श्री कृष्णजी ही थे, जिन्होंने हाथी पर सवार होते हुए भी बूढ़े को ईंट ले जाते देखकर स्वयं ईंट उठाई और गरीब का दुःख दूर किया। आपको याद आता होगा गरीबों को धक्के देना ! आपने गरीबों को न जाने कितने धक्के मारे हैं। रेल में तो पूछना ही क्या है ! वहाँ कदाचित् कोई गरीब आ घुसा तो आप उसका कैसा सत्कार करते हैं ? 'चल, चे साले कहीं के ! यहाँ तो पहले ही बहुत भीड़ है, फिर तू कहाँ से आ मरा !' यह शब्द हैं, जिनसे आप लोग दीन-दुखिया का अभिनन्दन करते हैं ! सेठ साहब और बाबूजी समझते हैं—मैं ही अकेला गाड़ी में बैठूँ ! उन्हें दूसरे के सुख-दुःख से क्या सरोकार ? जिनकी ऐसी मनोदशा है उन्हें पाप-पुण्य की कल्पना ही किस प्रकार आ सकती है !

हीरों और मोतियों से जड़ी हुई बँगड़ियाँ पहनने वाली बहिनों के पास अगर ऐसी ही कोई सेठानी बाई आ जाय तो उसका आदर-सत्कार होता है। उसे देखकर प्रसन्नता प्रकट की जाती है। अगर कोई सदाचारिणी किन्तु गरीब बहिन आ जाती है तो उसकी बात भी नहीं पूछतीं !

एक देहाती मनुष्य बहुत बुद्धिमान् और होशियार आदमी था। उसने सोचा—देहात में जैसी चाहिए वैसी इज्जत नहीं होती और न कोई काम ही है। ऐसा सोचकर वह शहर में गया। शहर में पहुँचकर वह किसी सेठ की दुकान पर गया। सेठ साहब ने उससे कुछ भी बात नहीं की, क्योंकि वह देहाती था और सादी पोशाक पहने था। सेठ अपनी धुन में मग्न था। दुकान पर दस-पाँच मुनीम काम कर रहे थे। कोई हुँडी लिख रहा था, कोई चिट्ठी पढ़ रहा था, कोई कुछ और कर रहा था। उस देहाती से किसी ने कुछ न पूछा।

आगन्तुक पुरुष देहाती होने पर भी बुद्धिमान् था। वह समझ गया कि मेरी सादी पोशाक देखकर मुझसे कोई बात नहीं करता। वह वहाँ से उठा और धोबी के पास गया। धोबी से कहा-भाई, तुम्हारे पास किसी अमीर की पोशाक धुलने आई हो तो कुछ समय के लिए मुझे दे दो। मैं वापिस लौटा दूँगा। तुम उसे दोबारा धोकर दे देना। अपना मेहनताना चाहे पहले ही ले लो।

धोबी ने उसकी बात चीत से समझा—कोई भला आदमी है। उसने उसे कपड़े दे दिये। देहाती ने कपड़े पहने और कहीं से बढ़िया जूते भी खोज लिये। हाथ में एक बेत ले लिया। अब वह अकड़ के साथ चलता हुआ किसी सेठ की दुकान पर जा पहुँचा। उसे आता देख सेठ खड़ा हो गया और बोला—पधारिये साहब, कहाँ से तशरीफ लाये हैं? कैसे पधारना हुआ?

देहाती बोला—आप ही से मिलने आया हूँ।

सेठ—ठीक, विराजिये।

देहाती शान के साथ बैठ गया। सेठजी ने पूछा—आपको भोजन आदि करना होगा न ?

देहाती—हाँ, कर लेंगे। जल्दी क्या है।

सेठजी की आज्ञा होते ही कोई नौकर रसोई की तैयारी में लगा, कोई पानी लाने लगा। देहाती बुद्धिमान् तो था ही, इधर-उधर की दो-चार बातें बनाईं। सेठ उसकी बुद्धिमत्ता पर रीझ गया। खूब खातिर की। भोजन तैयार हो गया तो भोजन के लिए कहा। देहाती भोजन करने गया। आसन पर बैठकर दो लड्डू इस जेब में डालने लगा और दो बर्फियाँ उस जेब में। तीसरी मिठाई साफे में बाँधने लगा और कुछ सामान रूमाल में रखने लगा। यह देखकर सेठ भौंचक्का सा रह गया। वह बोला—आप यह कर क्या रहे हैं ?

देहाती ने धीमे स्वर में कहा—जिनके प्रताप से मुझे यह मिठाई मिली है, उन्हें तो पहले जिमा दूँ।

सेठ—सो कैसे ?

पहले सादी पोशाक पहनकर मैं आपकी दुकान पर आया था। तब आपने मुझ से बात भी न की। जब यह कपड़े पहनकर आया तब यह खातिर हुई। वास्तव में यह खातिर इन कपड़ों की है।

सेठ बड़ा लज्जित हुआ और उसने क्षमा मांगी।

आप में से बहुत से भाई इसी प्रकार का आदर-सत्कार करते हैं। परन्तु यह सच्चे श्रावक का लक्षण नहीं है। मित्रो ! सभ्यता सीखो। सभ्यता के बिना धर्म का पालन नहीं हो सकता।

आप इतनी विशाल हवेलियाँ बनाते हैं, मगर कोई बेचारा दुखी उनमें आश्रय लेने के लिए आ जाय तो आप क्या करेंगे? आप कहेंगे-'चल साले, यहाँ से। यहाँ क्या धर्मशाला है!' मित्रो! क्या यह आदर्श दया है? आप अपने घर को ठाकुरजी के मन्दिर के समान बना दीजिए। मन्दिर में ठाकुरजी की भावना की गई है। आप साक्षात् धर्मात्मा बनकर अपने निवासस्थान को धर्मनिवास बना दीजिये।

मैंने कई बार कहा है कि सादगी सभी के लिए हितकर है। यह भभकेदार मकान, जिनमें बिजली जगमग करती है, जो तरह-तरह के आकर्षक रंगों से रंगे हुए हैं और बहुमूल्य साज-सामान से सजाये हुए हैं, इनमें कभी किसी गरीब को स्थान नहीं मिलता। किंतु छोटे घरों में उन्हें आश्रय मिल जाता है। और बातों के विषय में भी यही समझ लेना चाहिए। अगर आप खादी के कपड़े पहनते हैं तो चार-छह महीने पहनने के बाद पुराने हो जाने पर या अधफटे हो जाने पर आप किसी गरीब को दे सकेंगे। वह उन्हें पहनकर दो-चार सर्दी-गर्मी के महीने निकाल देता है। मगर रेशम, मखमल या चाइना सिल्क के कपड़े इस प्रकार नहीं दिये जा सकते। भोजन के विषय में मैं पहले ही कह चुका हूँ कि दाल का हलुवा बच जाय तो दोबारा सेक कर काम में लाया जा सकता है, मगर मामूली दाल-भात या घाट किसी भूखे को सहज ही दी जा सकती हैं। इस प्रकार सादगी के साथ जीवन-निर्वाह करने से पुण्य का अवसर प्राप्त होता है।

मित्रो! आपका भोजन, आपके कपड़े तथा अन्य वस्तुएँ, सब पुण्यदाता हो सकती है, अगर विचारपूर्वक इनका उपयोग

किया जाय। इसके विपरीत, अविचार-पूर्वक उपयोग करने से यही वस्तुएँ भयंकर पाप बढ़ाने वाली भी हो सकती हैं।

स्प्रिंगदार पलंग और मखमल से मढ़ी कुर्सियाँ केवल अहंकार बढ़ाने का साधन हैं। इन्हें रखने से गर्व होने लगता है। इस प्रकार की वस्तुएँ क्या कभी साधु के काम में आ सकती हैं? नहीं। जो वस्तु आपके गुरु के काम में नहीं आ सकतीं, उन्हें रखकर आप आदर्श श्रमणोपासक कैसे? आप तो अमीरोपासक कहलाए! क्योंकि इन्हें देखकर अमीर लोग ही प्रसन्न होते हैं और उन्हीं के काम में वह आती हैं।

भाइयो! इस चटक-मटक और फैशन-परस्ती से आपका कितना पतन हुआ है? बारीक विलायती कपड़ों से समाज में ब्रह्मचर्य का कितना नाश हुआ है! इन्होंने क्या क्या रंग दिखाये हैं! यह सब देखकर भी अगर आप इनका त्याग नहीं कर सकते तो फिर क्या कर सकेंगे!

यह मनुष्य-देह बड़े पुण्य से मिला है। इसका सदुपयोग करो। इसका सदुपयोग प्राणीमात्र पर दया रखने से, मीठे वचन बोलने से, सब के प्रति मैत्रीभाव रखने से, संयम और सादगी से जीवन-निर्वाह करने से होता है।

कल्पना कीजिए, कोई देवता किसी आदमी से कहता है—'अमुक पेड़ के पास दो खानें हैं—एक रत्न की और दूसरी कोयले की। जिसे चाहो, खोद लो।' अब आप बताइए, वह आदमी कुदाली लेकर किसे पहले खोदने जायगा?

'रत्न की खान को !'

जब वह रत्न की खान खोदने जायगा तो अकेला ही जायगा या अपने इष्ट मित्रों और अपने घर वालों को भी साथ ले जायगा?

'साथ ले जायगा !'

क्योंकि अकेला जाने से कम रत्न घर में आएँगे। मित्रो ! अगर तुमसे कोई देव ऐसा कहे तो तुम किसे खोदोगे ?

'रत्नों को।'

अगर तुम व्रत खोदोगे तो निहाल हो जाओगे। पर आप कहेंगे कि ऐसा देवता है कहाँ ? क्या आप उस देवता को नहीं जानते ? मैं कहूँगा—तुम जानते हो। वह देवता हैं—अरिहंत भगवान्।

भगवान् कहते हैं—तुम्हारा मुँह खान है और जिह्वा कुदाली है। इस जीभ से चाहो तो मीठे और सत्य वचन रूपी रत्न निकाल लो, चाहो तो कटुक और झूठे वचन रूपी कोयले निकाल लो। यह तुम्हारे ही हाथ की बात है। मित्रो ! मीठे वचन रूपी रत्नों की खान अपने इष्ट मित्रों और घर वालों को भी बतला देना। इससे बड़ा लाभ होगा। शब्द में पुण्य भी है और पाप भी है। अच्छे शब्दों से पुण्य और खराब शब्दों से पाप होता है।

जीभ जोग अरु भोग जीभ सब रोग बढ़ावे,
जिह्वा से यश होय जीभ से आदर पावे।

जीभ नरक ले जाय जीभ वैकुंठ पठावै,
जीभ करे फजहीत जीभ से जूता खावे ॥

अकल-तराजू जीभ है, गुण औगुण दोनों तोलिये।
वैताल कहे विक्रम सुनो जीभ सँभाली बोलिये ॥

जिस मनुष्य ने खाने और बोलने पर अंकुश लगा लिया है, समझ लो उसने सारे संसार पर अंकुश लगा लिया है। आप शब्दों द्वारा प्राणी को शान्ति पहुँचा सकते हैं और जला भी सकते हैं। आपको क्या पसन्द है ?

वचन वचन के आंतरो, वचन के हाथ न पांव।
एक वचन है औषधी, एक वचन है घाव ॥

अगर तुम परमात्मा में मिलना चाहते हो—परमात्मपद प्राप्त करना तुम्हें अभीष्ट है और सच्ची एवं शाश्वत शान्ति प्राप्त करना चाहते हो तो कटुक भाषण करना, पर-निन्दा करना और मर्मभेदी वचन बोलना छोड़ दो।अगर निन्दा करनी है तो आत्म-निन्दा करो। कहा भी है :—

आतम-निन्दा करिये प्राणी, पर-निन्दा परिहरिये रे।
झूठी कूड़ी विना विचारी, अजब गजब ना धरिये रे ॥

इस प्रकार अपने आप की निन्दा करो, दूसरों की निन्दा मत करो। अपनी निंदा करने से अपने दुर्गुण दूर होते हैं और पर-निन्दा करने से पर के दुर्गुण अपने में आते हैं। एक पाप करने वाले के घर तो एक ही पाप रहता है, पर परनिन्दा करने वाले के घर सब पापों का वास होता है।

कई लोग सोचते हैं कि पापी की निन्दा न की जाय तो वह अपना पाप नहीं छोड़ता। यह विचार गलत है। अगर तुम किसी में दोष देखते हो तो उसे एकान्त में शान्ति और प्रेम के साथ समझा दो। निन्दा करने से उसका पाप नहीं छूटेगा। निंदा करने से कदाचित् वह गुप्त रूप से पाप करेगा या धृष्ट बन जायगा। इस के अतिरिक्त परनिंदा स्वयं पाप है। परनिंदा का पाप करने वाला स्वयं पापी है। वह पापी का पाप क्या दूर करेगा? किसी का पाप छुड़ाने की नीयत से भी पाप को अंगीकार करना उचित नहीं है। बल्कि जो स्वयं निष्पाप है, जिसके अन्तःकरण में पाप की मलीनता नहीं है, वही अपने प्रभाव से पापी को पापहीन बना सकता है। अतएव पापी का पाप हटाने के लिए पापी मत बनो, किन्तु अगर आप में कोई पाप पहले का है तो उसका भी परित्याग करो।

जो मनुष्य दोषी के सामने 'जी हाँ, जी हाँ' करते हैं और उसकी तारीफ के पुल बाँधते नहीं थकते और परोक्ष में उसकी निंदा करते हैं, वह मनुष्य महा-नीच हैं, ऐसा मानना चाहिए। उनकी आत्मा पतित है, कायर है। उनमें आत्मबल और स्पष्टवादिता का अभाव है। उनका यह व्यवहार धूर्तता-भरा है।

आपने 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति' सब गुण सोने के गहनों में ही हैं, ऐसा मान लिया है। मगर सच्चा आभूषण सत्य बोलना, प्रेम से बोलना तथा सब की सेवा करना है। इस गहने के आगे इन्द्राणी भी झुक जाती है।

पतिवरता फाटा लता नहीं गला में पोत।
भरी सभा में ऐसी दीपै हीरन की-सी जोत।

पतिवरता फाटा लता धन जाका दीदार।
कहे कालू किहि काम का, वेश्या का सिणगार॥

बहिनो! सीता जब वन में गई थी, तब उसने गहना पहना था? द्रौपदी बारह वर्ष तक वन में रही, तब वह गहनों से लदी थी? नहीं। द्रौपदी ने विराट नगर में राजा के यहाँ सैरंध्री नामक दासी बनकर रानियों की रानी होते हुये भी सिर गूंथने का छोटी से छोटी दासी का काम किया था। आज ऐसी सती-साध्वी देवियों के आगे सारा संसार सिर झुकाता है।

तात्पर्य यह है कि जीवन को अन्तर्मुख बनाने का प्रयत्न करो। बाहरी बातों में मत पड़े रहो। बढ़िया गहने और कपड़े मनुष्य का आभूषण नहीं हैं। इनसे शरीर का ऊपरी सौन्दर्य चाहे बढ़ जाय, मगर आत्मा की सुन्दरता का ह्रास होता है। तुम शरीर नहीं हो, आत्मा हो। आत्मा की सुन्दरता बढ़ाने का उद्योग करो। ऐसा करने से तुम्हारी स्थिति में अभूतपूर्व परिवर्तन होगा।

सुबाहुकुमार ने आत्मिक सौन्दर्य बढ़ाने के लिए जो प्रयत्न किया उससे उसकी अवस्था में क्या परिवर्तन हो गया, उसके क्या कर्त्तव्य थे और फिर क्या कर्त्तव्य हो गये, यही बात गणधर भगवान् अपनी भाषा में, सूत्र के रूप में, आपको सुना रहे हैं। आप दवा के गुण जानते हैं और यह भी जानते हैं कि इसी दवा से मेरा रोग मिटेगा, फिर भी अगर आप दवा का सेवन न करें और आपका रोग न मिटे तो यह आपका ही दोष है। जब आपके विकार शान्त हो जाएँगे और आपको सच्ची शान्ति प्राप्त होगी, तभी यह कहा जायगा कि आपने धर्मतत्व का श्रवण किया है।

सुबाहुकुमार को जीव और अजीव या जड़-चेतन का ज्ञान हो गया। पुण्य और पाप भी उसके लिये हस्तरेखा के समान स्पष्ट हो गया। जिस मनुष्य को पुण्य पाप का ज्ञान हो जाता है, वह अशुभ में से भी शुभ प्रकृति बाँध लेता है। धर्म तो परिवर्तन दशा का नाम है। जो मनुष्य अपने जीवन में परिवर्तन करके धर्म की आराधना करने लगता है, उसकी इधर-उधर पड़ने वाली दृष्टि भी शान्ति का संचार करने लगती है। जैसे वृक्ष अपने पुष्पों की सुगन्ध से आस-पास के समस्त वायु-मण्डल को सुगन्धमय बना देता है, उसी प्रकार आत्मानन्दी पुरुष आस-पास में रहने वाले प्राणियों को आनन्दित कर देता है। वृक्ष अपने भीतर से एक प्राणप्रद वायु छोड़ता है, मनुष्य अपने श्वास द्वारा उसे अन्दर खींचता है। यह मनुष्य की जिन्दगी टिकाने में सहायक होती है और मनुष्य के उच्छ्वास से जो वायु निकलती है, जिसे कार्बोलिक-विष वायु-कहते हैं, उसे वृक्ष अपने अन्दर खींच लेते हैं। मेरे कहने का आशय यह है कि पुण्य पाप रूपी आक्सिजन और कार्बोलिक गैस में से पुण्य रूपी आक्सिजन गैस को खींच लेना चाहिए।

अपने आप में शुभ-भावना का संचार करना आपको मुश्किल मालूम होता होगा, पर वह वास्तव में मुश्किल नहीं है। जब इस भावना का संचार अपनी आत्मा में आप करने लगेंगे तो एक पखवाड़े में ही आपको अपूर्व शान्ति मालूम होने लगेगी।

सुबाहुकुमार ने आत्मशान्ति के लिये आस्रव और संवर का भेद भी समझ लिया। कर्म-बन्ध का कारण आस्रव कहलाता है और आस्रव का निरोध संवर कहा जाता है। अर्थात् नवीन कर्मों

का आत्मा के साथ संबन्ध न होना संवर है थोड़े में आस्रव का अर्थ शुभ-अशुभ कर्म को ग्रहण करना है और संवर का अर्थ शुभा-शुभ कर्म को रोकना है।

यहाँ आशंका की जा सकती है कि शुभ को भी रोकना संवर है और संवर ग्राह्य एवं मोक्ष का कारण है तो पुण्य भी उचित नहीं है। इसका समाधान यह कि औषध तभी तक ग्राह्य है, जब तक रोग रहे। रोग मिटने के पश्चात् औषध भी त्याज्य है। नदी पार करने के लिए नाव उपादेय है और परले किनारे पहुँच जाने के बाद त्याज्य है, वैसे ही साधक-दशा में पुण्य उपादेय है और सिद्ध दशा में त्यागने योग्य है।

ज्ञानी आस्रव की जगह संवर कर सकता है और संवर की जगह आस्रव कर सकता है।

दातौन-कुल्ला करने में आरम्भ-समारम्भ होता है। यह आस्रव ही है, परन्तु विवेकी पुरुष यतनापूर्वक काम करके उसमें भी संवर कर लेता है। विवेकी इस बात का ध्यान रखता है कि पानी में कहीं लीलन-फूलन न हो, जिससे कि अयतना हो जाय। अज्ञानी को इस बात का ध्यान नहीं रहता। विवेकी मुँह धोने में पानी को ज्यादा नष्ट नहीं करता। इसी प्रकार अन्य कामों में भी ज्यादा हिंसा न करने का ध्यान रखता है।

मुँह क्यों धोया जाता है? इसीलिए कि मैल लग गया हो तो दूर हो जाय। पर ज्ञानी जानता है कि अपना मुँह अपने को दिखाई नहीं देता। उसकी उज्ज्वलता दूसरों को ही दिखाने के लिए

है। अतएव वह अपने हृदय की भावना को शुद्ध रखने और करुणा बुद्धि का विकास करने की ओर विशेष लक्ष्य रखता है। इस प्रकार अन्य लोगों को अपनी शारीरिक उज्ज्वलता दिखलाने की अपेक्षा अपनी चरित्र सम्बन्धी उज्ज्वलता प्रदर्शित करना अधिक श्रेयस्कर है। जो पुरुष अपना मुँह सिंगारने में लगा रहता है और जिसका चरित्र मलीन है, वह चाहे अपने को बेदाग समझे, पर उसके चेहरे पर महा-दाग हुआ है।

धर्म की भावना धर्मस्थान में ही नहीं होना चाहिए वरन् जीवन के प्रत्येक कार्य में ओत-प्रोत होनी चाहिए। पिता, पुत्र का विवाह कराने साथ जाता है, परन्तु स्त्री को लाने के समय साथ नहीं जाता। पिता कहता है—मैंने तेरा विवाह कर दिया, अब स्त्री को ले आना तेरा काम है। पुत्र की परीक्षा दामाद बनकर सुसराल जाने पर होती है। वहीं उसकी कसौटी होती है। जो दामाद, सुसराल जाकर स्त्री को लाना भूल जाय, उसके समान महामूर्ख दूसरा कहाँ मिलेगा? उपदेशक की देख-रेख में धर्मक्रिया के साथ आपका लग्न होता है। अगर आप क्रिया को साथ न लेते गये तो आप भी उस दामाद के समान गिने जाओगे।

जो मनुष्य प्रत्येक क्रिया करते समय संवर को ध्यान में रखता है, वह अपनी आत्मा को एक दिन निष्कर्म और निष्कलंक बना लेता है।

सुबाहुकुमार ने जीव-अजीव, पाप-पुण्य और आस्रव-संवर को समझ लिया। पहले राज्यवैभव के कारण उसकी प्रसिद्धि थी अब धर्मवैभव के कारण उसकी प्रतिष्ठा होने लगी। राज्यवैभव और

धर्मवैभव में बड़ा अन्दर है। इन दोनों में बड़ा वैभव कौनसा है, यह बात गम्भीर विचार से जानी जा सकती है। राज्य के वैभव को संसार जल्दी देख सकता है किन्तु धर्म का वैभव कठिनाई से नजर आता है। राज्यवैभव को दुनिया अपनी आँखों से देख सकती है, परन्तु धर्मवैभव को ज्ञानी पुरुष ही अपने हृदय से देख पाते हैं। धर्मवैभव को देखने के लिए दिव्य ज्ञान-चक्षु की आवश्यकता है।

सुबाहु के धर्मवैभव का ज्ञान हमें भगवान् महावीर के केवलज्ञान द्वारा प्राप्त हो रहा है। महावीर भगवान्, गौतम स्वामी से कहते हैं—हे गौतम! सुबाहुकुमार श्रमणोपासक हो गया। श्रमणोपासक होने पर उसे जीव-अजीव का ज्ञान हो जाने से पाप-पुण्य का ज्ञान हस्तरेखाओं के समान स्पष्ट हो गया। वह आस्रव-संवर को भली-भाँति समझ गया। वह निर्जरा, क्रिया और अधि-करण तथा बंध-मोक्ष को भी अच्छी तरह पहचान गया।

निर्जरा दो प्रकार की होती है। एक सकाम निर्जरा, दूसरी अकाम निर्जरा। अकाम निर्जरा संसार के प्रत्येक प्राणी को प्रति-क्षण होती रहती है, परन्तु उससे आत्मा का कल्याण नहीं होता। आत्मकल्याण के लिए सम्यग्दृष्टि पुरुष, सम्यक्त्व के गुण प्राप्त करके बारह प्रकार की निर्जरा में से किसी एक भेद को स्वीकार करता है। सकाम निर्जरा का अनुष्ठान करना ही निर्जरा के सच्चे मर्म को जानना है।

निर्जरा के पश्चात् क्रिया का ज्ञान होना आवश्यक है। कौनसी क्रिया करनी चाहिए और कौनसी नहीं, यह समझ लेना

बहुत उपयोगी है। क्रिया-अधिकरण को समझकर शुद्ध क्रिया किये बिना सच्चा धर्म नहीं होता। उदाहरण के लिए रेल की सवारी में ज्यादा पाप है या बैलगाड़ी की सवारी में?

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज के सामने भी यह प्रश्न उपस्थित किया गया था। पूज्य श्री ने फरमाया था कि एक आदमी यहाँ से रेल द्वारा कलकत्ता की मुसाफिरी करे और दूसरा बैलगाड़ी द्वारा। यद्यपि बैलगाड़ी द्वारा मुसाफिरी करने वाला देरी से कलकत्ता पहुँचेगा, घास-पानी का आरम्भ-समारम्भ भी होगा, परन्तु रेल द्वारा मुसाफिरी करने वाले से इसे कम पाप लगेगा।

इसका कारण यह है कि गाड़ी का आरम्भ-समारम्भ स्वतन्त्र है। गाड़ी दूसरे देश वालों को हानि नहीं पहुँचाती—दूसरे देश वालों का खून नहीं चूसती। मगर रेलगाड़ी बनाने के लिए कितनी भयंकर क्रिया करनी पड़ती है, कैसे-कैसे पापमय साधनों से उसका निर्माण होता है! बन जाने के बाद भी वह कितना नुकसान पहुँचाती है!

रेल के दौड़ने से कतिपय व्यापारियों के जेब भले ही भर गये हों—वे धनवान् बन गये हों, परन्तु देश की तो बर्बादी ही हुई है। रेल दौड़ती क्या है, खून चूस रही है। यह तुम्हारे देश का खून चूसकर विलायत वालों की तोंद बढ़ा रही है। गाड़ी का तेजी से दौड़ना क्या बतलाता है? यह आसन्नमृत्यु का लक्षण है।

यह मैं मानता हूँ कि रेल की सवारी करना आप सबसे कभी नहीं छूटेगा, मगर जो भाई या बहिन इसका त्याग करेंगे, मैं

उन्हें धन्यवाद दूँगा—शाबासी दूँगा। जिस काम को ज्ञानी बुरा समझता है, वह किसी कारण से अगर न छूटे तो उसे धिक्कार तो अवश्य ही देता है। उसके मोह में वह नहीं फँसता।

कई भाई चर्खा कातने में घोर पाप समझते हैं। उनका कहना है कि चर्खा गर्र-गर्र फिरता है, अतएव वायुकाय की हिंसा होती है। ठीक है, मगर विलायती कपड़ा किस प्रकार तैयार होता है, यह आप जानते हैं ?

आप लोग बाहर जाकर कहते हैं—'महाराज तो चर्खा कातने का उपदेश देते हैं और रेलगाड़ी की जगह बैलगाड़ी की सवारी करने को कहते हैं।' यह समझना भ्रम है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि आप पहले महापाप का त्याग करें। अल्प-पाप का त्याग करना भी उचित है, मगर अल्पपाप को त्याग कर उसके बदले महापाप का आचरण करना शास्त्रविहित नहीं है। अगर कोई व्यक्ति मुझसे वनस्पति का त्याग कर उसके बदले मांस-भक्षण करने का नियम लेगा तो मैं ऐसे नियम का अनुमोदन नहीं करूँगा, क्योंकि वनस्पति की अपेक्षा पंचेन्द्रिय प्राणी का मांसभक्षण करने में अधिक पाप है। इस सादे सत्य को समझना आपके लिए कठिन नहीं होना चाहिए। हाँ, अगर कोई मांसभक्षी पुरुष मांस का त्याग करके सिर्फ वनस्पति पर निर्भर रहना चाहता है तो उसके मांसत्याग का समर्थन करना चाहिये। इस प्रकार का उपदेश देना भी अनुचित नहीं है। इसी प्रकार मैं महापाप के अन्य कार्यों के त्याग का उपदेश देता हूँ और आपको यह बतलाता हूँ कि कौनसा काम महापाप का और कौनसा अल्पपाप का है ? मैं महारम्भ की क्रिया मिटाने के लिये कहता हूँ।

वीतराग का मार्ग, जैसा आप समझते हैं, उससे निराला है। आज आप आटे का मांड़ लगाकर विशुद्ध वस्त्र तैयार कर देने वाले जुलाहों को अछूत कहते हैं, उनसे दूर भागते हैं, पर मिल के कपड़ों में पशुओं की चर्बी लगाई जाती है। वह चर्बी मूक पशुओं की हत्या किये बिना प्राप्त नहीं होती। ऐसे कपड़े पहन-ओढ़कर आप गौरव मानते हैं, सेठाई की ठसक दिखलाते हैं और ऐसी घोर हिंसा करने-कराने वालों से हाथ मिलाने में आप अपना अहोभाग्य मानते हैं! इसलिये कि वे धनवान् हैं—मिल-मालिक हैं!

चर्खा कातकर, सूत पैदा करके उसके कपड़े बनवाने में आप पाप समझते हैं और मैनचेस्टर के कपड़े पहनकर 'पवित्र हो गये' ऐसा मानते हैं। यह आपकी कैसी बुद्धि है कि आप हिंसक को उत्तम और अहिंसक को नीच समझते हैं!

पहले के जमाने में बड़े-बड़े धनाढ्य घरों की स्त्रियाँ चर्खा कातती थीं। चर्खा सिर्फ पैसा पैदा करने की मशीन ही नहीं, वरन् एकाग्रता प्राप्त करने का सरल साधन भी था। चर्खा विधवाओं के धर्म की रक्षा करने वाला और भूखों की भूख मिटाने वाला था। चर्खा आधुनिक काल का आविष्कार नहीं, पुरातन काल की स्मृति है। जैन शास्त्रों में भी इसका वर्णन आया है।

इस विषय में एक चरित आया है। वह लम्बा है। अतएव उसका कुछ ही सार कहता हूँ।

कुछ कुमारी बालिकाएँ आँखें मींचकर कोई खेल खेल रही थीं। उन्होंने मन्दिर में यह खेल किया था। उन्होंने आपस में यह

निश्चय किया था कि जिसके हाथ में मन्दिर का जो खम्भा आ जाय, वही उसका पति माना जाय। बालिकाएँ खेलने लगीं। संयोग-वश आर्द्रकुमार नामक एक मुनि वहाँ खड़े थे और वह एक बालिका के हाथों में आ गये। आँख खोलने पर बालिका चौंकी। मुनि चुप-चाप आगे जाने लगे। तब बालिका बोली—नाथ, आप कहाँ पधारते हैं?

मुनि ने उत्तर दिया—बाई, हम अपने ठिकाने जा रहे हैं।

बालिका—मैंने आपको पति-रूप में स्वीकार कर लिया है। मैं भी आपके साथ ही चलूँगी।

मुनि—हम मुनि हैं। पति स्वीकार करना हो तो किसी संसारी को स्वीकार कर सकती हो।

बालिका—क्या कुलीन कन्या कभी दूसरा पति स्वीकार करती है?

मुनि मौन हो रहे। बालिका उनके पीछे-पीछे लगी। जहाँ मुनि जाते, वह भी वहीं उनके पीछे लगी रहती। बालिका की यह दृढ़ता और प्रेम देखकर आखिर मुनि पिघले और बोले—देखो, मैं तुम्हारे साथ विवाह करता हूँ, मगर जीवनभर मैं तुम्हें नहीं निभा सकता। सिर्फ बारह वर्ष तक मै तुम्हारे साथ रहूँगा। अगर यह बात स्वीकार हो तो ठीक, अन्यथा किसी दूसरे पुरुष के साथ विवाह कर लो।

बालिका—नहीं, नाथ! आप जैसा कहेंगे, वही करूँगी।

आप कितने ही दिन मेरे साथ रहें, पर विवाह तो अन्य पुरुष के साथ मेरा नहीं होगा।

दोनों का विवाह हो गया। देवों ने इस अवसर पर बारह करोड़ सोनैया (स्वर्ण-मोहर) बरसाये। कुछ समय के बाद एक पुत्र भी उत्पन्न हो गया। दिन जाते क्या देर लगती है? बारहवाँ वर्ष समाप्त होने आया। अब उस लड़की को, जिसका नाम श्रीमती था, खयाल हुआ कि पतिदेव जाने वाले हैं। मैं भी उन्हें रोकना नहीं चाहती। उन्होंने मेरे लिए जो अद्‌भुत त्याग किया है, वही मेरे लिये बस है। मगर उनके जाने पर मैं अनाथ हो जाऊँगी। अब मेरी रक्षा कौन करेगा।

श्रीमती बाई गरीब नहीं थी। पास में विपुल धन था। पुत्र था। रहने के लिए मकान की कमी नहीं थी। पर वह सोचती थी— अभी मैं यौवन अवस्था में हूँ। किसके सहारे अपना समय व्यतीत करूँगी? मेरे शील की रक्षा कैसे होगी?

उसे प्रतिज्ञा थी कि मेरे पास जो धन है, उसमें से एक भी पाई अपने काम में न लूँगी।

श्रीमती जब विचार में डूबी हुई थी तो उसे अचानक कुछ स्मरण आया। मानो डूबते को सहारा मिल गया। उसने कहा— वाह! स्वामी, वाह! खूब कृपा की। बस, अब वह साधन मिल गया, जिसके सहारे अपना यौवनकाल शान्ति से व्यतीत करूँगी।

आप समझे, श्रीमती को क्या साधन मिल गया था? चर्खा!

वह सोचती—मुझे ज्यादा खाना होगा तो ज्यादा कातूँगी, मामूली खाना होगा तो मामूली कातूँगी। बस, अब मैं सनाथ हुई। अब हर्षपूर्वक पतिदेव को विदा कर सकूँगी।'

यह कथा बहुत लम्बी है। तात्पर्य यह है कि चर्खा प्राप्त कर श्रीमती ने बड़ी ही शान्ति के साथ अपना शेष जीवन व्यतीत किया।

आज विधवाएँ सुन्दर वस्त्र पहनती हैं, जेवर पहनती हैं। कोई उनकी निन्दा नहीं करता। किन्तु जब चर्खा चलाती हैं, अपना जीवन शान्तिपूर्वक बिताने की साधना करती हैं, इधर-उधर भटकना छोड़कर एकान्त में एकाग्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं तो उनकी निन्दा की जाती है। धन्य है यह समझ!

आपकी सामाजिक स्थिति दिन-दिन बिगड़ती देख जब मैं एकान्त में विचार करता हूँ तब आँसू आ जाते हैं। विचार आता है—अन्न खाना छोड़ दूँ। पर मैं अभी अपने आपको इतना कमजोर अनुभव करता हूँ कि अन्न नहीं छूटता।

विधवाओं के लिये शृंगार आग में घासलेट डालने के समान है। अगर बहिनों को चन्दनबाला, ब्राह्मी, सुन्दरी जैसी पवित्र बहिनें बनाना चाहते हैं तो उन्हें सादगी से जीवन बिताना सिखाओ। इनके लटके-छटके छुड़ाओ।

अब आप प्रकृत विषय पर आ जाइए। सुबाहुकुमार ने बंध और मोक्ष को भी जान लिया। आप मोक्ष जाने का मनोरथ

करते हैं, अतएव मोक्ष के मुसाफिर हैं। मोक्ष, बंध के नाश होने पर होता है। अतएव आपको बंध और मोक्ष को जान लेना आवश्यक है। आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का क्षीर-नीर की तरह एकमेक हो जाना बंध कहलाता है और समस्त कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना मोक्ष कहलाता है।

सुबाहुकुमार तत्त्वज्ञानी होने के साथ 'असहाय' भी हो गया। वह अब किसी की गुलामी नहीं चाहता था। वह स्वाधीन हो गया। उसे किसी के सहारे की आवश्यकता न रही।

आत्मा स्वतन्त्र है। जो इस तत्त्व को समझ करके भी कहता है—'मुझे अमुक का सहारा चाहिए। अमुक मेरी आशा पूरी कर देगा। अमुक के योग से मेरा भला-बुरा हो जायगा। अमुक ने मुझे सुख पहुँचाया। अमुक ने मुझे दुःख दिया।' समझना चाहिये कि ऐसा कहने और मानने वाले ने अभी धर्म का मर्म नहीं समझा।

सुबाहु ने किसी मनुष्य की सहायता न चाही। आपको शंका हो सकती है कि मनुष्य को पद-पद पर अपने जीवन-निर्वाह के लिये दूसरे की सहायता की अपेक्षा रहती है, फिर सुबाहु मनुष्य की सहायता के विना कैसे रहा ? सहायता के विना मनुष्य जीवित ही कैसे रह सकता है ? बचपन में माता-पिता सहायक न बनें तो बालक की क्या दशा हो ? जवानी में स्त्री की सहायता न मिले तो ? इसके अतिरिक्त कोई पुरुष कितना ही उद्योगी क्यों न हो, अपने जीवन की समस्त आवश्यक वस्तुओं का स्वयं उपार्जन नहीं कर सकता। भोजन सम्बन्धी विविध वस्तुएँ, वस्त्र, मकान, आजीविका

के साधन आदि सभी कुछ कोई क्या स्वयं तैयार कर सकता है ? किसी भी दृष्टि से देखिए, मनुष्य को किसी न किसी रूप में सहायता की आवश्यकता रहती ही है। सिर्फ रोटी बनाने में कितनों ने सहायता दी ? जिन गेहुओं की आप रोटी खा रहे हैं, उन्हें आपने उत्पन्न नहीं किया। किसी जमीन में वह पैदा हुये। किसी किसान ने बोये, काटे, तैयार किये। किसी के द्वारा बनाये हल से किसान ने जमीन जोती। हल के लिए लकड़ी कौन लाया ? हल में बैल जुते। बैलों की रक्षा करने के लिए क्या क्या साधन काम में लिए गये ? उन्हें किसने तैयार किया ? किसने गेहूँ पीसे ? गेहूँ पीसने की चक्की किसने बनाई ? रोटी सेकने के लिए आग की आवश्यकता पड़ी। आग कहाँ से आई ? दियासलाई जलाई तो वह किस-किसने बनाई ? थाली, कटोरी, चकला, बेलन आदि कहाँ-कहाँ से आया ? जिस घर में रोटी बनाई जा रही है, वह किसने बनाया ? किन-किन साधनों से बनाया ? वह साधन किस किसने बनाये ? उन साधनों के लिये भी किन-किन साधनों की आवश्यकता पड़ी ? और वह किसके परिश्रम से तैयार हुए ? इस प्रकार सिर्फ रोटी बनाने के लिये न जाने कितनों की सहायता की आवश्यकता होती है। ऐसी हालत में संसार के दूसरे कामों में मनुष्य को मनुष्य की सहायता की कितनी आवश्यकता है, यह सहज ही समझा जा सकता है।

ऐसी स्थिति में 'असहाय' का तत्त्व समझना जरा कठिन है। अगर आप आत्मतत्त्व को समझ जाएँगे तो 'असहाय' का अर्थ भी समझ सकेंगे। आत्मा स्वतन्त्र है। यह जब जहाँ जाता है तो अपना किया पुण्य और पाप साथ लेकर जाता है। इस पुण्य और पाप के अनुसार ही उसे प्रत्येक वस्तु का संयोग मिलता है।

जिस वस्तु के संयोग के योग्य पुण्य आत्मा ने उपार्जन नहीं किया, वह उसे कदापि नहीं मिलती। इसलिए ज्ञानी समझता है कि कौन मेरा सहायक और किसका मैं सहायक !

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।

अर्थात्—कर्म करने वाला कौन है ? आत्मा। और कर्म कराने वाला कौन है ? आत्मा। मतलब यह है कि सभी कुछ करने वाला आत्मा ही है। आत्मा अपने ही कर्त्तव्यों से स्वतन्त्र बन सकता है और अपने ही कार्यों से परतन्त्र भी बन सकता है। आत्मा को अधिकार है कि वह अपने आपको वैतरणी नदी बनावे या नरक में ले जाने वाली नाव बनावे, चाहे कामधेनु बनावे, चाहे नन्दनवन बनावे। आत्मा आप ही सभी कुछ बन सकता है। जब वह स्वतन्त्र है, उसमें सब कुछ करने की शक्ति विद्यमान है, तब उसे किसकी सहायता की आवश्यकता है ? ज्ञानी पुरुष सिर्फ अरिहंत की सहायता चाहते हैं और वह भी इसलिए कि आत्मा ही अर्हन्त है। आत्मा से भिन्न कोई दूसरा अर्हन्त नहीं है। ज्ञानी पुरुष आत्मा को ही ईश्वर मानता है। कहा भी है—

य: परमात्मा स एवाहं, योऽहं स: परमस्ततः ।
अहमेव मयाऽऽराध्यो नान्य: कश्चिदिति स्थिति: ।

जो परमात्मा है, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है। अतएव मैं ही मेरे द्वारा आराध्य हूँ—आत्मा से भिन्न और कोई आराध्य नहीं है।

ज्ञानी पुरुष आत्मा और परमात्मा में निश्चय नय से इस

प्रकार का अभेद देखते हुये भी व्यवहार से भेद भी देखते हैं। इसी-लिए कहा जाता है—

दीन को दयालु दानी दूसरो न कोई।

हे दीनदयाल ! तू महादानी है। दूसरा कोई ऐसा दानी मुझे नजर नहीं आता। इसीलिए मैं तुझसे याचना करता हूँ। तू दाता है। मैं याचक हूँ। तुझे छोड़ किसी से मैं याचना नहीं करता। दूसरे को अपनी दीनता क्यों सुनाऊँ ? जिसे मैं अपना दुःख सुनाऊँगा वह मुझसे भी अधिक दुखी नजर आएगा। जो स्वयं दुखी है वह मेरी मुराद कैसे पूरी कर सकता है ? जिसके आगे मैं भिखारी बनकर जाऊँ, वह मुझसे भी बड़ा भिखारी निकलेगा। भिखारी से कैसे भीख माँगूँ ?

आप इस बात को अच्छी तरह जानते हैं। जो भिखारी आपके पास माँगने आता है, उसे आप पैसा दो पैसे दे देते हैं और वह सन्तुष्ट हो जाता है। पर आपको कितने पैसों की जरूरत है ? हजरों लाखों की। अब बतलाइये, बड़ा भिखारी कौन ठहरा ? आप या वह ?

भिखारी आपसे रोटी का एक टुकड़ा माँगता है। मिलने पर वह तृप्त हो जाता है। पर आपको कलाकंद, पेड़े आदि-आदि मिठाइयों से भी संतोष नहीं होता। कहिए, बड़ा भिखारी कौन हुआ ?

भक्त कहता है—अपना दुखड़ा किसके आगे रोऊँ ! जिसे अपना दुख सुनाता हूँ वह स्वयं दुःखी है। जो अपना दुःख नहीं मिटा सकता, वह मेरा दुःख कैसे मिटायेगा ? दुःख उसी को सुनाना

योग्य है जो मिटा सकता हो। जो स्वयं दुःखी है वह दूसरों का दुःख कठिनता से ही मिटा सकता है। जो सब प्रकार से सुखी है, जिसे किसी तरह का दुःख नहीं है, वही दूसरे का दुःख दूर कर सकता है।

अनाथी मुनि ने संसार की एक-एक वस्तु हाथ में ली। उस पर विचार किया। पर एक भी वस्तु उन्हें ऐसी न मिली जो दुःख का नाश कर सके। उन्होंने कहा—मेरा अनाथपन कोई नहीं मिटा सकता। मेरे पिता मौजूद हैं, पर मैं अनाथ हूँ। अनाथ इस कारण हूँ कि मेरा दुःख वह भी नहीं मिटा सके। जब किसी से मेरा दुःख न मिटा तो मैं अनाथ ही ठहरा। मैंने अपने पिता से अपना दुःख कहा तो वे स्वयं रो पड़े। सब रोने वाले ही इकट्ठे हुये। मगर स्वयं रोने वाले किसी को हँसा नहीं सकते। मेरा दुःख देखकर पत्नी ने अन्न खाना छोड़ दिया, गंध लगाना छोड़ दिया, सुगन्ध सूँघना छोड़ दिया, अलंकार और सुन्दर वस्त्रों का धारण करना छोड़ दिया। पर कोई मेरा दुःख न मिटा सके। वे मेरे दुःख से दुःखी हो गये और उनका दुःख देखकर मैं और ज्यादा दुःखी हो गया। पर इससे लाभ किसी को नहीं हुआ। मेरा दुःख ज्यों का त्यों बना रहा।

रोने वाला सहायक नहीं बन सकता। दुःख का गुलाम दुःख से कैसे छुड़ा सकता है?

मेरे दुःख को छुड़ाने में धन की भी कसौटी हो गई। माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री और मेरे इस शरीर की भी कसौटी हो गई। सभी नाकामयाब रहे। इनमें से कोई अनाथ को सनाथ करने वाला न निकला।

यह संसार स्वयं दुःखी है। यह किसी को सुखी नहीं कर सकता। मेरे स्वामी–मेरे नाथ केवल वीर भगवान ही हो सकते हैं। वीर भगवान् नाथ क्यों बने ? इनमें क्या विशेषता है ? जो स्वयं दीन न हो—किसी के आगे हाथ न फैलावे, वही नाथ होने योग्य है। बड़े-बड़े देवता भी मेरे दुख को नहीं मिटा सकते। औरों की क्या बात की जाय, देवताओं का भी राजा इन्द्र, जिसके ३ लाख ३६ हजार आत्म-रक्षक हैं, स्वयं दुखी है। उसकी रक्षा देवता करते हैं। जो स्वयं दूसरों से रक्षित है, वह मेरी क्या रक्षा करेगा ?'

आज अनेक बहिनें भैरव, भवानी और पीर-पैगम्बर के आगे नतमस्तक होकर बेटा-बेटी की याचना करती हैं। जो भैरव भवानी तेल और पतासों की आशा रखते हैं, वे बेटा-बेटी कैसे दे सकते हैं ? वह बेचारे स्वयं दीन बन रहे हैं। जो स्वयं दीन हैं, वे दूसरों की मुराद कैसे पूरी कर सकते हैं ?

इन्द्र, इन्द्राणी का हाथ पकड़ना चाहे और कदाचित् इन्द्राणी उसे लात मार दे तो इन्द्र उसके पैर पर हाथ फेरता है और कहता है—'प्यारी ! मेरे मुकुट की कठोर मणियों से तुम्हारी चरण-कमल को चोट तो नहीं पहुँची !' इस प्रकार जो स्वयं स्त्री का गुलाम है, वह दूसरे की गुलामी कैसे छुड़ा सकता है ?

मित्रो ! अगर आप जीव, अजीव, पाप, पुण्य, निर्जरा, आस्रव, संवर, बंध, और मोक्ष को तथा 'असहेज्ज' पन को भली-भाँति समझ लें तो आपको तीनों लोक तुच्छ जान पड़ने लगेंगे। जब तक यह ज्ञान नहीं होगा तब तक भैरों-भवानी, पीर आदि की

पूजा तुम से नहीं छूटेगी। क्या बेटा, बेटी और धन इनकी कूँख में रक्खा है, जो झट से तुम्हें निकाल कर सौंप देंगे!

बहिनें अज्ञान के प्रताप से इधर-उधर झाड़ा-फूंका, जंत्र तन्त्र कराती फिरती हैं, इसका क्या कारण है? यही कि इन्होंने तपस्या कर-करके पेट में सल तो डाल लिये हैं, पर आत्मविश्वास इनमें पैदा नहीं हुआ। बापूजी और रामदेवजी वीर पुरुष हुये हैं। उनकी वीरता का, उनकी सच्चरित्रता का बखान करो, पर उनके मन्दिरों में जाकर, सिर धुन-धुन कर बेटा-बेटी की माँग करना तुम्हारे हृदय की कमजोरी है और अपने सच्चे प्रभु के प्रति अविश्वास प्रकट करना है।

बताइए, आपके देव कौन हैं?

'अर्हन्त!'

सब से बड़ा देव कौन है?

'अर्हन्त!'

जब आप सब से बड़ा देव अर्हन्त को मानते हैं तो दूसरों के प्रति याचना कैसी?

बहिनो! अगर आप अर्हन्त नाम को कल्पवृक्ष जान जातीं तो दूसरों के पास जाने की कोई आवश्यकता ही न रहती। अर्हन्त नाम कल्पवृक्ष है। इसे तुमने अभी तक नहीं जाना। अर्हन्त का नाम आपको याद भी नहीं आता।

जब तक वास्तविक धर्मभावना नहीं आती, तब तक आपकी दीनता दूर नहीं होगी। महाकवि शादी क्या कहता है—

न दौरम गैर अजत्तू फरियाद रस,
तू ही आसियारास खता बख्शोबस।

अर्थात्—मैं अपने मालिक के सिवाय किसी के आगे अपनी फरियाद न पहुँचाऊँगा, क्योंकि वही मेरी मुराद पूरी करने वाला है। वही मेरे गुनाहों को देखने वाला है। गुनाहों के लिए वही शिक्षा देगा।

मित्रो! कवि ने अपने भाव प्रकट किये हैं। उसने कहा—मेरा गुनाह-अपराध-कर्म मेरे मालिक से मिटेगा। आप कहिए—आपको कौन निहाल करेगा? अर्हन्त! आपके अन्तरतर में विराजमान आत्मा!

अर्हन्त के गुण कहाँ तक गाऊँ? अगर उनके गुणों को एक बार तुम समझ लो तो उन पर से तुम्हारी श्रद्धा हट नहीं सकती। तुम कहोगे—अर्हन्त के प्रति हमारी श्रद्धा है; मगर मैं पूछता हूँ—अपनी श्रद्धा से विचलित होकर बेटा, बेटी और धन के लिए क्यों मारे-मारे फिरते हो? कहना पड़ेगा—तुम में बल नहीं है, आत्म-विश्वास की सच्ची शक्ति तुम्हें प्राप्त नहीं हुई है। अगर आत्मबल और आत्मविश्वास हो तो तुम साक्षात् अर्हन्त के दर्शन कर सकते हो।

मित्रो! तुमने छछंडी (सम्यक्त्व में आगार) आगार रक्खा है। अगर छछंडी को छोड़ दिया है तो राजा ने तुम्हारा हाथ

पकड़ा है ? मन ने रोक रक्खा है ? क्या किसी भूत से डर कर नहीं करते ? मोह के जाल में फँस गये हो ? क्या तुम्हें गुरु ने मना किया या किसी देव ने धमकाया है ? क्या हो गया है तुम्हें ? तुम्हें आस्था क्यों नहीं है ?

तुम सोचते होगे—मोह में पड़े विना घर-गृहस्थी का काम नहीं चल सकता। मगर यह विचार गलत है। मोह दुःख पैदा करने वाला है। निर्मोह बनकर गृहस्थ-जीवन व्यतीत करोगे तो कोई हानि नहीं होगी। धर्म पर विश्वास करो, श्रद्धा रक्खो। सुदृढ़ आस्था तीर्थङ्कर गोत्र बँधाने वाली है। मोह छोड़े विना अनाथी सरीखे नहीं बन सकते।

अनाथी का दुःख किसी से नहीं मिटा। उसे सब रोने वाले ही मिले। आखिर वह अर्हन्त के शरण गया। वहाँ जा, अपना दुखड़ा सुनाया। सब रोग शान्त हो गये। यह महाभावना क्या नहीं कर सकती ? इसमें अनन्त शक्ति है। जिसने अनाथी मुनि के दुःख मिटाये, वह हमारे दुःख नहीं मिटा सकती ?

उस परमात्मा के आगे सुर, नर, मुनि सब हाथ जोड़े खड़े हैं। योगीश्वर कहते हैं—प्रभो ! तेरा सरीखा दुःख दूर करने वाला हमें और कोई नहीं मिला। तेरे कृपाकटाक्ष से संसार के सारे दुःख छिन भर में दूर हो जाते हैं।

अर्हन्त को देव, असुर, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि तमाम सिर झुकाते हैं। जिसे अर्हन्त पर विश्वास हो गया है, वह निर्ग्रन्थ-प्रवचन से कभी नहीं हटता।

आज धर्म का मतलब एक जिद है। धर्म का असली मतलब कोई विरला ही जानता है। लोग जिद में कहते हैं—मैं बाईस सम्प्रदाय को मानता हूँ, मैं तेरापंथी हूँ, मैं मन्दिरमार्गी हूँ, मैं श्वेताम्बर हूँ, मैं दिगम्बर हूँ, मैं वैष्णवमत को मानता हूँ, मैं इस्लाम को मानता हूँ, आदि। पर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि धर्म में जो तत्त्व रहा हुआ है, उसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए। पर धर्म के नाम पर आज जनता में भारी भ्रम फैला हुआ है।

धर्म को स्वतन्त्रता से धारण करना चाहिए। जहाँ सत्य के आवरण में असत्य छिपा हो, उसे त्याग देना चाहिए। धर्म का खास लक्षण क्या है? जीव अजीव का ज्ञान होना। जीव-अजीव का ज्ञान होने पर मनुष्य के सिर पर चाहे धधकते हुये अंगारे रख दिये जाएँ, चमड़ी जल जाय, फिर भी वह यही समझता रहेगा कि जड़ चीज जल रही है, मुझे कोई नहीं जला सकता। इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर तुम सच्चे ज्ञानी कहलाओगे।

तुम कहोगे—'हम गृहस्थ हैं। हम ऐसी कठोर परीक्षा कैसे दें?' मैं कहूँगा—क्या कामदेव गृहस्थ नहीं था? जिसके घर में अठारह करोड़ सोनैया और साठ हजार गायें हों, क्या वह कोई साधारण गृहस्थ था? आज साठ हजार गायें, गृहस्थ की तो बात दूर, किसी राजा-महाराजा के यहाँ भी नहीं मिल सकतीं। उस ऋद्धिशाली कामदेव श्रावक की परीक्षा एक देव ने की।

जैसे आप धन चाहते हो, उसी प्रकार अरणक भी चाहता था। आप व्यापार करते हैं, अरणक भी व्यापार करता था। एक बार अरणक का जहाज देवता ने दो उंगलियों से उठाकर रोक दिया।

लोग घबरा उठे। बोले—ऐ अरणकजी ! तुम क्यों जि
ो ! तुम्हारी जिद हमें भी ले बैठेगी।

अरणक ने विश्वस्त भाव से उत्तर दिया—भाइयो ! घबर
ो ? तुम्हें डुबाने वाला कौन है ?

लोग कहने लगे—वाह भाई, जहाज दो उंगलियों से उठा
है। पल भर में उलट सकता है। फिर पूछते हो—कौन उत
ा है ?

अरणक ने कहा—मुझसे अधर्म को धर्म मानने के लि
जा रहा है। मैं अधर्म को धर्म कैसे मानूँ ? जहाज को डुबा
है ? अधर्म ही डुबाता है। धर्म तो तारने वाला है। अग
ज डूब भी गया तो चिन्ता क्या है ? अधर्म ही तो डूबेगा !

आखिर हार मानकर देवता ने कहा—धन्य है तुझे !
त्ता में उत्तीर्ण हुआ। तेरा धर्म दृढ़ है।

मित्रो ! जिद करो तो ऐसी करो। सत्य की जिद कर
े का कल्याण हो जाता है।

आपके सामने किसी जीव की हिंसा की जाय तो आ
ाएँगे या नहीं ?

'बचाएँगे !'

ठीक। तुम्हें जीव और अजीव पर विश्वास है, इसीलिए
रुणा करके जीव की हिंसा बचाते हो न ?

'जी हाँ !'

तो जहाँ जीवहिंसा होती है, वहाँ जाकर क्यों नाक रगड़ते हो ?

अरणक से हार मानकर देवता जब जाने लगा तो मिट्टी के लड्डुओं में बाँधकर दो कुंडल देता गया। अरणक को उनका पता नहीं था। लड्डू फोड़ने पर मालूम हुआ कि इनमें कुंडल हैं। मर्यादा से अधिक धन रखने का उसने त्याग कर दिया था। अगर इन रत्न-जटित कुंडलों को वह रख ले तो उसका त्याग झूठा हो जाय। अतएव उसने वह दोनों कुंडल राजा को भेंट कर दिये !

ऐसी उदारता के साथ त्याग की मर्यादा पालनी चाहिये। अगर आपके पास मर्यादा से अधिक धन आने लगे तो आप कह देंगे—'अब इसे क्यों फैंक दें ?' इस तरह की निर्बल भावना से प्रतिज्ञा खोटी पड़ जाती है।

आनन्द चार करोड़ सोनैयों से व्यापार करता था। परन्तु मर्यादा से ज्यादा एक पाई भी घर में नहीं आने देता था। मानो उसका व्यापार बिना नफा लिए ही चलता था। नफे का तमाम पैसा परोपकार में ही चला जाता था, जैसे परोपकार के लिए ही वह व्यापार करता था। ऐसे श्रावक ही सच्चे सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं।

सुबाहुकुमार ऐसा ही श्रावक बना। वह राजपुत्र था, मगर संसार में उसकी प्रसिद्धि राजपुत्र के नाते नहीं वरन् आदर्श पुरुष के नाते हुई। इस आदर्श पुरुष पर आध्यात्मिकता का ऐसा गहरा रंग चढ़ा कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसके बाह्य

राजकीय वैभव को दुनिया अपनी आँखों देख रही थी, पर उसके आन्तरिक उज्ज्वल प्रकाश को कोई विरला ज्ञानी ही जानता था।

आप सुबाहु की इस कथा को, सुबाहु की ही कथा न समझकर अपने आत्मा की कथा समझेंगे तो बड़ा कल्याण होगा। सुबाहु में और आपके आत्मा में अगर कोई अन्तर है तो केवल यही कि वह अपनी दबी हुई आत्मिक शक्ति को प्रकाश में ले आया था और आपको अभी प्रकाश में लाना है।

आप यह वर्णन सुनकर अपने-अपने घर चले जाएँगे। आप में से कितने इस पर वहाँ जाकर मनन करेंगे ? आप व्याख्यान सुनने के लिए जितने उत्सुक रहते हैं, उतनी उत्सुकता उस पर मनन करने की भी हो तो आपके जीवन में भारी परिवर्तन हो जायगा। आप जानते हैं, भोजन वही फायदेमन्द होता है जो पच जाय। जो भोजन पच न सके, वह चाहे कितना ही कीमती हो, शरीर को कोई वास्तविक लाभ नहीं पहुँचा सकता। जो मनुष्य रूखे सूखे-रोटी के टुकड़ों को भी भली-भाँति पचा सकता है, उसके चेहरे की रौनक और ही तरह की होती है। ऐसे मनुष्य को अगर अच्छा भोजन मिल जाय और यदि वह उसे पचा ले, तो कुछ ही दिनों में उसके चेहरे का रंग पहले से निराला और चमकदार बन जाएगा। इससे विपरीत जो मनुष्य हमेशा अच्छे-अच्छे भोजन करता है, बादाम और पिस्तों की चक्की उड़ाता है पर उन्हें पचा नहीं सकता, उसका मुख रूखी सूखी रोटी खाकर पचाने वाले मनुष्य के मुख की अपेक्षा भी क्षीण, निस्तेज और दुर्बल मालूम पड़ेगा। उसमें उतनी शक्ति भी उत्पन्न नहीं होगी।

यही बात व्याख्यान सुनने के विषय में है। जो मनुष्य व्याख्यान तो हमेशा सुनता है पर एक कान से सुन दूसरे कान से निकाल देता है, उसे कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचता। जो व्याख्यान सुनने के पश्चात् उस पर मनन करता है, उसे लाभ हुए बिना नहीं रहता। सुनी या पढ़ी बात पर मनन करना रोटी खाकर पचाने के समान है। खाकर पचा लेना भोजन करने का उद्देश्य है, इसी प्रकार उपदेश सुनकर उस पर मनन करना और उसे व्यवहार में ले आना उपदेश-श्रवण का खास प्रयोजन है। सुने हुये उपदेश पर मनन करने वाले की आन्तरिक ज्योति जगत् में फूट पड़ती है।

सुबाहुकुमार ने भगवान् के उपदेश पर मनन न किया होता तो उसकी स्थिति में शायद ही परिवर्तन होता। वह किस स्थिति में था और किस स्थिति पर पहुँच गया; इस विषय का उल्लेख शास्त्र में विद्यमान है। वही मैं आपको बतला रहा हूँ।

(१५)

सुबाहु की सुदृढ़ श्रद्धा।

—*★*—

सुबाहुकुमार को निर्ग्रन्थप्रवचन पर इतनी दृढ़ श्रद्धा हो गई कि कोई देवता भी उसे विचलित करने में समर्थ न था। उसके प्रचण्ड सामर्थ्य के सामने देवता अपनी शक्ति को कमजोर समझने लगे। सुबाहु को अपने आत्मा पर पक्का विश्वास था। उसका पक्का विश्वास ही देवों को कम्पित कर देता था।

अहा मनुष्य ! जो मनुष्य अन्न का कीड़ा समझा जाता है, जो जरा से जहर से मर जाता है, जिसे बिच्छू का छोटासा डंक हाय-तोबा मचवा देता है, उसी मनुष्य में इतनी ताकत ! उसमें इतनी शक्ति है कि वह देवताओं की शक्ति को भी तुच्छ समझता है और देवता उसके आगे अपना मस्तक झुका देता है !

मनुष्य ने अपनी कायर मनोवृत्ति से अपने को निर्बल बना लिया है, परन्तु जिस क्षण वह अपनी असली शक्ति का विचार करेगा, शक्ति को पहचान लेगा, उसी क्षण उसे विश्वास हो जायगा कि मैं अनन्त और अतुल बल का स्वामी हूँ। मुझ में इतना बल है कि समस्त संसार का और देवों का बल एक ओर तथा मेरा बल दूसरी ओर हो तो भी मैं ही विजयी होऊँगा।

ऐ मनुष्यों ! उठो। अपने आत्मिक बल को पहचानो। अपनी अक्षय शक्ति का कोष सँभालो। क्षण भर में निर्बलता को क्षीण कर डालो।

अरणक और कामदेव जैसे श्रावकों को देवता भी नमस्कार करते थे। देवताओं को अपने चरणों में झुकाने की ताकत मनुष्य-मात्र में है–तुम्हारे भीतर भी है। पर मनुष्य अपनी ताकत को भूल-कर कुदेवों और कब्रों को पूजता फिरता है। मनुष्य में यह दयनीय दीनता कहाँ से आई है ? अपनी शक्ति के अज्ञान से। ऐ मनुष्य ! इसलिए इधर-उधर भटकना छोड़ और अपनी शक्ति की ओर देख।

वही मनुष्य अपने बल पर विश्वास रख सकता है, जिसे निर्ग्रन्थ प्रवचन पर पूरा भरोसा है। सुबाहुकुमार में यह गुण मौजूद था। उसे निर्ग्रन्थों के प्रवचन पर अणुमात्र भी सन्देह नहीं था। जिसके आत्मा में मान नहीं होता, माया नहीं होती, राग-द्वेष का नाम मात्र नहीं होता वह महापुरुष निश्चय से निर्ग्रन्थ कहलाता है। जिसके अन्तःकरण की तमाम गांठें खुल गई हैं, वह निर्ग्रन्थ है। ऐसे निर्ग्रन्थ का प्रवचन, निर्ग्रन्थप्रवचन कहलाता है।

वचन वह है, जिसमें कोई विशेष बात नहीं होती, जैसे दो आदमियों का साधारण वार्तालाप वचन है। और जो वचन जगत्कल्याण की दृष्टि से बोले जाते हैं, उन्हें प्रवचन कहते हैं। पहुँचे हुए अर्हन्त आदि महापुरुष ही ऐसे वचन-प्रवचन–बोल सकते हैं। न्यायाधीश न्यायालय में बैठकर मुकदमे का फैसला भी सुनाता है और घर में बैठकर अपने बाल-बच्चों से बातें भी करता है। दोनों

अवस्थाओं में वह वचनों का प्रयोग करता है। पर कितना भेद है इन वचनों में ? घर पर बोले जाने वाले उसके वचनों से किसी का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। और जब फैसला सुनाता है तो मानो वह वादी और प्रतिवादी के जीवन का विधाता बनकर, उनके जीवन-मरण और हानि-लाभ का लेखा बता रहा है। उसके वचनों पर वादी-प्रतिवादी का बहुत कुछ हानि-लाभ निर्भर है। इस प्रकार न्यायाधीश की घरू बातचीत को वचन और फैसले के वाक्यों को प्रवचन समझ लीजिये।

प्रवचन हानि-लाभ को बतलाता है, नरक और स्वर्ग का मार्ग प्रदर्शित करता है। बन्धन और मुक्ति का भेद समझाता है। जिसे जो रुचिकर हो, वह उसे ग्रहण कर ले। अर्हन्तों का प्रवचन एक फैसला है, जो तुम्हारे शाश्वत कल्याण की ओर निर्देश करता है। वही मैं तुम्हें सुना रहा हूँ।

कितनेक लोग ऐसे हैं जो निःशंक हैं—निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर जिन्हें शंका नहीं है, लेकिन निःकांक्ष बनना उनके लिए भी कठिन हो जाता है। निःकांक्षा का अर्थ है—कांक्षा-वांछा-इच्छा रहित होना। जिसके हृदय में कांक्षा रहती है, वह पाप की भावना में पड़ जाता है।

कई लोग असाधु की पूजा होते देख और साधु की पूजा न होते देखकर अपने धर्म की ओर से उदासीन हो जाते हैं। वह सोचते हैं—'उँह, हमारे धर्म के साधुओं का कोई आदर नहीं करता, हमारे निर्ग्रन्थप्रवचन पर कोई नहीं चलता और अवज्ञा करता है। अतः हमारा धर्म, हमारे साधु और हमारे शास्त्र अच्छे नहीं हैं।'

इस प्रकार के विचार आत्मघातक सिद्ध होते हैं। हम जिस धर्म को मानते हैं, उसके मानने का फल अगर अच्छा होता तो हमारे साधुओं की महिमा लोग क्यों नहीं गाते ? या हमारे धर्म की वृद्धि क्यों नहीं होती ? ऐसी कांक्षा में पड़कर धर्म के मूल तत्त्वों का नाश नहीं करना चाहिए। 'जैन-धर्म सच्चा धर्म है, इस पर मेरा पूर्ण विश्वास है, दूसरे इसे मानें या न मानें, मैं अपने आत्मा को अपना रास्ता क्यों भूलने दूँ ?' जिसके अन्तरंग में ऐसा विश्वास है, उसका सच्चा सम्यग्दृष्टिपन आप ही फूट पड़ता है।

कल्पना करो, तुम्हारे पास सच्चे हीरे की एक अंगूठी है। जौहरी ने उस हीरे की बड़ी कीमत बतलाई। एक जमाना ऐसा आया कि लोग इमीटेशन हीरों पर ज्यादा मुग्ध हो गये। उन हीरों की ऊपरी चमक-दमक से लोग इतने आकर्षित हो गये कि वे सच्चे हीरे की कीमत इमीटेशन हीरों की बराबर भी देने को तैयार नहीं। अब बताइये, सच्चा हीरा वाला अपने हीरे को झूठा समझेगा या उन लोगों को मूर्ख समझेगा ? वह ऐसे लोगों को ही मूर्ख मानेगा, क्योंकि उसे अपने असली हीरे के मूल्य पर विश्वास है। इसी प्रकार जिसे एक बार अर्हन्त के तत्त्व पर पूर्ण विश्वास हो गया उसे दूसरे तत्त्व पर विश्वास नहीं हो सकता। वह कुसाधुओं की पूजा प्रतिष्ठा देखकर उनकी ओर आकर्षित नहीं हो सकता। अधर्म से पैदा होने वाला पैसा या प्रतिष्ठा सम्यग्दृष्टि को मुग्ध नहीं कर सकती। गोहत्या करने वाला कसाई अगर नवाब का बच्चा बनकर घूमे तो तुम उसका सन्मान करोगे ? नहीं ! कलकत्ता की गौहरजान एक-एक गाने के हजारों रुपये लेती थी। उसे धन वाली समझकर तुम उसे साध्वियों के समान नमस्कार करोगे ?

जिसके पास पहनने को पूरा कपड़ा नहीं है, ऐसी पतिव्रता स्त्री के चरण-रज की बराबरी अनमोल वस्त्रों से सजी हुई वेश्या कर सकती है ? नहीं।

आप निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर अटल श्रद्धा रक्खो। जिधर की वायु चले, उधर ही ध्वजा फड़कने लगे, इस प्रकार की निर्बल श्रद्धा से नहीं, वरन् अविचल और अखण्ड श्रद्धा से धर्म का पालन करो।

सुबाहुकुमार ने भगवान् महावीर के वचन सुनकर उनका निश्शंक और निःकांक्ष होकर पालन किया। आपको यहाँ सीता की बात कहूँ या द्रौपदी की ? सीता की बात पर ही ध्यान दीजिये।

राम के शरीर पर पूरे वस्त्र नहीं। काला भील सरीखा रंग है। जंगल में भटकता फिरता है। घास के बिछौने पर सोता है। समय पर भूख-प्यास मिटाने के साधन नहीं। राम की ऐसी अवस्था है। इस अवस्था में भी सीता ठोकरें खाती हुई राम के पीछे-पीछे चली जा रही है।

एक दिन रावण सीता को उठाकर अपने महल में ले गया। जहाँ सोने की लंका हो वहाँ भोग-विलास की सामग्री का पूछना ही क्या ? रानी मन्दोदरी रावण के कहने पर दूती बनकर सीता को समझाती है। उस समय सीता का हृदय किस ओर था ? राम की ओर ! इस बात से इंकार करने की हिम्मत पापी से पापी भी नहीं कर सकता तो आप सत्संग करने वाले कर ही कैसे सकते हैं ? कहने का आशय यह है कि सती सीता वन-वन में भटकने वाले राम के पीछे कष्ट उठा रही है, मगर रावण का असीम वैभव देख

कर भी उसे भोगने से साफ इंकार करती है। इसका क्या कारण था? राम वन-फल खाने वाला था। राम वस्त्रहीन था। राम घास के बिछोने पर सोता था। उधर रावण के महलों में किसी वस्तु की कमी नहीं थी। फिर सीता ने क्यों इंकार किया? इसीलिए कि भोग-सामग्री सीता के मन को आकर्षित न कर सकी। उसने सोचा—'कहाँ रामचन्द्र, जो सत्य और धर्म के लिए वनवास भोग रहे हैं और कहाँ यह लम्पट रावण, जो स्त्रियों की चोरी करता फिरता है! धन्य राम! वाह राम! राम ने भरत को राज्य दे दिया। गृह-कलह मिटाने के लिये माता के वचन का पालन किया। पिता के वचन की रक्षा के लिए राज्य को ठोकर मार दी। मगर यह नीच, पामर रावण! स्त्रियों का दास! भोग का गुलाम! पवित्र मन्दोदरी को कुट्टिनी बनाकर भेजता है! ऐ मेरे राम! तू ही मेरी नस-नस में समाया है—रग रग में रम रहा है।'

एक समय ऐसा था, जब महावीर भगवान् को भी कष्ट उठाना पड़ा था। उन्होंने उड़द के बाकलों (छिलकों) के लिये हाथ फैलाया था। उन्हें घर-घर भिक्षा माँगनी पड़ी थी। लोग उन पर धूल फैंकते थे और कुत्तों से कटवाते थे। कहा जाता है—उनके कानों में कीले ठोके गये। परन्तु महावीर के भक्तों को, दुनिया का विलास करने वाले किन्तु धर्म के ढोंग करने वाले लोग आकर्षित न कर सके। जैसे सीता का मन राम को छोड़कर रावण की तरफ नहीं जाता था, उसी प्रकार महावीर के भक्तों का मन पाखंडियों की तरफ नहीं जाता था। वह निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर श्रद्धा रखते थे। इसी प्रकार मित्रो! तुम्हें जिस धर्म पर विश्वास है-श्रद्धा है, उस धर्म से

कभी मत डिगो। निःकांक्ष बनो। किसी प्रकार की महिमा की इच्छा मत करो। चमत्कार देखकर भूल न जाओ।

अब 'निव्वितिगिच्छे' विशेषण आता है। जिसके चित्त में अस्थिरता न हो वह 'निर्विचिकित्स' कहलाता है। वस्तु पर अविश्वास होने से पूरा फल नहीं मिलता। मन में ऐसा अविश्वास मत लाओ कि हमने इतना धर्म किया, इतना जप-तप किया, अभी तक हमारे दिन नहीं फिरे या अमुक काम अब तक सिद्ध नहीं हुआ। ऐसा मत सोचो कि अभी तक मेरे मन की मुराद पूरी नहीं हुई तो धर्मक्रिया का फल होता है या नहीं! विश्वास रक्खो! विश्वास से-अखण्ड श्रद्धा से कार्य में सफलता मिलती है। अविश्वासी को फल इसलिए नहीं मिलता, क्योंकि उसका चित्त डाँवाडोल रहता है। उसके चित्त की अस्थिर अवस्था ही उसकी सफलता में बाधा है। इस सम्बन्ध में एक शास्त्रीय उदाहरण लीजिये:—

दो लड़के जंगल में गये। वहाँ से मोरनी के दो अंडे उठा लाये। अंडे मुर्गी के पास रख दिये। मुर्गी उन अंडों को अपने पंखों के नीचे रखती और सेती थी। एक लड़के को विश्वास था कि मोरनी के अंडे से बच्चा जरूर निकलता है। पर दूसरे लड़के में विश्वास की कमी थी। उसका चित्त अस्थिर था। उसे शंका होती—न जाने इस अंडे में से बच्चा निकलेगा या नहीं? वह अंडे को कभी ऊँचा करता, कभी नीचा करता। कभी हिलाता और देखता कि इसमें बच्चा है या नहीं? दूसरा लड़का अपने विश्वास के कारण निश्चिन्त था। वह जानता था कि मयूरी के अंडे में से बच्चा तो निकलेगा ही, मगर निकलेगा योग्य समय पर ही!

अस्थिर-चित्त लड़के के अंडे में जो रस था, वह हिलाने डुलाने के कारण जम न सका और पतला पड़ गया। उसने एक दिन ज्यों ही अंडा देखने के लिए उठाया, वह फूट गया। दूसरे लड़के का अंडा समय आने पर मुर्गी ने फोड़ा। भीतर मयूर का बच्चा निकला। बड़ा होने पर उसे नृत्यकला सिखलाई गई।

एक दिन कहीं कोई जलसा था। वह लड़का अपने मयूर को वहाँ लेगया। मनुष्य को स्वभावतः पक्षियों से प्रेम होता है, फिर मयूर जैसे पक्षी पर किसे प्रेम न होगा ? उस मयूर को देखकर सब लोग प्रसन्न हुए, पर जब उसने अपनी नृत्य-कला दिखलाई तो सबके मुँह से 'वाह-वाह' 'शाबास' की ध्वनि निकलने लगी। सबने पालने वाले की सराहना की।

एक लड़के को अपने ही कर्त्तव्य से दुःखी होना पड़ा, क्यों-कि उसमें चंचलता अधिक थी। उसे मयूरी के अंडे से मयूर पैदा होने का विश्वास नहीं था। दूसरा अपने दृढ़ विश्वास के कारण सुखी हुआ। उसकी श्रद्धा अटल थी। वह जानता था कि मोरनी के अंडे से जरूर मोर पैदा होगा।

मित्रो ! निर्ग्रन्थ प्रवचन पर दृढ़ विश्वास रखो। यों मत कहो कि—'महाराज कांई करां, तेलो कीधो पिण आशा पूरी नहीं हुई', 'शान्तिनाथ रे नाम री माला फेरी पिण मुराद पूरी कोयनी हुई।' ऐसा कहना तुम्हारी दुर्बलता है। धर्म में तथ्य न होता तो आज भी धर्म प्रवर्त्तकों को करोड़ों मनुष्य क्यों पूजते ? मनुष्य राजपाट छोड़कर क्यों जंगल की राह लेता ? अपने विपुल वैभव को तिनके की तरह त्याग कर क्यों इधर उधर घूमता फिरता ? धर्म में कोई

तथ्य अवश्य है, इसीलिये ज्ञानी लोग इसकी ओर आकर्षित होते हैं। अगर तुम्हारी आशा पूरी नहीं होती तो यह धर्म का दोष नहीं है, तुम्हारी करनी में ही कहीं कमी है। अतएव कांक्षा पूरी न होने के कारण धर्म को मत छोड़ो। कांक्षा ही तुम्हारी मुराद पूरी नहीं होने देती। कांक्षा ही तुम्हें धर्म-श्रद्धा से डिगा देती है। अतएव जहाँ तक हो सके, कांक्षा को ही छोड़ने का प्रयत्न करो। निःकांक्ष होजाने पर तुम्हारी समस्त कांक्षाएँ पूरी होजाएँगी। एक वृद्धा स्त्री की बात कहता हूँ:—

किसी वृद्धा को धर्म से बड़ा प्रेम था। वह सदा साधु-संतों के दर्शन करने जाती और उनका धर्मोपदेश सुनती। इतना ही नहीं वह आस पास की स्त्रियों को भी साथ ले जाती। स्त्रियों में धर्म-भावना फैलाती। उन्हें सीख देती।

एक दिन उसे विचार आया—मैं इतना धर्मध्यान करती हूँ। धर्म के लिए उद्योग करती हूँ। अतएव मेरे पोता अवश्य होगा। इसके बाद पोता होने की आशा में दिन पर दिन और वर्ष पर वर्ष बीत गये परन्तु पोता नहीं हुआ। पोता न होने से उसकी धर्म-भावना मन्द पड़ने लगी। वह विचार करने लगी—'यह कौनसा धर्म है, जो मेरी अन्तःकरण की अभिलाषा भी पूरी नहीं करता। जो धर्म पोता नहीं दे सकता, वह मोक्ष क्या देगा? इस प्रकार वृद्धा की श्रद्धा घटने लगी। ठीक ही कहा है—'श्रद्धा परमदुर्लभा।' सब कुछ सरल हो सकता है, मगर श्रद्धा कायम रहना बहुत कठिन है। उस वृद्धा की श्रद्धा जोखिम में पड़ गई। धीरे धीरे उसे धर्म के प्रति इतनी अरुचि हो गई कि स्वयं साधु संतों के समीप न फटकती और जो जातीं उन्हें भी हटकती। कहती—'क्या रक्खा है दर्शन करने में!

क्यों घर के काम का नुकसान करती हो ? वहाँ कुछ स्वाद होता तो मैं ही क्यों छोड़ बैठती ?

वृद्धा जहां की थी, वहाँ अकसर साधु पहुँचा करते थे। एक पुराने साधु वहाँ गये। बहुत सी बहिनें दर्शन करने आई। मगर साधु ने वृद्धा को न देखा। वह किसी समय महिला समाज में अगुआ थी। धर्म में उसे बड़ा उत्साह था। अतएव साधुजी ने पूछा-बहिनो ! यहाँ एक धर्मशीला बाई थी। वह आज दिखाई नहीं दी। क्या कहीं गई है ?

एक स्त्री ने मुँह मटका कर उत्तर दिया—'महाराज, वह तो मिथ्यात्विनी होगई। खुद नहीं आती और दूसरों को भी आने से रोकती है।

साधु—अच्छा, यह बात है ! उससे जरा कह तो देना कि अमुक मुनि आये हैं। व्याख्यान सुनना। अगर इच्छा न हो तो भी जैसे मिलने वालों से मिल जाते हैं, उसी प्रकार समझकर व्याख्यान सुनना !

यह समाचार वृद्धा के पास पहुँच गये। वह कहने लगी—मैंने बहुत दर्शन किये। कई व्याख्यान सुने। कोई मुराद पूरी नहीं हुई। अब वहाँ जाकर क्या करूँगी ?

साधु प्राणीमात्र का भला चाहते हैं। उन्हें किसी पर क्रोध नहीं होता। उन्होंने वृद्धा को सन्मार्ग पर लाने के उद्देश्य से एक बार फिर कहला भेजा।

वृद्धा आई। अनमनी होकर, हाथ जोड़ नीचा सिर किये गुमसुम बैठ गई।

साधुजी ने कहा—बहिन, आजकल तुम धर्मध्यान नहीं करतीं। पहले तो बहुत धर्मक्रिया किया करती थीं! क्या कारण है?

लम्बी सांस लेकर वृद्धा बोली—क्या कहूँ महाराज!

साधु—नहीं, नहीं बहिन, कुछ कहो। बात क्या है? क्यों श्रद्धा हट गई?

वृद्धा—पूछकर क्या करोगे महाराज!

साधु—बन सकेगा तो कुछ उपाय करेंगे।

वृद्धा उत्सुक होकर—आप सुनना ही चाहते हैं?

साधु—हाँ, बहिन!

वृद्धा—तो सुनिये। मेरा एक लड़का है। आप जानते ही हैं कि मैं पहले कैसा धर्म करती थी और कैसी सेवा बजाती थी। मैं समझती थी कि धर्म प्रताप से मेरे पोता होगा। आशा ही आशा में कई वर्ष व्यतीत हो गये, किन्तु पोता न हुआ। धर्म तो वह जो आशा पूरी करे। बहुत धर्म करने पर भी आशा निराशा में पलट गई। पोते का मुँह देखने को न मिला। इस कारण धर्म से आस्था घट गई।

साधुजी ने समवेदना दिखलाते हुए कहा—बहिन, सच कहती हो। जो धर्म आशा पूरी न करे वह कैसा धर्म!

अपने पक्ष का समर्थन होते देखकर वृद्धा कहने लगी—महाराज, आप सच फरमाते हैं। झूठ कहती होऊँ तो आप बताइए।

साधु—नहीं बहिन, तुम झूठ नहीं कहती। अच्छा एक बात तुमसे पूछता हूँ। धर्म ने पोता नहीं दिया, यह मैंने माना, मगर बहिन, संसार सम्बन्धी ऐसी कुछ बाधाएँ भी तो होती हैं कि धर्म भी बेचारा क्या करे? अगर अकेला धर्म ही पोता दे देता तो तुम घर में बहू आने से पहले ही माँगती। पर ऐसा नहीं होता। संसार सम्बन्धी भी कुछ कारण मिलते हैं। तब पोता होता है।

वृद्धा सिर हिलाकर बोली—सच बात है।

साधु फिर कहने लगे—मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि इसमें कोई सांसारिक बाधा ही कारण होगी।

वृद्धा—नहीं महाराज, सांसारिक बाधा कुछ भी नहीं है।

साधु—बहिन, हो सकता है कि तुम्हें मालूम ही न हो। मान लो, पति-पत्नि में मेल-मिलाप ही न हो तो?

वृद्धा—नहीं महाराज, दोनों में इतना प्रेम है, जितना सीता और राम में था।

साधु—सम्भव है, बहू रोगिणी हो! रोगिणी के बच्चा नहीं भी होता।

वृद्धा—अजी, उसके तो नख में भी रोग नहीं है। वह खूब भली चंगी है।

साधु—तुम्हारे लड़के में कोई त्रुटि नहीं हो सकती ?

वृद्धा—यह भी नहीं है। ऐसा होता तो संतोष कर लेती कि जब लड़के में ही कमी है तो पोता कैसे हो ? पर वह तो बलिष्ठ और सुन्दर है। देखती हूँ, कई लड़के खाट पर पड़े रहते हैं, पर मेरा लड़का ऐसा नहीं है। वह पहाड़-सा बलवान है।

साधु—इसके अतिरिक्त एक बात और हो सकती है।

वृद्धा—वह क्या ?

साधु—सब कुछ ठीक हो, पर यदि तुम्हारा लड़का परदेश चला जाता हो और बहू तुम्हारे पास ही रहती हो तो पोता कैसे हो। एक बात और भी है। सम्भव है, पति-पत्नी साथ ही रहते हों किन्तु मनुष्य को धन की चिन्ता बहुत बुरी होती है। इस चिन्ता से तुम्हारा लड़का घुलता हो तो भी पोता न होना सम्भव है।

वृद्धा व्यंग की हँसी हँसकर बोली—मैं ऐसी भोली नहीं हूँ। काले केश पक गये हैं। ऐसा होता तो समझ जाती, मगर यह सब कुछ नहीं है।

साधु—एक बात पूछना फिर भूल गया।

वृद्धा—वह भी पूछ लीजिये।

साधु—जो माता-पिता की सेवा नहीं करते, उनके भी प्रायः पुत्र नहीं होता।

वृद्धा—महाराज, मेरा लड़का और मेरी बहू—मिलक
मेरी इतनी सेवा करते हैं कि शायद ही किसी को नसीब होती है
सब बातें आपने पूछ लीं। अब बताइये, किसका दोष है?

साधु—यह तो धर्म का ही दोष है?

वृद्धा जरा तेज स्वर में—मैं पहले ही कहती थी कि यह ध
का ही दोष है। इसी कारण मैंने धर्म छोड़ दिया। स्त्रियाँ मु
मिथ्यात्विनी कहती हैं। कहती रहें, मेरा क्या बिगड़ता है? स
बात तो कहनी ही पड़ेगी।

साधु—मैं समझ गया बहिन, यह दोष धर्म का ही
धर्म से जाकर अर्ज करनी पड़ेगी कि बहुत से लोग बेचारे बूढ़े हो
मर जाते हैं, पर बेटे का मुँह नहीं देख पाते। तुमने उस वृद्धा
लड़का देकर और दुखी कर दिया। नहीं तो वह धर्मध्यान कर
अब पोते के बिना उसे चैन नहीं पड़ती। उसे रात दिन चि
रहती है।

वृद्धा चौंक कर बोली—ऐं महाराज! यह क्या कहते है

साधु—सच ही तो कह रहा हूँ।

वृद्धा—नहीं महाराज! यह तो धर्म का ही प्रताप
अच्छा पुण्य किया तो बेटा मिला है।

साधु—कई लोग विवाह के लिए भटकते-फिरते हैं। तु
लड़के का विवाह जल्दी हो गया, यह बुरा हुआ?

वृद्धा—नहीं अन्नदाता, यह तो धर्म का ही प्रताप है।

साधु—लोग पैसे-पैसे को मोहताज रहते हैं। तुम्हें पैसा देकर धर्म ने बुरा किया ?

वृद्धा—हुजूर, यह क्या फरमाते हैं ! यह भी धर्म का ही प्रताप है।

साधु—यह क्या ? सभी बातों में धर्म ही धर्म का प्रताप बतलाती हो !

वृद्धा—सच बात कहनी ही चाहिए न ?

साधु—अच्छा तो पति-पत्नी की जोड़ी स्वस्थ मिली, यह बुरा हुआ। नहीं तो संतोष मानकर धर्म तो करतीं !

वृद्धा—यह भी धर्म का प्रताप है।

साधु—पति-पत्नी अविनीत—माता-पिता से झगड़ने वाले मिलते तो ठीक था।

वृद्धा—जिसने खोटे कर्म किये हों, उसी को ऐसे लड़का-बहू मिलते हैं। आपकी कृपा से कुछ पुण्य-धर्म किया, उसी का यह प्रताप है।

साधु—तुम सभी बातें धर्म के प्रताप से कहती हो ! ऐसा है तो जो धर्म सभी कुछ दे, सिर्फ एक पोता न दे, उस पर इतनी नाराजी क्यों ?

वृद्धा हाथ जोड़कर बोली—क्षमा कीजिये महाराज ! मुझसे भूल हुई। मैंने धर्म का उपकार न माना। मैं बड़ी कृतघ्नी और पापिनी हूँ। अब मैं समझ गई, मेरा मोह दूर हो गया। आपने मुझ पर असीम दया की, ठीक रास्ता दिखला दिया। अब मैं फिर यथा शक्ति धर्म की सेवा करूँगी।

आपने यह दृष्टान्त सुना। ऐसे विचार वाले भाई—बहिन आप में कम नहीं होंगे। अपनी आशा पूरी होते न देख कह उठते हैं—वाह ! धर्म ने इतना भी न किया !

इस प्रकार की तुच्छ भावना से धर्म की दुर्दशा नहीं आपकी ही दुर्दशा होती है। तुम सच्चे धर्मात्मा बनो, तुम्हारी मुराद तो क्या, त्रिलोकी तुम्हारे चरणों में लोटने लगेगी।

बातें बनाने से धर्म नहीं होता। धर्म को पालने वाली सीता और द्रौपदी थी, जो पति के पीछे पीछे—धर्म के पीछे पीछे—वनों में भटकती फिरी। क्या किसी वेश्या ने जंगल में भटकना मंजूर किया ? नहीं।

धर्म में कांक्षा का भाव नहीं होना चाहिये। निस्पृह होकर धर्म करना चाहिए। जिस चीज से ज्यादा मोह किया जाता है, वह दूर भागती है, जिसकी ओर से निस्पृह बन जाओगे वह तुम्हारे पैरों पर लोटेगी। वह वृद्धा स्त्री जब 'पोता-पोता' करती थी, तब पोता नहीं हुआ। जब उसने उत्सुकता छोड़ दी तो झट पोता भी हो गया। इसलिए कहता हूँ—विश्वास रक्खो। चंचल-चित्त मत बनो। अन्यथा जैसे मोरनी के अंडे से कुछ नहीं निकला, वैसा ही

फल निकलेगा। हाँ, अगर धर्म पर विश्वास रक्खोगे—श्रद्धाशील रहोगे, चित्त को चंचल नहीं होने दोगे तो जैसे मयूरी के दूसरे अंडे से मयूर का बच्चा निकला था, उसी प्रकार तुम्हें अभीष्ट फल की प्राप्ति होगी। सम्यग्दृष्टि बनो। सम्यग्दृष्टि की भावना को देवता पूजते हैं।

आगम-शास्त्र सुणी छे एहवी।
जे जिन-सेवक होय हो सोभागी, तेनी आशा पूरे देवता।
चौसठ इन्द्रादि के सोय हो सोभागी।
श्री शान्ति जिनेश्वर साहिब सोलवाँ।
शान्तिदायक तुम नाम हो सोभागी।
तन-मन-वचन शुद्ध करी ध्यावता, पूरे सगली आश हो।

मित्रो! धर्म पर तन, मन, धन वार दो। विश्वास रक्खो। जिस काम के लिए मन-देवता मना करे वह काम मत करो। तुम पत्थर के भैरोंजी को पूजते फिरते हो, पर तुम्हारी मुराद पूरी करने वाले मन--देवता से उदासीन रहते हो, यह तुम्हारी कितनी अज्ञानता है?

अर्हन्त परमात्मा पर विश्वास लाओ। यही परमेश्वर, यही परमात्मा, यही खुदा, यही गॉड (God) यही सब कुछ है। इसकी माया अजब है। एक खुदापरस्त क्या कहता है, सुनिये—

खुदा की हिकमत को कौन जाने, खुदा की बातें खुदा ही जाने।
सभी अजीज यहाँ सयाने, खुदा की बातें खुदा ही जाने॥

हरेक मनुष्य अपने आपको बड़ा बुद्धिमान् समझता है। मूर्ख होना कोई स्वीकार नहीं करता। पर खुदापरस्त कहता है—खुदा की बात खुद ही जानता है—और कोई भी नहीं।

सम्यग्दृष्टि बनो। धर्म पर विश्वास रक्खो। आडम्बर करके धर्म मत करो। धर्म के नाम पर दूसरों को धोखा मत दो। अज्ञानी मनुष्य कदाचित् तुम्हारी बात न जान पावे, मगर सर्वज्ञ प्रभु सब देख रहा है। तुम लाख प्रयत्न करने पर भी उससे कुछ छिपा नहीं सकते। अगर सच्चे हृदय से श्रद्धायुक्त होकर धर्म करोगे तो सब अमंगल दूर होगा और मंगल ही मंगल प्राप्त होगा।

दुनिया में कुछ मनुष्य धर्म-प्रकृति का अनुसरण वाले और कुछ अधर्म यानी पाप-प्रकृति का अनुसरण करने वाले हैं। संसार एक रंगभूमि है। इसमें जुदी-जुदी प्रकृति के जीव, पात्र के रूप में जुदा-जुदा खेल करते हैं। ज्ञानी तटस्थ-भाव से इस नाट्यभूमि का दृश्य देखता है। वह किसी दृश्य पर या पात्र पर राग नहीं करता और न द्वेष ही करता है। वह उससे उचित शिक्षा लेता है।

प्रायः मनुष्य दूसरे की भलाई-बुराई को चट पहचान लेता है, मगर प्रयत्न करके भी वह अपने गुण-अवगुण को नहीं देख पाता। जब दूसरे लोग उसकी टीका करने लगते हैं, तब उसे होश आता है। जो मनुष्य अपनी टीका सुनकर आत्म-निरीक्षण करता है और अपने अवगुणों को सुधार लेता है, वही बुद्धिमान् गिना जाना चाहिए। वास्तव में अपने आपको सुधारने का कार्य बहुत महत्वपूर्ण है। जगत् को सुधारने की अभिलाषा रखने वाला पहले आत्मसुधार करे, तभी वह अपना मनोरथ पूरा कर सकता है।

सुबाहुकुमार ने यही किया। राजपुत्र होते हुए भी वह भोग विलास में नहीं फँसा। उसने वीर पुरुष की तरह ज्ञानादि आत्मिक गुण प्रकट किये और वह सच्चा श्रावक बन गया। यह बतलाया जा चुका है कि उसे निर्ग्रन्थप्रवचन में शंका न रही।

निर्ग्रन्थप्रवचन पर शंका उसी को हो सकती है, जिसमें कुछ समझने की ताकत है। जिसमें जरा भी समझने की शक्ति नहीं उसे शंका किस पर होगी? पहले वस्तु-तत्त्व को समझने का प्रयत्न करो। उसमें शंका हो तो उसे ज्ञानियों के समक्ष प्रस्तुत करके निवारण कर लो। ऐसा करने से तत्त्व पर निःशंक श्रद्धा उत्पन्न हो जायगी। सुबाहु को ज्ञान हो गया था। उसने अपनी शंकाओं का निवारण कर लिया था। अतएव वह 'लद्धट्ठ' (लब्धार्थ) हो गया था।

जिस मनुष्य ने सन्देह होने पर मन का पूरा समाधान करके धर्म स्वीकार किया है, उसकी श्रद्धा इतनी दृढ़ हो जाती है कि कोई तलवार का डर दिखला करके उससे धर्म को त्याग देने के लिए कहे, तो भी वह धर्म से विचलित नहीं होता। सुबाहु में ऐसी ही श्रद्धा आ गई थी।

बुद्धि का फल क्या है? आप बुद्धि का फल मानते हैं— पैसा कमा लेना, इज्जत पा लेना, दुनियादारी के काम करके कुछ लोगों पर अपनी छाप लगा देना। जो लोग अपनी बुद्धि को अर्थ (धन) उपार्जन करने में लगाते हैं, उन्हें प्रत्यक्ष फल नजर आता है, मगर परमार्थ में बुद्धि का उपयोग करने वाले को क्या फल मिलता है, यह लोगों की समझ में नहीं आता। ठीक ही है, चमड़े की

आँखों से परमार्थ नहीं देखा जा सकता। उसे देखने के लिए हृदय के नेत्र चाहिए। विचार कीजिए, श्रेष्ठ रत्न पैदा करने वाले दुनिया में कितने हैं? बहुत थोड़े। कोहेनूर हीरा, जो दुनिया में एक बहुमूल्य हीरा गिना जाता है, कृष्णा नदी के तीर पर पड़ा हुआ एक किसान को मिला था। किसान से वह हिन्दू राजा के पास पहुँचा। फिर यवन बादशाह के हाथ लगा और अब इंग्लैण्ड के बादशाह के पास है। ऐसा हीरा प्राप्त करने वाला क्या बुद्धिमान् नहीं है? है और बड़ा बुद्धिमान है। वह दुनिया के हिसाब से बड़ा बुद्धिमान् गिना जायगा, पर ज्ञानी की दृष्टि में परमार्थ करने वाला सब से बड़ा बुद्धिमान् माना जाता है। कोहेनूर या उससे भी बढ़कर रत्न चिन्तामणि अथवा पारसमणि कितने समय तक मनुष्य का साथ देगा? पारसमणि लोहे को सोना बनाती है परन्तु क्या मनुष्य को शुद्ध (सोना) बना सकती है? क्या वह हमारे दुःखों को दूर कर सकती है? क्या उससे हमारे सफेद केश काले हो सकते हैं? उसके द्वारा हम गये यौवन को प्राप्त कर सकते हैं? जन्म-जरा-मरण की व्यथाओं से मुक्ति पा सकते हैं? उससे ऐसा कोई भी ठोस काम नहीं हो सकता। बल्कि मृत्यु के समय वह और अधिक दुःख का कारण होती है।

इसी कारण ज्ञानी पुरुष इनमें विश्वास न करने की सलाह देते हैं। हम लोग अज्ञान के कारण नित्य वस्तु की उपेक्षा करके अनित्य को पाने की चेष्टा में लगे रहते हैं। हम ध्रुव को छोड़कर अध्रुव की ओर ही झुके रहते हैं। मगर ध्रुव को प्राप्त करना ही परमार्थ है। संसार में फँसा हुआ मनुष्य कहता है—त्यागियों ने

सुख को छोड़ दिया है। मगर उन्होंने छोड़ क्या दिया, वे स्वयं छूट गये हैं।

मानव-जीवन की सार्थकता स्थायी-तत्त्व प्राप्त करने में है। इसके लिए यह विचार करना आवश्यक है कि वस्तुतः मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाऊँगा? आप कह सकते हैं—क्या पता कहाँ से आये और कहाँ जाएँगे? ठीक है। जैसे शराब के नशे में चूर आदमी को कहीं उठाकर बैठा दीजिये। जब वह होश में आवे तब उससे पूछिये---तुम कहाँ थे और यहाँ कैसे आ गये? तब वह क्या उत्तर देगा? वह कुछ भी नहीं बता सकेगा। इसी प्रकार मनुष्य अज्ञान मोह के नशे में चूर है। उसे क्या पता कि वह कहाँ से आया और कहाँ जायगा? जब किसी सच्चे ज्ञानी के चरणों में बैठकर वह ज्ञान प्राप्त करेगा तब उसे होश आयेगा। तभी उसके भीतरी नेत्र खुलेंगे।

जो पूर्वजन्म में विश्वास नहीं रखता, उसे तुरन्त के बच्चे को देखकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। बारीकी से देखने पर मालूम होगा कि वह बच्चा हमें पूर्व-जन्म का कैसा अच्छा प्रमाण देता है। बहिनें यह बात खूब समझ सकती हैं, क्योंकि उन्हें मातृत्व का सौभाग्य प्राप्त होता है। तुरन्त का बालक बाहर आते ही रोने लगता है। रोने की यह क्रिया उसे किसने सिखलाई है? क्योंकि सिखलाये बिना किसी क्रिया का होना कठिन है। बच्चे के रोने की क्रिया से मालूम होता है कि पहले जन्म में उसे रोने की आदत थी। इसी प्रकार बच्चा स्तन चूसता है। उसे स्तन चूसना किसने सिखलाया? उसमें पहले से ही भूख की संज्ञा थी। इसी कारण वह चूसने की क्रिया करता है।

बहुत से भाई समझते हैं—बालक अज्ञान होता है। वह कुछ समझता नहीं है। परन्तु उसके सामने कठोर शब्द बोलने पर वह डरता है और मधुर शब्दों से—गाने-बजाने से खुश होता है। बच्चे में क्रोध, मान, माया आदि के बीज पहले से ही विद्यमान हैं। इसी कारण उसकी प्रकृति उन बीजों के अनुसार बनती है। वृक्ष में बीज रहता है। वह जब तक वृक्ष में रहता है तब तक के समय में वृक्ष के सारे गुण प्राप्त कर लेता है। जब बीज बोया जाता है तो उसमें से वैसा ही वृक्ष, वैसे ही संस्कार लेकर निकल आता है। गेहूँ के बीज से गेहूँ का पौधा और चने के बीज से चने का पौधा उगता है। कर्म-शास्त्र प्राणी के इन संस्कारों को कार्मण शरीर कहता है। मनुष्य जैसे विचारों का संग्रह करता है, वैसा ही बन जाता है। गीता में कहा है—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः।' यह मनुष्य श्रद्धा का बना हुआ है। जो मनुष्य उच्च या नीच-जैसे विचार निरन्तर करता रहता है, वैसा ही बन जाता है।

इस कारण ज्ञानी कहते हैं—हे भव्य! जब तक श्वास चल रहा है, तब तक के अवसर में कुछ अच्छा काम करना हो तो कर ले। दम निकल जाने पर आदम (मनुष्य) बेदम हो जाता है। फिर कुछ भी नहीं हो सकता। जो ईश्वर को भजता है वह अनेक दुखों के आ पड़ने पर भी आनन्द में मस्त रहता है। जो ईश्वर को नहीं भजता वह फूलों की सेज पर पड़ा हुआ भी हाय-हाय करता है। एक मनुष्य फूलों की शय्या पर भी हाय-हाय करता है और दूसरा कांटों पर सोता हुआ भी हँसता रहता है। यह कौनसी शक्ति है जो एक को इस परिस्थिति में हँसा रही है और दूसरे को रुला रही है?

प्रह्लाद को मारने के लिये उस पर विषधर साँप छोड़ा गया। साँप फुफकार करने लगा। पर प्रह्लाद जब उठकर खड़ा हुआ तब हँसने लगा।

लोगों ने चकित होकर पूछा—क्यों रे, तुझे डर नहीं लगता?

प्रह्लाद मुस्कराता हुआ बोला—डर किस बात का?

लोग—काले और विषैले साँप का!

प्रह्लाद—मुझे तो पता ही नहीं!

उसे काला साँप कृष्ण के रूप में दिखाई देता था। सर्प उसे नजर ही नहीं आता था। आज जो मनुष्य सर्प को देखकर थर-थर काँपने लगता है, कल वह अगर ईश्वर में रमण करने लगता है तो उसे डर का भान भी नहीं होता। उसे सर्प का विष भी नहीं चढ़ता।

आप कहेंगे—यह तो पुराने जमाने की बातें हैं। इस समय तो कहीं ऐसा दिखाई नहीं देता। मगर मैं आपसे पूछता हूँ—आप सर्प से क्यों डरते हैं?

श्रावक—सर्प काटता है।

'कौन काटता है?'

'साँप।'

'अगर साँप काटता है तो चित्र में लिखा साँप क्यों नहीं काटता?'

'वह निर्जीव है।'

'ठीक है, पर कई सँपेरों के गले में साँप देखे जाते हैं। वे उन्हें नहीं काटते। इसका क्या कारण है ?'

'वे लोग मन्त्र जानते हैं।'

'अच्छा, जब किसी आदमी को साँप काट खाता है. तब सँपेरा उसे पानी पिलाता है। पानी पीने से मनुष्य का जहर उतर जाता है। इसका क्या कारण है ?'

'वह पानी मंत्रित होता है।'

'कैसे मंत्रित किया उसे ?'

'मंत्र बोलकर पानी में फूँक मारी।'

'फूँक मारने से क्या हो गया ?'

'मंत्र पानी में आ गया।'

'अगर वह पानी सादे पानी की तरह साँप के डँसे को कोरा सादा पानी कहकर पिलाओगे तो जहर उतर जायगा ?'

'नहीं।'

'क्यों ?'

'श्रद्धा के बिना नहीं उतरता।'

आप समझ गये। श्रद्धा के बिना नहीं उतरता, यह बात दूसरे शब्दों में इस प्रकार कही जा सकती है कि श्रद्धा ही मन्त्र है। श्रद्धा ही जहर उतारती है। तो ईश्वर पर अटल श्रद्धा रखने से क्या आत्मा का जहर—काम-क्रोध आदि—नहीं उतरेगा? क्या उससे ईश्वर के साथ भेंट न होगी? अवश्य होगी।

जो मनुष्य ईश्वरमय हो जाता है, वह किसी से भय नहीं खाता। कामदेव श्रावक के चरित पर विचार करो। कामदेव श्रावक के टुकड़े-टुकड़े किये गये, उसे साँपों से कटवाया गया, हाथी से कुचलवाया गया, पर उसका बाल भी बांका न हुआ। इसका क्या कारण है? प्रबल भावना। ईश्वर में पक्का विश्वास! ईश्वर का स्मरण करने से—उसमें तल्लीन हो जाने से पाप रूपी समस्त विष झड़ जाता है।

साँप क्रोध आने पर ही काटता है। बिना क्रोध आये नहीं काटता। कई बार पास से साँप शान्तिपूर्वक निकल जाता है। साँप को क्रोध आया और काटा और तुम्हें क्रोध आया नहीं कि जहर चढ़ा नहीं। अगर तुम्हें क्रोध न आएगा तो जहर भी नहीं चढ़ेगा।

भगवान् महावीर को चंडकौशिक साँप ने काटा, मगर उन्हें विष क्यों नहीं चढ़ा? इसी कारण कि भगवान् में क्रोध नहीं था। जिसमें क्रोध होता है, उसे जहर चढ़ता है। अर्थात् क्रोध से क्रोध मिलने पर ज़हर का पावर (शक्ति) बढ़ जाता है। लकड़ी पर खड़े होकर स्पर्श करने से बिजली हानि नहीं पहुँचाती। अगर आप जमीन पर खड़े हों तो? हानि पहुँचाती है। इसीलिये कि जमीन की

बिजली, तुम्हारी बिजली और वह बिजली मिल गई। तीनों के सम्मिलन से बिजली की शक्ति बढ़ गई। अतएव वह हानिकारक बन गई। जब आपके पैरों के नीचे लकड़ी होती है तब पृथ्वी की बिजली पृथक् हो जाती है या बिजली की शक्ति कम हो जाती है। पच्चीस आदमी एक कतार में, एक दूसरे से हाथ मिलाकर बैठ जावें। फिर एक-एक आदमी बिजली का स्पर्श करे तो क्या होगा? सब में बिजली दौड़ जायगी और यदि बीच में मुर्दा लाकर, उसके हाथ से हाथ मिलाकर पहला आदमी बिजली छुए तो मुर्दा को लांघकर बिजली असर नहीं कर सकती। इसका कारण यही है कि मुर्दे में स्वयं की बिजली नहीं है। अतएव उसमें बिजली का बल नहीं बढ़ सकता और वह बीच ही में रुक जाती है। यही बात जहर के सम्बन्ध में है। सर्प के जहर ने आपके शरीर में प्रवेश किया। दूसरा जहर आपका आपके शरीर में विद्यमान है। दोनों के मिलने से जहर की शक्ति बढ़ जाती है और वह आपको मारने वाला हो जाता है। साँप के काटने पर आपको तनिक भी क्रोध न आवेगा तो जहर नहीं चढ़ेगा।

बिहार प्रान्त में एक आदमी घास का छप्पर बाँध रहा था। एक सर्प छप्पर में बँध गया और उसने उस आदमी को काट खाया। आदमी को खबर न हुई। उसने समझा—कोई काँटा चुभ गया है। अगले साल जब वह आदमी छप्पर खोलकर नये सिर से बाँधने लगा तो उसे मरा सर्प दिखाई दिया। उसे गत वर्ष की घटना याद आ गई। सोचा—अरे! जिसे मैंने काँटा समझा था, वह काँटा नहीं, साँप था। क्रोध आते ही जहर ने असर किया और वह आदमी मर गया। सोचिये, इतने दिनों तक जहर कहाँ छिपा बैठा

था ? वास्तव में उसकी भावना के कारण ही उसे जहर चढ़ा। भावना का बड़ा चमत्कार है। भावना के बल से संसार के न मालूम कितने खेल हो रहे हैं। जो बारीक नजर से देखता है, वही उन खेलों की वास्तविकता समझ पाता है।

चलते-फिरते उठते--बैठते, ईश्वर की भावना रखने से ईश्वरत्व की प्राप्ति होती है। वास्तव में ईश्वर का नाम पावन है—पवित्र करने वाला है। ईश्वर-भक्त का अपमान करने वाला ईश्वर का अपमान करता है। जो मनुष्य ईश्वर-भक्त है, वह चाहे कैसा ही मनुष्य क्यों न हो—किसी भी जाति या किसी भी कुल में क्यों न पैदा हुआ हो, उसे उच्च समझना चाहिये। सुदर्शन सेठ ने अर्जुन माली से घृणा की थी ? नहीं। फिर तुम गरीबों से घृणा क्यों करते हो ? एक भाई ने, जिसे तुम नीच समझते हो, मुझ से कहा—'महाराज ! अठारह वर्ष हुए, मैं गंगाजी गया था। तब से मैं मांस और मदिरा काम में नहीं लेता और परायी स्त्री को तो माता के समान समझता हूँ।' मित्रो ! मैं इसे नीच कैसे कहूँ ? पतित से पतित समझी जाने वाली जाति का चरित्रवान पुरुष, चरित्रहीन सेठ से अच्छा है। आप चरित्रवान् बनकर ही उच्चता प्राप्त कर सकते हैं। उच्चता प्राप्त करने से आपका गृहस्थाश्रम भी देदीप्यमान हो उठेगा। चरित्र ही उच्चता की कसौटी है। चरित्र ही जीवन का सर्वोत्तम सार है। चरित्र ही जीवन रूपी पुष्प का सौरभ है।

सुबाहुकुमार राजा का पुत्र था। उसकी प्रकृति सुन्दर और सौम्य थी। उसने अपने उज्ज्वल चरित्र के द्वारा अपना गृहस्थाश्रम आदर्श बनाया।

आज के राजा ऐश-आराम में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। विलास और आमोद-प्रमोद ही उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य है। मोटरों में बैठकर सैर करना और मजे उड़ाना ही उनकी साधना है। बेचारा धर्म उनके नजदीक फटक नहीं सकता। वे उसे अर्धचन्द्र देने के लिए तैयार रहते हैं। फुर्सत के समय साधु-सन्तों की निन्दा करने और उनका उपहास करने से नहीं चूकते। परन्तु इन्हीं के क्षात्र वंश में उत्पन्न हुआ सुबाहुकुमार इनसे एकदम विपरीत था। उसने अपने आत्मा में ऐसे भाव भरे कि वह आदर्श पुरुष माना जाने लगा।

सुबाहुकुमार 'लद्धट्ठ' हो गया, यह कहा चुका है। अर्थात् उसने निर्ग्रन्थप्रवचन का अर्थ समझ लिया। कोई भी वस्तु प्राप्त हो जाने पर भी उपयोग में लिए बिना लाभदायक नहीं होती। आपको रास्ते में बहुत सा धन मिला। मगर जब तक आप उठाकर उसे काम में न लेंगे, तब तक उससे कोई लाभ न होगा।

सन्त महात्मा किसी की आज्ञा से या किसी के दबाव से नहीं बोलते। वसन्त ऋतु आई देख कोकिल अपने आप ही सुघड़ राग की तान छेड़ने लगती है। उसी प्रकार सन्त महात्मा भी योग्य समय देखकर उपदेश की मधुर वाणी सुनाने लगते हैं। कोकिल की मधुर तान, प्रत्येक मनुष्य निःशंक भाव से सुन सकता है, उसी प्रकार सन्त महात्मा की वाणी से भी निःसंकोच-भाव से मनुष्यमात्र लाभ उठा सकता है। सन्तों की वाणी अमूल्य रत्न है, महानिधान है। जिसकी इच्छा हो, उसे प्राप्त कर सकता है। इसे 'लद्धट्ठ' समझ लीजिये। आप मोतियों को या दूसरे रत्नों को सोने

के तार में गूंथ कर गले का हार बनाते हैं। इसी प्रकार जब आप शास्त्र-रूपी रत्न और सन्तों की वाणी-रूप मोतियों को प्रेम के तार में पिरोकर हृदय में धारण करेंगे तो आपकी महिमा अनन्तगुणी बढ़ जायगी। आपको इससे अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा।

'लद्धट्ठे' के बाद मूलपाठ में 'पुच्छियट्ठे' पद आता है। जिसने अर्थ को पूछ लिया हो वह 'पुच्छियट्ठे' कहलाता है। अर्थ को ज्ञाता से पूछ लेने पर असंदिग्धता और रुचिकरता आ जाती है। मान लीजिए, पिता ने पुत्र को रत्नों का हार पहनाया। पुत्र बाद में पूछता है—पिताजी, इस हार की क्या कीमत है? इस हार में कहीं हीरे लगे हैं और कहीं पन्ने लगे हैं। इन दोनों में क्या अंतर है? हीरे की कीमत ज्यादा क्यों लगती है? नकली और असली हीरे में क्या भेद है? वह कैसे पहचाना जाता है? आदि। जो लड़का इस प्रकार अपने हार का हाल पूछता है, वह गले का श्रृंगार करके तो खुश होता ही है, साथ ही हार की कीमत, उसकी परीक्षा उसका भेद समझकर जौहरी होने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। पस हार के प्रति उसका विशेष आकर्षण हो जाता है। वह किसी के धोखे में नहीं आ सकता। यह बात व्यवहार में है, वैसे धर्म में भी है। धर्म को भलीभाँति समझ लेने से मनुष्य पाप रूपी खोटी वस्तु से ठगा नहीं सकता।

आप लोगों में पूछने की प्रवृत्ति बहुत कम पाई जाती है। हाँ, व्यावहारिक बातें तो आप आपस में पूछते हैं, जैसे आपकी दुकान कहाँ है? आप क्या व्यापार करते हैं! आदि-आदि। इसी प्रकार बहिनें आपस में पूछ-ताछ करती हैं—यह बँगड़ियाँ कहाँ से

बनकर आई हैं ? यह गोखरू कहाँ बनवाया ? यह बोर बड़ा सुन्दर है। इसमें कितना खर्च हुआ ? इत्यादि। इस प्रकार की बातें तो आप में होती हैं, मगर पाप पुण्य कैसे होता है ? कौन से कार्य से पुण्य उपार्जन किया जा सकता है ? अमुक कार्य करने में पुण्य होता है या पाप ? इस प्रकार की धार्मिक बातें करने का अवसर ही शायद आपको नहीं मिलता।

वीर क्षत्रिय राजा लोग, जिन्हें राज-कार्य से फुर्सत मिलना कठिन था, समय निकालकर धर्म-चर्चा करते थे। आप इसके लिये समय नहीं निकाल सकते, यह कैसी अनोखी बात है! धर्म-चर्चा करने से आपकी कुछ भी हानि नहीं होगी, सांसारिक कार्यों में बाधा नहीं पड़ेगी, बल्कि आपका संसार स्वर्ग बन जायगा। घर-घर में सीता और राम मिलने लगेंगे।

मित्रो ! व्यवहार के काम तो सदैव चलते रहते हैं, जरा धर्म-चर्चा भी किया करो। मैं यह नहीं कहता कि आप जैन के साथ ही धर्मचर्चा करो या जैन-साधु से ही करो। मेरा मतलब यह है कि आप प्रत्येक धर्म के अनुयायी के साथ धर्म-चर्चा करो। जो सीखने योग्य मिले सो सीखो, जो सिखाने योग्य हो वह सिखाओ। पूछ-ताछ करने पर भी समाधान न हो तो जब किसी साधु-सन्त का समागम हो तब अपनी शंका का निर्णय कर लो। निर्णय के बिना जो काम किया जाता है वह फलशून्य होता है। उससे कोई लाभ नहीं होता।

शंका का समाधान कर लेने से मनुष्य 'विणिच्छियट्ठे'—विनिश्चितार्थ—जिसे अर्थ का निश्चय हो गया है, ऐसा हो जाता है।

गीता में इस विषय में कहा है—'संशयात्मा विनश्यति'। अर्थात् जिसके आत्मा में सन्देह भरा रहता है, उसका नाश हो जाता है। आत्मा में किसी प्रकार का संशय नहीं रखना चाहिए। अगर कभी कोई संशय उत्पन्न हो तो उसे निकाल डालना चाहिये। सन्देह दूर हो जाने से आत्मा को बड़ा आनन्द आता है। आत्मा में प्रफुल्लता रहती है, निर्मलता आ जाती है, आत्मा धर्म में रंग जाता है। साफ, सफेद और मुलायम मलमल को कसुंबे के रंग में डालने से क्या होता है? वह उस रंग को चूस लेती है और स्वयं उसी रंग की बन जाती है। अगर मैले-कुचैले कपड़े को उस रंग में डाला जाय तो क्या उस पर वैसा सुन्दर रंग चढ़ेगा? नहीं।

भाइयो! पुरुष का मन रूपी कपड़ा जितना मुलायम और जितना स्वच्छ होगा, धर्म का रंग उतना ही अधिक और सुन्दरता से चढ़ेगा। जिस पुरुष का मनरूपी कपड़ा ममौता हो गया अर्थात् खराब कामों से और गन्दे विचारों से अपवित्र हो गया, उस पर धर्म का रंग वैसा नहीं चढ़ने का। सुबाहु की आत्मा स्वच्छ थी, इसलिए उसके ऊपर धर्मरूपी कसुंबे का रंग उज्ज्वलता से चढ़ गया।

जो वस्तु धर्म से रंगी हुई हो, उसी को आप ग्रहण करना। बिना धर्म की वस्तु को थोथी और निःसत्व समझकर फैंक देना।

एक समय की बात है। रामचन्द्रजी, सीता के साथ राजसभा में विराजमान थे। हनुमान उनका बड़ा भक्त था। उसने रामचन्द्रजी की सेवा निष्कामभाव से अर्थात् स्वार्थबुद्धि से रहित होकर की थी। लोगों ने उसकी उत्कृष्ट सेवा की प्रशंसा की। सीता

देवी ने प्रसन्न होकर अपने गले का हार हनुमान को इनाम में दे दिया। आप जानते हैं, हार कीमती होता है और फिर सीता जैसी महारानी के पहनने का हार! उसकी कीमत का क्या पूछना? वह अमूल्य हार था।

हनुमान उस हार को ले एक तरफ चले गये और हार में से एक-एक हीरा निकाल-निकाल कर, उसे पत्थर से फोड़कर टुकड़ों को हाथ में ले आकाश की तरफ मुँह कर आँख से देखने लगा। लोग यह दृश्य देखकर खिलखिलाकर हँसने लगे। आखिर हनुमान से पूछा गया—भाई, हार की यह दुर्दशा क्यों कर रहे हो?

हनुमान ने उत्तर दिया—'मैं हीरे फोड़-फोड़कर देख रहा हूँ कि इनमें कहीं राम हैं या नहीं? अगर हैं तो ठीक, अन्यथा मेरे लिए यह निकम्मे हैं, निस्सार हैं।' लोग यह उत्तर सुनकर चकित रह गये। सभी उसकी वाह-वाह करने लगे।

यह एक आलंकारिक वर्णन है। इसके गूढ़ रहस्य को समझने का प्रयत्न कीजिए। हनुमान ने यहाँ आत्मिक विचार किया था। उन्होंने देखना चाहा—इन हीरों में धर्मरूपी राम हैं या नहीं? जिस वस्तु में धर्म न हो वह रद्दी है। अगर हीरों में राम न हो—धर्म न हो तो वह चाहे जितने कीमती समझे जाते हों, काच के टुकड़े की बराबर हैं। यह बात जैनशास्त्र में 'संसे अणट्ठे' शब्दों द्वारा व्यक्त की गई है अर्थात् जिस वस्तु में धर्म न हो वह थोथी है—अनर्थ रूप है। जिस वस्तु में धर्म है, वह पाप से बचाती है। कल्पना कीजिए, कोई पुरुष राजा का भण्डारी है। खजाने में

करोड़ों रुपयों का माल पड़ा है। भण्डारी चाहे तो उसमें से लाखों क
गबन कर सकता है। लेकिन जो भण्डारी भण्डार की वस्तुओं क
राजा की ही समझता है, वह कभी नमकहराम या विश्वासघात
नहीं हो सकता। वह पाप की चीजों की ओर निगाह भी न करेगा
वह सोचेगा—इनमें कुछ भी मेरा नहीं है। मेरा सिर्फ वह है, ज
प्रसन्नतापूर्वक राजा मुझे दे दें। इस प्रकार चीजों में धर्म होता है

सुदर्शन सेठ को रानी ने भोग-विलास करने के लिए अपन
ओर आकर्षित करना चाहा। वह बोली—तुम मेरे साथ आनन्
करो। मैं तुम्हें राज्य दे दूँगी। मेरे साथ विलास करोगे तो मैं राज
को मरवा डालूँगी।

सुदर्शन उत्तर देता है—आप मेरी माता हैं। माता अपने
पुत्र से ऐसा नहीं कहती। मैं आपकी प्रजा हूँ। प्रजा, राजा के पुत्र
के समान है। इस सम्बन्ध से यह राज्य मेरा ही है। किन्तु राज-
सिंहासन पर आप ही सुशोभित होती हैं। पुत्र पर तो आपका प्रेम
होना ही पर्याप्त है।

सुदर्शन को आपकी ही तरह धन की आवश्यकता थी।
वह धनोपार्जन के लिए व्यापार करता था। मगर अन्याय एवं पाप
से मिलने वाले राज्य को और रानी को उसने ठोकर मार दी। यह
धर्म का प्रताप है। यह धर्म की महिमा है। कनक-कामिनी को इस
प्रकार ठोकर मार देना कोई साधारण बात नहीं है।

रानी ने सुदर्शन से कहा—तुम माँ-माँ क्या करते हो? मैं
जिस भाव से तुम्हें देख रही हूँ, उसी भाव से तुम मुझे देखो। मैं

कोई तुच्छ स्त्री नहीं हूँ। अगर तुम मुझे प्रसन्न करोगे तो मैं तुम्हारे लिए मंगलदात्री—सुखविधात्री हूँ और विपरीत करोगे तो मैं ही सिंहनी बनकर तुम्हें फाड़कर खा जाऊँगी।

पर सुदर्शन न डिगा। वह अपने धर्म पर दृढ़ रहा। धर्म-निष्ठ के लिए प्राण दे देना एक साधारण बात है।

मनुष्य-शरीर बड़ी कठिनाई से मिलता है। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि इसे व्यर्थ न गँवा दे। आपने रेलगाड़ी देखी है। इसके आविष्कार में तीन पीढ़ियाँ खत्म होगईं। एक पीढ़ी ने कुछ काम किया। दूसरी ने उसमें संशोधन और विकास किया। तीसरी ने उसे सुव्यवस्थित कर दौड़ाना आरम्भ कर दिया। अब आप बताइये कि रेल बड़ी है या इंजीनियर ?

'इंजीनियर !'

इंजीनियर क्यों बड़ा है ? इसलिए कि उसने अपनी मस्तिष्कशक्ति से रेल बनाई है। इंजीनियर के मस्तिष्क के पुर्जों को घड़ने वाली कुदरत कैसी विचित्र शक्तिशालिनी है, जिसने न जाने कहाँ २ के तत्वों को, किस प्रकार संग्रहीत करके पेशाब के स्थान से निकलने वाले दो बिन्दुओं से—वीर्य से—इस नर-देह को खड़ा कर दिया है !

आप देह रूपी एंजिन में बैठ गये। यहाँ विचारणीय यह है कि एंजिन का ड्राइवर एंजिन की सफाई करके, उसमें पानी और कोयला डालकर यों ही इधर उधर घुमाया करे तो क्या रेलवे-कम्पनी उसे धन्यवाद देगी ? नहीं ? जब तक वह एंजिन के साथ

डिब्बों को जोड़कर कम्पनी को लाभ नहीं पहुँचायगा तब तक कम्पनी उसे धन्यवाद कैसे देगी ?

अब जरा दूसरा विचार कीजिए। ड्राइवर घर जाता है। उसकी स्त्री पूछती है—'तुम किस लिए ड्राइवरी का काम करते हो?' वह उत्तर देता है तेरी आबादी के लिए—बाल-बच्चों के पोषण के लिए।' ड्राइवर ने ऐसा कह दिया, लेकिन यह आटा-दाल का प्रबन्ध न करे तो क्या स्त्री उसे धन्यवाद देगी या धिक्कारेगी ? वह धिक्कारेगी, क्योंकि उसने अपना कर्त्तव्य पालन नहीं किया।

इसी प्रकार जो मनुष्य अच्छे से अच्छा भोजन कर, सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहन देह रूपी ऐंजिन को इधर उधर व्यर्थ घुमाया करता है और सुबुद्धि रूपी स्त्री का भरण-पोषण नहीं करता उसे कोई धन्यवाद नहीं देता। वह सर्वत्र धिक्कार का पात्र बनता है।

मनुष्य बुद्धिशाली होने के कारण ही समस्त प्राणियों में उत्तम है। हाथी डील-डौल में बड़ा है, पर मनुष्य उस पर सवारी करता है। सिंह बड़ा पराक्रमी है, किन्तु मनुष्य उसे पींजरे में बन्द कर देता है। मनुष्य की शक्ति विलक्षण है। यह विलक्षण शक्ति उसकी बुद्धि की बदौलत ही है। मनुष्य अपनी बुद्धि के कारण सब के सिर पर चढ़ बैठता है। लेकिन इस सर्वोत्तम बुद्धि का अगर सदुपयोग न किया जाय तो उससे क्या विशेष लाभ हुआ ?

प्रश्न होता है—बुद्धि का सदुपयोग क्या है ? बुद्धि का सदुपयोग है उसे तत्त्व विचार में लगाना। तत्त्व दो हैं—एक नाशवान और दूसरा अविनाशी। एक दृष्टि से देखा जाय तो नाशवान वस्तु

कोई भी नहीं है। देह नाशवान माना जाता है मगर उसका भी केवल रूपान्तर होता है। जब किसी वस्तु के परमाणु बिखर जाते हैं तो मालूम होता है—उसका नाश हो गया। उदाहरण के लिए पानी को ले लीजिए। पानी जब पृथ्वी पर गिर जाता है तो हम लोग कहते हैं—पानी सूख गया, नष्ट हो गया। मगर वास्तव में वह ऑक्सिजन और हाइड्रोजन नामक गैस में परिवर्तित हो गया है। इन दोनों की मिलावट से फिर पानी तैयार हो जाता है।

इन परिवर्तनशील जड़ वस्तुओं में इतनी विलक्षण शक्ति है तो चैतन्य आत्मा में कितनी शक्ति होगी, यह अन्दाज आप ही लगा लें। वास्तव में जिस मनुष्य ने अपनी आत्मा को विकसित कर लिया—स्वच्छ और निर्मल बना लिया, वह संसार को चकित कर देता है। वह जगत् में उथलपुथल मचा देता है। लोग जड़ वस्तुओं के लिए—घर द्वार-धन आदि के लिए उद्यम करते हैं, अगर आत्मचिंतन के लिए भी कुछ उद्योग करें—सच्चिदानन्द को पहचानने का प्रयत्न करें तो आनन्द की सीमा न रहे। जो मनुष्य सच्चिदानन्द को पहचानने में अपना मन लगा देता है, उसका मन हरा भरा और प्रफुल्लित रहता है। इसका प्रमाण प्रत्यक्ष में भी मिल रहा है।

आपको शायद मालूम न हो कि मन का भी फोटो खींचा जाता है। इसका आविष्कार कैसे हुआ, यह जरा सुन लीजिये। एक अंग्रेज महिला ने मुर्गी के दो बच्चे पाले थे। उसे उन पर बड़ा प्रेम था। प्रिय वस्तु का नाश होने से मनुष्य को कितना दुःख होता है, यह प्रायः सभी जानते हैं। एक दिन बिल्ली ने दोनों बच्चे खा लिए। इससे वह महिला अत्यन्त दुखी हुई। उस समय उसे अपना फोटो उतरवाने की सूझी। फोटोग्राफर ने उसका फोटो उतार लिया।

दूसरे दिन जब फोटो धोकर तैयार की गई और वह महिला फोटो लेने आई तो फोटोग्राफर एक बार फोटो की तरफ देखने लगा और दूसरी बार उस महिला की ओर। बार-बार उसकी यह चेष्टा देख कर महिला ने कड़क कर फोटोग्राफर से कहा-महाशय यह भले आदमियों का काम नहीं कि इस प्रकार औरतों की ओर देखें। आपकी दुकान पर गरीब भी आते हैं, अमीर भी आते हैं। औरतें भी आती हैं, मर्द भी आते हैं। आपको सभ्यता रखनी चाहिये।

यह सुनकर फोटोग्राफर कुछ लज्जित-सा हुआ। उसने कहा-क्षमा कीजिये देवी ! मैंने बुरी निगाह से आपको नहीं देखा। मुझे एक बड़ी ही आश्चर्यजनक बात दिखाई दे रही है। इसी कारण मैंने आपकी तरफ देखा है।

महिला—ऐसी क्या आश्चर्यजनक बात है ?

फोटोग्राफर—महाशया, मैंने बड़ी सावधानी से आपकी तसवीर खींची थी। उस समय पास में कोई नहीं था। मगर आपकी तसवीर के साथ एक बिल्ली और दो मुर्गी के बच्चों की भी तसवीर खिंच गई है।

महिला चकित हुई। बोली—लाइए, देखें तो सही।

महिला इसका रहस्य समझ गई। उसने फोटोग्राफर से सारी घटना कही। इस घटना के आधार पर फोटोग्राफर ने मन की तसवीर उतारने की तरकीब निकाली।

तात्पर्य यह है कि मन की जैसी प्रबलतर भावना होती है, उसी प्रकार का फोटो खिंच आता है। जिस मनुष्य में क्रूरता होगी-

अमुक को मार डालूँ, अमुक का धन छीन लूँ, लूट लूँ आदि—
उसका फोटो बड़ा ही भयावना—कँपकँपी पैदा करने वाला उतरेगा
जिसके विचार निर्मल होंगे, उसका फोटो उज्ज्वल और सौम्य होगा

जैन-सिद्धान्त में छह लेश्याएँ मानी गई हैं—कृष्ण, नील
कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल। इनमें तीन लेश्याएँ शुभ और ती
अशुभ हैं। अशुभ लेश्याओं का रंग भद्दा और शुभ लेश्याओं क
उत्तम माना गया है। अशुभ लेश्याओं की बुरी गन्ध और शु
लेश्याओं की उत्तम गन्ध होती है। अच्छी लेश्याओं में बहु
बढ़िया खुशबू होती है और बुरी लेश्याओं में ऐसी घृणित दुर्गन
होती है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। सड़े कुत्ते, सड़े सर्प य
सड़े हुए गाय आदि के कलेवर में जितनी दुर्गन्ध होती है, उससे भ
कहीं ज्यादा—बहुत ज्यादा दुर्गंध अशुभ लेश्याओं में होती है। इस
कारण अशुभ लेश्याओं को त्यागने और शुभ लेश्याओं को स्था
देने का उपदेश दिया जाता है।

वैज्ञानिकों ने इस बात पर विचार किया कि फूल रंग-बिरं
क्यों होते हैं? आप शायद जानते होंगे—गुलाब के फूल काले रं
के भी होते हैं, सफेद रंग के भी होते हैं और ललाई लिए भी होते हैं
वैज्ञानिकों ने इस रंग-भेद का कारण भी बतलाया है। जो फूल सू
की किरणें ज्यादा खींचता है और उनका त्याग कम करता है व
काला होता है। जो फूल-सूर्य की किरणें कम खींचता है और अप
'पावर' बाहर ज्यादा फेंकता है वह उज्ज्वल और सुगंधित होता है

फोटोग्राफर फोटो खींचते समय कैमरे पर काला कप
डाल लेता है। इसका कारण यह है कि काला कपड़ा सूर्य व

किरणों को हजम कर जाता है। इस उपाय से फोटोग्राफर सूर्य की आवश्यकता से अधिक किरणें रोक कर फोटो उतार लेता है। यही बात आप अपने ऊपर घटा लीजिये। जो आत्मा लेता ही लेता है, देता कुछ भी नहीं है, वह आत्मा काला-मलीन-नीच बन जाता है। इसके विपरीत उत्सर्ग करने वाला आत्मा उज्ज्वल-स्वच्छ होता है। वीर क्षत्रिय अपने ऊपर किसी का उपकार नहीं रखते थे। उदयपुर के महाराणा आज भी किसी की भेंट नहीं रखते। क्षत्रिय लोग अपने ऊपर किसी का कर्ज नहीं रखना चाहते। इसीलिए वे संसार में अपना प्रखर तेज फैलाते हैं।

मित्रो ! आप लेने ही लेने में न रहिए। वापिस भी दिया कीजिए। उपकारी का बदला प्रत्युपकार से चुका देना चाहिए। देखो, प्रकृति का आपके ऊपर कितना महान् उपकार है। एलेक्ट्रिक कम्पनी का मालिक आप से खर्च लिये बिना आपके घर सूर्य लगवा दे तो आप कितना उपकार मानेंगे? तब क्या असाधारण प्रकाश देने वाले सूर्य का हमें उपकार नहीं मानना चाहिए? बिजली का प्रकाश हमें हर तरह तन्दुरुस्त रखता है, यहाँ तक कि वह जीवन के लिये अनिवार्य है। ऐसी दशा में सूर्य का हमारे ऊपर कितना उपकार है? इसी प्रकार प्रकृति की अनुपम देन-हवा हमारे ऊपर कितना उपकार कर रही है? इसी के सहारे हम जीवित हैं। क्या इसका उपकार हमें नहीं मानना चाहिए?

याद रक्खो, जो उपकारी का उपकार ग्रहण करता ही जाता है, उसका जरा भी बदला नहीं चुकाता वह नेस्तनाबूद हो जाता है। स्वार्थबुद्धि को त्यागो। स्वार्थबुद्धि तुम्हारा नाश कर देगी। परमार्थी

बनो। दूसरों का कल्याण करो। अपने ही लिये मत जीओ। अपना जीवन दूसरों के लिए बिताओ। ऐसा करके अगर कुछ खोओगे भी तो उससे अनन्तगुणा पाओगे। त्याग किये बिना प्राप्ति नहीं होती। जो मनुष्य पेट में संचित मल का त्याग नहीं करेगा, वह नवीन खुराक नहीं खा सकेगा।

अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा—आपकी आराधना किस प्रकार करनी चाहिए? हमारा कर्त्तव्य क्या होना चाहिये? इस प्रश्न के उत्तर में कृष्ण ने कहा—

> अद्वेष्टा सर्वभूतानां, मैत्रः करुण एव च।
> निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
>
> सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः॥
>
> यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
> हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
>
> अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः।
> सर्वारम्भपरित्यागी यो मे भक्तः स मे प्रियः॥
>
> यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
> शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥
>
> समः शत्रौ च मित्रे च, तथा मानापमानयोः।
> शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥
>
> तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
> अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥

—गीता, अ० १२, श्लोक १३-१९

इन श्लोकों की व्याख्या के लिए बहुत समय की आवश्यकता है। इतना समय नहीं है। इनका सारांश यह है कि—हे अर्जुन ! अगर तू मेरा भक्त होना चाहता है तो सब से पहले इन गुणों को प्राप्त कर—प्राणीमात्र पर मित्रता रखना, सब के प्रति समभाव धारण करना। सूर्य किस समान भाव से प्राणीमात्र को प्रकाश देता है ? हवा सब को समान रूप से जीवन देती है। यही बात जैनशास्त्र में कही है। 'मित्ती मे सव्वभूएसु।' अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव रक्खो।

जीव मात्र ईश्वर की मूर्ति है। किसी को नीच न समझो। सब से प्रेम करो। सब की सेवा करो। निष्पक्ष रहो। संतुष्ट रहो। दुःखों से मत घबराओ। सुख में मत फूलो। समभावी को सदा सब सुख प्रस्तुत रहता है।

ममता त्यागो। अहंकार को छोड़ो। सुख दुःख को समान समझो। क्षमावान बनो। सन्तुष्ट रहो। मन को जीतो। संकल्पशक्ति को दृढ़ बनाओ। निष्काम बुद्धि धारण करो। किसी को उद्वेग न पहुँचाओ, न किसी से उद्विग्न होओ। हर्ष, क्रोध आदि की तरंगों में मत बहो। पवित्र और विवेकशील बनो। आसक्ति छोड़ो। अनिष्ट प्रसंग उपस्थित होने पर भी चित्त को व्यथित मत होने दो। आरंभ समारंभ को तजो। द्वेष, शोक और कामना को दूर करो। शुभ-अशुभ का त्याग कर विशुद्धि की ओर बढ़ने का विचार रक्खो। शत्रु-मित्र में, मान-अपमान में सर्दी-गर्मी में, निन्दा प्रशंसा में समता धारण करो। ममत्व घटाओ। मौन रहो। सन्तुष्ट रहो। अनगार

बनने का प्रयत्न करो। बुद्धि को चंचल मत होने दो। ईश्वरभक्ति में लीन रहो। ऐसा करने से तुम्हारा कल्याण होगा।

मैं आपको सुबाहुकुमार की जो जीवनी सुना रहा हूँ, उसका सार यही है, जो ऊपर कहा गया है। आपने यह सुन लिया कि सुबाहुकुमार ने अपने जीवन को किस प्रकार उच्च बनाया, किन्तु सुनना ही पर्याप्त नहीं है। जब तक आप इसके अनुसार अमल न करेंगे तब तक कोई विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। एक आदमी को कोई रोग हुआ। उसने कोई औषध ली और उसे फायदा हो गया। अब क्या दूसरे आदमी को उसी रोग में वह लाभ नहीं पहुँचाएगी? सुबाहु ने जो कार्य किया, आप भी अगर वैसा ही करेंगे तो आप भी सुबाहु बन सकते हैं।

यह बतलाया जा चुका है कि सुबाहुकुमार ने निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर पूर्ण प्रतीति की। उसने उसका मर्म प्राप्त किया, प्रश्न पूछे और अर्थ का निर्णय किया। वह तत्वों का ज्ञाता हो गया। इसके पश्चात् शास्त्र बतलाता है कि वह अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा—इस प्रकार महीने में छः दिन पोषध व्रत पाल कर धर्म की आराधना करने लगा।

पोषध चार प्रकार से होता है—(१) आहार का त्याग कर (२) ब्रह्मचर्य का पालन कर (३) शृंगार अर्थात् शरीर का विलास छोड़ कर और (४) व्यावहारिक कार्य बन्द करके।

जिसे पोषध करना हो उसे उस दिन आहार आदि का त्याग करना चाहिये। एकान्त स्थान में जाकर ईश्वर में तन्मय हो

जाना चाहिये। उस दिन धर्म-चर्चा के सिवाय दुनियादारी का कोई काम नहीं करना चाहिये।

अन्न खाना छोड़ने से धर्म का पोषण किस प्रकार होता है? इसका उत्तर यह है कि धर्म का मर्म समझने से अपने आप ही इस प्रश्न का समाधान हो जायगा। महाभारत और अन्य वैदिक-ग्रन्थों में उपवास का उल्लेख मिलता है। उपवास करने से शारीरिक व्याधियाँ दूर होती हैं और इन्द्रियों की चंचलता दूर होती है। इससे मन को बड़ी शान्ति मिलती है। उपवास ईश्वर के समीप शीघ्र पहुँचने का मार्ग है।

भारतवर्ष बहुत प्राचीन काल से उपवास का महत्त्व जानता है? इसीलिए भारतीय धर्मों के क्रियाकाण्ड में उपवास का स्थान बहुत ऊँचा है। आज अमेरिका जैसे यूरोपीय देशों ने भी इसका महत्त्व समझा है। वहाँ बारह करोड़ रुपयों के खर्च से एक उपवास-संस्था कायम की गई है, जिसमें उपवास-चिकित्सापद्धति से ही सब रोगों का इलाज होता है।

उपवास से क्या-क्या लाभ होते हैं और उपवास में कितने गुण हैं, यह बात भारत ने ही दुनिया को बतलाई थी। परन्तु वही भारत आज इसके महत्त्व को दिन पर दिन भूलता जाता है। आज इसका स्मरण करीब-करीब पुस्तकों के पृष्ठों पर ही रह गया है। यह बड़े खेद की बात है।

महाभारत में कहा है:—'न तपोऽनशनात्परम्।' अर्थात् अनशन—उपवास से बढ़कर और कोई तप नहीं है।

गीता में लिखा है:—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

—गीता, अ० २, श्लो० ६–७

इन्द्रियों को वश में करना बहुत कठिन है। प्रचण्ड शत्रु पर अधिकार करना कठिन है पर इन्द्रियों पर काबू पाना उससे भी ज्यादा कठिन है। जो मनुष्य इन्द्रियों पर अधिकार करना चाहता है, उसके लिए एक ही राजमार्ग है—उपवास करना। उपवास इन्द्रियों को जीतने का अत्यन्त सरल उपाय है। उपवास का मतलब निराहार रहना है। कुछ भी आहार न लेना, निराहार रहना कहलाता है। कई लोग छाछ या दूध का उपयोग करते हैं उन्हें पूरा निराहारी नहीं कहा जा सकता। उपवास, अनाहार और अनशन यह सब एकार्थक शब्द हैं।

मनुष्य प्रतिदिन खाता है। सावधानी रखने पर भी कभी न कभी भूल होना अनिवार्य है। भूल होने पर प्रकृति दंड दिये बिना नहीं रहती। किसी और के द्वारा दिये गये दण्ड को आप माफ करा सकते हैं, मगर प्रकृति के दण्ड से आप किसी प्रकार नहीं बच सकते। आपने प्रकृति के किसी कानून की अवज्ञा की तो आपको तुरन्त दण्ड भोगने के लिए तैयार रहना चाहिये। आप दूसरों की आँखों में धूल झोंक सकते हैं, पर प्रकृति को आप धोखा नहीं दे सकते। प्रकृति का कानून अटल है, अचल है। कोई उसमें हेर-फेर नहीं कर सकता।

अच्छा तो खाने में कभी भूल हुई कि कोई न कोई रोग आ धमकता है। उस रोग को दूर करने का सरल उपाय उपवास करना है। उपवास कर डालिए, रोग छू-मन्तर हो जायगा। अगर आपको किसी प्रकार का रोग नहीं है, तो भी उपवास करने का नियम रखने से बड़ा लाभ होगा। आप प्रतिदिन जो भोजन करते हैं, उसे आंतें पचाती हैं। अगर आप आंतों को बीच-बीच में विश्राम देते रहेंगे तो उनमें नवीन शक्ति आती रहेगी और अन्न का पाचन अच्छा होगा। इस प्रकार किसी भी दृष्टि से देखिये, उपवास का महत्त्व बहुत अधिक सिद्ध होता है।

कुदरत के नियम को कोई बदल नहीं सकता। और की तो क्या चलाई, साक्षात् परमात्मा भी उसमें दखल नहीं दे सकते। लोग चटोरे बनकर कुदरत के नियम को तोड़ रहे हैं और इसीलिए विविध व्याधियों के शिकार बनते हैं। अगर आप अपना तन और मन स्वस्थ रखना चाहते हैं तो भोजन की अमर्यादा का त्याग करो। सातवें व्रत—भोगोपभोगपरिमाण-का पालन करो। आवश्यकता से अधिक खाकर पेट पर व्यर्थ बोझ मत डालो। जबान के अधीन होकर सड़े और गन्दे पदार्थ गटागट पेट में न घुसेड़ो। दोना चाटने वालों की दुनिया निराली है। वे सीधा खाने में ही धर्म-पुण्य समझते हैं। घर पर बनी रसोई खाने से उन्हें आरम्भ-समारम्भ का पाप लगता है। बाजार में जाकर कलाकन्द और रबड़ी खाई और पाप से निस्तार हुआ। अफसोस कैसी दुर्बुद्धि है! लोगों ने आलस्य में ही धर्म मान रक्खा है।

बहुत से भाई विलायत के बने बिस्कुट पर ही अपना निर्वाह करते हैं। उन्हें क्या पता है कि यह बिस्कुट कैसे बनाये जाते

हैं ? विस्कुट बनाने के लिए पहले खमीर उठाया जाता है। वह इतना सड़ने लगता है कि पास में खड़े रहने की तबीयत नहीं होती। फिर उस खमीर से विस्कुट बनाये जाते हैं। कुछ चर्बी ऊपर चुपड़ कर सुवासित गन्ध से दुर्गंध उड़ा दी जाती है और डिब्बों में बन्द कर देते हैं। उन पर सुन्दर लेबिल लगा दिये जाते हैं और आपके यहाँ भेज दिये जाते हैं। उन्हें आप प्रसन्नतापूर्वक खाते हैं। उन्हें खाकर अगर आप रोगों के शिकार न बनें तो आश्चर्य !

डबल रोटी भी विस्कुट की तरह ही बनाई जाती है। आजकल जर्मनी का बना मसाला भी आने लगा है। इस मसाले की पेटियाँ की पेटियाँ भारत में आती हैं। आप में से बहुत से लोग विलायती शक्कर का उपयोग करते होंगे। विलायती शक्कर कैसे घृणित पदार्थों से तैयार की जाती है, यह आप जानते हैं ? दया-धर्मियो ! वह तुम्हारे खाने योग्य नहीं है। इस सब के उपरान्त कुछ दिनों से वनस्पति-घृत आने लगा है। क्या आपके लिये वह लाभकारक है ? आप आलस्य में धर्म मानने लगे, इसीलिए बिजली की चक्की से आटा पिसवाने लगे। मगर आपको क्या पता है कि ऐसा करने से आप कितनी हिंसा के भागी बनते हैं।

एक जैन कहलाने वाले भाई ने मुझ से पूछा—मैं बाजार से सीधा दूध लाता हूँ। इसमें तो कोई पाप नहीं है ?

मैंने पूछा—क्यों पाप नहीं है ?

वह बोले—गौ के पालने में आरम्भ-समारम्भ होता है। बाजार से दूध लेने से पाप से बचाव हो जाता है।

मैंने कहा—बाजार में बिकने वाला मांस खरीद लाने में तो आप पाप नहीं मानते न?

वह बोले—महाराज! यह कैसे हो सकता है? इसमें तो पशु मारने की अनुमोदना हो गई।

मैंने कहा—बस, मनुष्य अपने मतलब के लिए पाप को कुछ नहीं गिनता, दूसरों के काम में झट पाप खोज निकालता है। जैसे दूसरे के काम में पाप ढूँढते हो, उसी प्रकार अपने काम में भी पाप ढूँढो तो तुम्हारी भलाई होगी।

कहाँ तक कहा जाय? धर्म का असली स्वरूप न समझने से गौ को माता कहने वाले ही गोहत्या कराने में सहायक बनते हैं। जिस कृतघ्न को गौ की हत्या कराने में संकोच नहीं होता उसे अपनी रोगिणी माता के लिये क्या फिक्र होती होगी? वह यही समझता होगा—'मैं क्या करूँ?' यह अपने कर्म के उदय से दुःख पा रही है। मैं अपने बाल बच्चों को सँभालूँ या इसकी चाकरी करूँ?' हाय! इस हत्यारे को अपने कर्त्तव्य का कुछ भी ज्ञान नहीं है।

मैं यह कह रहा था कि सातवें व्रत का अच्छी तरह पालन करो। 'धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं मूलमुत्तमम्' की जगह आपने 'शरीरं व्याधिमन्दिरम्' बना रक्खा है। अर्थात् जो शरीर धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का उत्तम कारण है उसे आपने व्याधियों का घर बना डाला है। अगर आप शरीर को फिर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन बनाना चाहते हैं तो मर्यादापूर्वक सातवें व्रत का पालन करते हुये उपवास करना कभी मत चूकिये। एंजिन और

मशीन को भी विश्राम दिया जाता है, तब भी आप उपवास का महत्त्व नहीं समझते ? उपवास करके तुम भूखों नहीं मरोगे, वरन् अपने रोगों को भूखों मार दोगे। यह सब उपवास के शारीरिक लाभ हैं। आत्मिक लाभ इससे भी विलक्षण होते हैं।

थियोसोफिकल सोसाइटी की प्रधान कार्यकर्त्री श्रीमती एनीबीसेंट के एक लेख में पढ़ा था कि उपवास से शारीरिक लाभ तो होता ही है, पर आत्मिक लाभ कुछ कम नहीं होते। उपवास करने से ऐसे-ऐसे अद्भुत उच्च विचार प्रकट होते हैं कि जानकर चकित रह जाना पड़ता है। जो गूढ़ विषय यों समझ में नहीं आता, उपवास में सरलता से समझा जा सकता है। उपवास करने से और भी कई प्रकार के लाभ हैं।

प्रकृति का नियम है कि जितने मनुष्यों को उसने पैदा किया है, उनको खाने के लिए उतना वह पैदा कर देती है। पर हम लोगों ने धींगाधींगी करके, जबर्दस्ती खाकर, पेट में ठूँस-ठूँस कर भोजन भर कर, छह करोड़ भूखों मरने वालों की खुराक छीन ली है और उन्हें भूखा मारने का पाप अपने ऊपर ले लिया है। भारतवर्ष में तेतीस करोड़ मनुष्य रहते हैं। इनमें से छह करोड़ को अलग कर सत्ताईस करोड़ मनुष्य महीने में सिर्फ छह उपवास करने लगें तो क्या छह करोड़ भूखों मरने वाले बचाये नहीं जा सकते ? अवश्य।

उपवास, भूखों की भूख मिटाने वाला, रोगियों का रोग दूर करने वाला और ईश्वरोपासक को ईश्वर से भेंट कराने वाला है। 'उपवास' शब्द का अर्थ है—उप अर्थात् समीप में वास करना

अर्थात् ईश्वर के साथ बसना। उपवास करने वाले के हृदय में प्रेम, दया, शान्ति, निर्मोहता आदि अनेक सद्गुण उत्पन्न हो जाते हैं।

उपवास का महत्त्व सुबाहुकुमार ने समझा था। वह वीर क्षत्रिय था। आप अपने बनियापन में इसके महत्त्व को भूल गये हैं। मैं कई बार कह चुका हूँ कि आप बनिया नहीं हैं। आपके भीतर क्षत्रियों का खून दौड़ रहा है। कुछ उत्साह रक्खो, यही खून आपके शरीर में लहरें मारने लगेगा।

यह धर्म—जैन धर्म जिन दिनों वीर क्षत्रियों की गोद में था, उन दिनों यह संसार में अपनी प्रखर किरणें फैला रहा था। सुबाहुकुमार जैसे क्षत्रिय पुत्र ने उसे प्रकाशित किया था। सुबाहुकुमार ने पूर्वजन्म में अच्छे कार्य करके पुण्योपार्जन किया था, इसलिये उसे राजा के घर जन्म मिला और इस जन्म में भी पुण्य के प्रताप से धार्मिक कार्य करता हुआ आदर्श गृहस्थ-धर्म पालने लगा।

यह कहा जा चुका है कि सुबाहुकुमार नियमित रूप से महीने में छह पौषध करता था। पौषधव्रत का पालन प्रत्येक श्रावक को करना उचित है। जो लोग कहते हैं कि हमें समय नहीं मिलता, अन्यथा पौषध का पालन करते। समझना चाहिए कि समय की शिकायत करने वालों का जीवन व्यवस्थित नहीं है। जिस मनुष्य का जीवन सुव्यवस्थित होता है, उसे समय निकालने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। जब सुबाहु जैसा राजकुमार—युवराज पद भोगने वाला—राज्य की धुरा धारण करने वाला भी समय निकाल सकता है तो आप क्यों नहीं निकाल सकते? आपको समय न

मिलना, इस बात का प्रमाण है कि आपका जीवन अव्यवस्थित है। जो मनुष्य अपना जीवन व्यवस्थित रूप से व्यतीत करता है उसे इस लोक में और परलोक में सुख मिलता है। आप समय का मूल्य समझो। आज भारत के अधिकांश मनुष्य समय की कीमत नहीं समझते। जो समय की कीमत नहीं समझेगा, वह दिलचस्पी से उसका आदर कैसे कर सकता ?

यूरोप के लोग समय का जितना मूल्य आंकते हैं, उतना हम भारतवासी नहीं आंकते। वह समय को सोने से भी ज्यादा कीमती समझते हैं और हम लोग अर्थहीन गपसप में ही बहुतसा उपयोगी समय व्यतीत कर देते हैं। यूरोप का छोटे से छोटा काम करने वाला भी समय को बहुमूल्य मानता है और इसी प्रकार उसका उपयोग भी करता है। यूरोपीय लोग समय के इतने पाबन्द हैं कि देख कर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है। सेंट निहालसिंह नामक एक भारतीय सज्जन पैरिस की सैर करने गये। वहाँ उन्होंने रास्ता साफ करने वाले एक मेतहर का फोटो लेना चाहा। मेतहर ने अपनी घड़ी देखकर कहा—मेरी ड्यूटी खत्म होने में पांच मिनिट बाकी हैं। उसके बाद आप चाहें तो फोटो ले सकते हैं। यह सुन कर श्री निहालसिंह को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा—पैरिस के मेहतर भी समय के इतने पाबन्द हैं और इतनी प्रामाणिकता के साथ अपनी ड्यूटी अदा करते हैं ! भारतीयों के लिए यह बात अनुकरणीय है।

हमारे यहाँ समय की कीमत नहीं। इसीलिए लोगों का खाना-पीना, सोना, काम करना, टहलना, उठना, बैठना सब अव्यवस्थित है। जो मनुष्य अव्यवस्था से अपना जीवन व्यतीत

करता है उसे न यहाँ सुख मिलता है, न वह परलोक के सुख का ही अधिकारी होता है।

सुबाहुकुमार का जीवन व्यवस्थित था। अतएव वह राज्य-कार्य करता हुआ भी धर्मक्रिया के लिए समय निकाल लेता था। सुबाहु ने पौषधव्रत धारण किया, इसीलिये उसका हृदय दर्पण के समान स्वच्छ हो गया। जिसका हृदय स्वच्छ होता है, उसमें अलौकिक शक्तियों का वास हो जाता है। यह अलौकिक शक्तियाँ सांसारिक वस्तुओं को तो क्या, देवताओं को भी अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं। स्वच्छ-हृदय पुरुष की सेवा के लिये देवगण भी लालायित रहते हैं।

आप में से बहुत से भाइयों को पौषध करने का भी समय नहीं मिलता। सारा समय सांसारिक झंझटों में भी समाप्त हो जाता है। अब आप ही सोचिये कि आपको आत्मप्रकाश कैसे प्राप्त होगा?

पौषध में उपवास करना पड़ता है। बहुत से लोग समझते हैं—उपवास से शरीर क्षीण हो जाता है और भूख की व्याकुलता सताती है। मगर सचाई इसके विपरीत है। उपवास से शरीर क्षीण नहीं होता, वरन् शरीर के साथ-साथ आत्मा भी पुष्ट होता है। उपवास से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विकास होता है।

हाँ, यहाँ एक बात का कह देना आवश्यक है। वह यह कि उपवास का फल प्रायः पारणे पर अवलम्बित है। आप में से कई भाई और बाइयाँ कई दिनों के उपवास करते हैं, उन्हें पारणा करते

समय बहुत सावधानी रखनी चाहिए। पारणा करते समय अधिक खा लेने से भयंकर रोग खड़े हो जाते हैं। पारणा करते समय बिलकुल हल्का और अल्प पदार्थ सेवन करना हितकर माना गया है। भारी और चरपरी चीजें और भोजन की अधिक मात्रा हानिकारक है। पारणे के अवसर पर मन पर काबू न रक्खा और खाने के लोभ में पड़ गये तो स्मरण रखिये, आपको उपवास का महत्त्व मालूम नहीं होगा। तपश्चर्या विधि-पूर्वक करके सफलता प्राप्त करना जिनमार्ग को दिपाने के समान है। जो विधि विरुद्ध व्यवहार करके तपस्या में असफल होगा, वह तपस्या के उपहास का कारण बनेगा। उसे देखकर लोग कहेंगे—देखो, तपश्चर्या की सो उसका फल-बीमारी-भोग रहे हैं। क्या रक्खा है ऐसी तपश्चर्या में !'

भाइयो, तपस्या करने से पहिले उसकी विधि समझ लेना अत्यावश्यक है। तपस्या को बदनाम करना धार्मिक तत्त्वों का अपमान करना है।

कई एक गर्भवती बहिनें तपस्या का लोभ संवरण नहीं कर सकतीं। वह भी उपवास करती हैं, मगर तमाम शास्त्रों में गर्भवती के लिए उपवास करने की मनाई है। आयुर्वेद के ग्रन्थ भी स्पष्ट रूप से निषेध करते हैं। गर्भवती के उपवास करने से कई बार गर्भपात हो जाता है और इस से पंचेन्द्रिय की हिंसा का पाप भी लगता है। कई बार स्वयं गर्भवती बाई के प्राण संकट में पड़ जाते हैं और कइयों को तो प्राणों से ही हाथ धोना पड़ता है। इन सब कारणों से मैं गर्भवती स्त्रियों को उपवास करने की सलाह नहीं देता। मैं स्पष्ट शब्दों में कहता हूँ कि गर्भवती स्त्रियों के लिए तपस्या करने का उल्लेख किसी भी शास्त्र में नहीं मिलता।

उपर्युक्त विवेचन से उपवास का महत्त्व समझ में आ सकता है । पौषध-उपवास में ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य है। साथ ही शरीर-शृंगार का त्याग करना चाहिए और संसार सम्बन्धी झंझटों से मुक्त हो जाना चाहिए। महीने में चौबीस दिन आजीविका के लिए कम नहीं हैं। धर्म क्रिया में छह दिन तो व्यतीत करना ही चाहिए। थोड़े समय टिकने वाले इस वर्तमान जीवन के लिये अगर बहुत कुछ करते हो तो थोड़ा सा भविष्य जीवन के लिए भी तो करलो । आगामी भव में क्या पूंजी लेकर जन्मोगे? वर्तमान अल्प है और भविष्य का अन्त नहीं है। आखिर तो भविष्य से ही काम पड़ना है। क्या उसके लिए कुछ भी तैयारी नहीं करोगे?

भगवान् ने चार प्रकार के श्रावकों का वर्णन किया है। उनमें पहला श्रावक वह है, जिसकी आत्मा काच के समान हो। काच में दूसरी वस्तुओं का दृश्य भले ही दिखाई दे, मगर उनका स्पर्श नहीं हो सकता। ऐसा आत्मा स्तुति के योग्य है।

सुनन्द नामक एक चित्रकार था। किसी राजा ने बहुत से चित्रकारों को अपने महल में चित्रकारी के लिए बुलाया। सुनन्द भी वहाँ आया था। राजा ने सर्वश्रेष्ठ चित्रकारी करने वाले को विशिष्ट पारितोषिक प्रदान करने की घोषणा की। सभी चित्रकार पारितोषिक पाने के लिए लालायित हुए। वह लोग पर्दा लगा-लगा कर चित्रकारी करने लगे। एक दिवाल सुनन्द को भी चित्रकारी के लिए मिल गई थी। सब चित्रकार अपने-अपने काम में लग गये। सुनन्द ने बहुत सोच-विचार कर भीत पर बढ़िया पालिश करने की ठानी। राजा नियत समय पर चित्रकारी देखने आया। सब चित्र-

कार अपना कार्य समाप्त कर चुके थे, पर सुनन्द ने अभी तक पालिश ही किया था। राजा सब की चित्रकारी देखता हुआ जब सुनन्द वाली दिवाल की ओर आया तो उसे उस पर कुछ भी नजर न आया। राजा ने कहा—'अरे सुनन्द, सब चित्रकार अपना-अपना कार्य समाप्त कर चुके हैं, और तू अभी पालिश ही कर पाया है!'

सुनन्द नम्रतापूर्वक बोला—अन्नदाता! सब ने एक काम किया है, मैंने दो काम किये हैं।

राजा—कैसे दो काम?

सुनन्द—पृथ्वीनाथ! इन लोगों ने सिर्फ चित्रकारी की है, पर मैंने ऐसा काम किया है कि दिवाल पर चित्र भी दिखने लगें और जब चाहें तभी उन्हें मिटा भी सकें। इनके चित्रों में यह गुण नहीं है।

राजा का आदेश पाकर सुनन्द के सामने का पर्दा हटा दिया। सामने की दीवाल पर जो चित्र अंकित किये गये थे, वह सब बढ़िया पालिश की हुई इस दीवाल पर प्रतिबिम्बित होकर दिखाई देने लगे। थोड़ी देर बाद उसने पर्दा डाल दिया तो दीवाल चित्र-रहित स्वच्छ दिखलाई पड़ने लगी। राजा उसकी कुशलता देख बहुत प्रसन्न हुआ और उसे पारितोषिक दिया।

कहने का आशय यह है कि आप अपने हृदय पर ऐसा उत्तम पालिश कीजिये कि वह पूर्ण रूप से स्वच्छ हो जाय। उस पर संसार के चित्र भले ही पड़ें परन्तु आत्मा से उनका स्पर्श न हो। काच में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब को वायु हिला नहीं सकती।

आप अपने हृदय को कान बनाकर उसमें जिन-वचन-श्रद्धा का ऐसा प्रतिबिम्ब डालो कि देवता रूपी वायु उसे हिलाने में असमर्थ हो जाय। सुबाहुकुमार ने ऐसी ही विशेषता प्राप्त की थी। इसी कारण संसार के कुसंस्कारों को उसके हृदय में स्थान न मिला।

सुबाहुकुमार ने अतिथियों को दान देने के लिए अपने घर का द्वार खोल दिया था। कोई भी भिक्षुक उसके द्वार पर आकर अन्न-पानी ग्रहण करता था।

आज कई भूले भाई दान देना ही बुरा समझते हैं। उनकी मनोवृत्ति इतनी संकुचित हो गई है कि जिसकी सीमा नहीं।

भेषधारी आयो घर धार ए,
जाने शरमाशरमी दीजे दान ए।
पछे किजे पश्चात्ताप,
तो थोड़ो लागे पाप ए ॥

तात्पर्य यह कि पहले तो दान देना ही नहीं चाहिए। कदाचित् लोक-लज्जा से या किसी के दबाव से कुछ टुकड़ा दे भी दिया जाय तो देने के बाद पश्चात्ताप करना चाहिए कि—'हाय! आज का दिन कितना बुरा हुआ कि मुझ से पाप का काम हो गया। मैं कुछ न देता तो अच्छा था।' इस प्रकार पश्चात्ताप करने से पाप कम हो जाता है।

हाय हाय! यह कैसी विपरीत बुद्धि है! अगर दान देना निन्दनीय होता तो शास्त्र में 'ऊसियफलिहे' विशेषण श्रावक को क्यों लगाया जाता?

मैंने एक बार कहा था कि घूरे पर (उकरडी पर) कमल उगा है अर्थात् क्षत्रियों का धर्म बनियों की गोद में आ गया है। फल यह हुआ कि धर्म में भी दुकानदारी चालू कर दी गई है। अधिकांश वणिक् यही चाहते हैं कि हमारी दुकान जम जाय और पड़ौसी की उठ जाय तो ठीक है। यही हाल इस धर्म के कुछ साधुओं का हो रहा है। वह कहते हैं—हम सुपात्र हैं। हमें ही दान देना चाहिये। हमें छोड़कर जगत् के लोग कुपात्र हैं। उन्हें दान नहीं देना चाहिए।

वीतराग के नाम पर ऐसे-ऐसे मनगढंत विचार प्रकट किये जाते हैं, जिनके कारण जनता भ्रम में पड़ जाती है और साधारण विचारक की धर्म के प्रति आस्था ही नहीं रहती। वे सोचते हैं—'यह कैसा स्वार्थमय धर्म है!'

भाइयो, दान का बड़ा महत्त्व है! भारत के समस्त धर्मों ने एक स्वर से दान की महिमा गाई है। देखिए:—

> अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्त्तते।
> स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥

अर्थात्—जिस गृहस्थ के घर से अतिथि—साधु या पाहुना आदि-निराश होकर लौट जाता है यानी कुछ मिलने की आशा से गृहस्थ के घर आया था, पर यहाँ कुछ भी न मिला—सिर्फ गालियाँ मिली या धक्के मिले, तो उस अभ्यागत अतिथि का तो कुछ बिगड़ा नहीं, हानि गृहस्थ की ही हुई। अतिथि अपना पाप उस गृहस्थ को देकर और उसका पुण्य लेकर लौट जाता है।

प्रश्न होता है—पाप देकर और पुण्य लेकर कैसे चला जाता है? इसका स्पष्टीकरण यह है कि अतिथि, गृहस्थ को दातार

जान कर उसके घर जाता है और नम्रता से—गरीबी से—मीठे शब्दों से याचना करता है। मगर गृहस्थ उसे धक्का देता है, फटकारता है, गालियाँ देता है। कदाचित् गृहस्थ की देने की शक्ति न हो तो वह मधुर शब्दों में उत्तर दे सकता है। ऐसा न करके उसके प्रति कठोरतापूर्ण व्यवहार करना, अभ्यागत से भी नीचा बन जाना है। अभ्यागत ने मधुर वाणी बोली, मगर गृहस्थ मधुर वचन का भी दान न कर सका। अतएव वह भिखारी से भी अधिक भिखार हुआ। क्रोध आदि करने से पाप होता ही है। जब गृहस्थ ने भिखारी को फटकारा, धक्का दिया तब उसने पाप तो ले ही लिया। अभ्यागत मीठे वचन बोला। मीठे वचन बोलना पुण्य तो है ही। इस प्रकार उसने पुण्य ग्रहण करके अपना रास्ता पकड़ा।

अभ्यागत को कभी निराश होकर मत लौटने दो। भारत में पहले विना किसी भेद भाव के दान दिया जाता था। कोई किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न हो, उसके लिए प्रत्येक दातार का द्वार खुला रहता था।

आप कह सकते हैं कि ऊपर का श्लोक अन्य धर्मियों का है। मगर मित्रो ! सुबाहु तो अन्यधर्मी नहीं है। उसने उदार वृत्ति से अपना दान-भंडार खोल दिया। प्रत्येक अभ्यागत, साधु, दुखी, भूखा वहाँ पहुँच कर सन्तोष प्राप्त करता था।

मित्रो ! अपने लड़के की बीमारी में सेवा-शुश्रुषा करो, इसमें आपकी कोई महत्ता नहीं है। यह तो आपका फर्ज ही है। महत्ता तो पराये की सेवा करने में है। आपने दस हजार रुपये विवाह में खर्च कर दिये, इससे क्या हुआ ? खर्च कर दिये तो वही

बात और खर्च न किये होते तो भी वही बात ! अगर आप उस रकम का चौथाई भाग भी गरीबों की भलाई के लिए, पतितों के उद्धार के लिए या धर्म के प्रचार के लिए खर्च करते तो आपको कितना पुण्य होता ? आपका यश कितना फैलता ? मगर ऐसी उच्च भावना किसी पुण्यवान पुरुष के ही मस्तिष्क में आती है। संसार में उदार-चित्त पुरुषों की संख्या बहुत कम है। कृपणों की संख्या बहुत है। किसी विद्वान् ने कहा है—दाता थोड़ा-थोड़ा दान देता है पर कृपण एक साथ सब दे देता है। अर्थात् कृपण जब मरता है तो अपना धन साथ में तो ले नहीं जा सकता, दूसरे लोग ही उपभोग करते हैं। सभी शास्त्र और विद्वान् दान देने का उपदेश देते हैं। किसी ने कहा है:—

> पामर प्राणी चेते तो चेताऊँ तो ने।
> नथी घर-बार त्हारुं, मिथ्या कहे छे म्हारुं म्हारुं।
> तेमां नथी कशुं तारुं रे ॥ पामर प्राणी ॥ १ ॥
> माखीए मधुपूडुं कीधुं, न खाधुं न खावा दीधुं।
> लूटनारे लुटी लीधुं रे ॥ पामर प्राणी ॥ २ ॥
> खंखेरी ने हाथ खाली, ओचीतुं जावुं छे चाली।
> करे माथाफोड खाली रे ॥ पामर प्राणी ॥ ३ ॥

मित्रो ! घर-द्वार, हाट-हवेली, कोई वस्तु स्थिर नहीं है। बड़े-बड़े चक्रवर्ती भी इन्हें साथ नहीं ले जा सके। अतएव सदुपयोग करना सीखो। दान, परोपकार का बड़ा भारी साधन है। संसार परोपकारी की पूजा करता है।

सुबाहुकुमार हिंसा आदि क्रूर कर्मों से बचा और दान पुण्य कर्मों में प्रवृत्त हुआ। उसने पहले जो शुभ कार्य किये हीं के प्रताप से आज भी—वर्तमान जन्म में भी वह शुभ कर रहा है। वह पुण्य के प्रभाव से ऋद्धिशाली हुआ है। पाकर उसे घमंड नहीं हुआ किन्तु नम्रता धारण कर ऋद्धि पयोग दान देने में करने लगा। उसका द्वार सबके लिए खुला वह केवल जैन मुनियों को ही दान नहीं देता था वरन् सभी यथोचित भाव से दान देता था।

आत्मा अनादि काल से भवभ्रमण कर रहा है। पुण्य- के सुयोग से आपको यह सुअवसर मिला है। इसे व्यर्थ मत ओ। आपका यह समय कितना कीमती है! धर्म के द्वारा आप सार का कोई भी मूल्यवान् पदार्थ खरीद सकते हैं, मगर जीवन हीं खरीद सकते—मृत्यु को नहीं टाल सकते। धन मृत्यु से नहीं चा सकता। करोड़ों रुपया खर्च करने पर भी जो चीज दुर्लभ है- अलभ्य है—उसे क्या आप कीमती नहीं समझेंगे? आपने बड़ी ही कठिनाई से यह अवसर पाया है। अगर आप इसका सदुपयोग करके इससे भी उच्च अवस्था प्राप्त करना चाहते हैं तो धर्म की आरा- धना कीजिये। धर्म आपके संसार-व्यवहार में कोई रुकावट नहीं डालता। धर्म ही इस लोक और परलोक को सुधारता है। अतएव धर्म-जीवी बनो।

मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाऊँगा? इत्यादि प्रश्नों पर प्रतिदिन विचार किया करो। अगर अभी आपसे पूछा जाय कि आप कौन हैं? तो उत्तर मिलेगा—'मैं ओसवाल हूँ।' अरे

भाई ! आपकी जाति ओसवाल तो है, पर आप कौन हैं ? जिसकी जाति ओसवाल है, ऐसे आप कौन हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में आप अपना नाम बताएँगे, ग्राम बताएँगे; मगर वह कोई उचित उत्तर नहीं हुआ । आप क्या नाक हैं ? आँख हैं ? कान हैं ? पैर हैं ? हड्डी हैं ? चमड़ी हैं ? क्या हैं ? आप कौन हैं ?

यह विषय बड़ा गहन और विशाल है । समय होता तो स्पष्टतया समझाता । परन्तु इतना तो सभी जानते हैं कि मनुष्य अगर हाथ, पैर, नाक, आँख आदि होता तो अपने हाथों से कई छोटों, बड़ों और बराबर वालों को श्मशान में ले जाकर क्यों जलाया होता ? इसी से मालूम होता है कि मैं कान नहीं, कान से सुनने वाला हूँ, मैं आँख नहीं, पर आँख से देखने वाला हूँ, मैं नाक नहीं पर नाक से सूँघने वाला हूँ, मैं जिह्वा नहीं पर जिह्वा से चखने वाला हूँ । मित्रो ! यह सब तुम्हारे औजार हैं । तुम इनके स्वामी हो । मगर आज कुछ उलटा ही तमाशा नजर आ रहा है । तुम्हारे व्यवहार से ऐसा जान पड़ता है कि तुम इनके स्वामी नहीं सेवक हो, मालिक नहीं गुलाम हो । तुम्हारा सारा जीवन इन्हीं की तृप्ति के लिए है ।

शास्त्र में धर्म के प्रधान रूप से दो विभाग बतलाये गये हैं— अनगारधर्म और अगारधर्म । अनगारधर्म साधु के लिए और आगारधर्म गृहस्थ के लिए है । गृहस्थ अगारधर्म का पालन करता हुआ अनगार धर्म को धारण करके किसी समय पूर्ण अहिंसक बन जाता है । पूर्ण अहिंसक को अ, इ, उ, ऋ, लृ, इन पाँच स्वरों का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने ही समय में मोक्ष मिल जाता है ।

सुबाहुकुमार का जीवन इस कथन का उदाहरण है। पहले यह राजकुमार राजनीति के अनुसार कार्य करता था। अब वह समस्त कार्य धर्म की दृष्टि से करने लगा। उसकी आजीविका भी धर्मपूर्वक ही चलने लगी।

आप सोचते होंगे—क्या कोई आजीविका भी धर्म से चलती है? सामायिक को छोड़कर संसार के समस्त कार्य पाप से ही होते हैं।

यह विचार एकदम भ्रमपूर्ण है। आजीविका भी धर्मपूर्वक चल सकती है। हाँ, यह ध्यान रखना चाहिए कि उसमें अपने व्रत खण्डित न हो पावें। व्रतों की ओर पूर्ण लक्ष्य रखने से तथा इहलोक परलोक और सत्य के विरुद्ध कोई काम न करने से धर्म के साथ आजीविका क्यों नहीं चल सकती?

असि, मसि और कृषि में सब प्रकार की आजीविकाओं का समावेश हो जाता है। असि आजीविका क्षत्रियों की है और मसि एवं कृषि वैश्यों की है। इन तीनों आजीविकाओं से रहित होकर ज्ञान देने का काम ब्राह्मणों का और तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्रों का काम बतलाया गया है।

यों कोई भी काम आरम्भ-समारम्भ के बिना नहीं होता। लिखा-पढ़ी का काम बहुत पुण्य वाला मालूम होता है, पर उसमें भी कलम चलाने में सूक्ष्म हिंसा हो ही जाती है। अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि जिस काम में सूक्ष्म हिंसा होती है उसे धर्म-आजीविका का काम कैसे कहा जा सकता है? इसका उत्तर यह है

कि जो मनुष्य अपने व्रतों का खण्डन न करता हुआ सत्य से अविरुद्ध कार्य करता है, उसमें अगर हिंसा हो जाय तो भी उसे धर्म आजीविका ही कहना चाहिए। चन्द्रमा में कुछ काले धब्बे हैं, पर उसके स्वच्छ प्रकाश के आगे वह गौण हो जाते हैं। दूसरा उदाहरण केसर का लीजिए। बहुत सी केशर कढ़ाही में डालकर औंटाई गई। उसका रंग शुद्ध सोने के समान पीला होगया पर उसमें स्याही की एक बूंद गिर गई। उसने अपना काला रंग कुछ फैला दिया। ऐसी स्थिति में कोई यह अस्वीकार नहीं करेगा कि केसर में किंचित् काली झांई है; तथापि पीले रंग के सामने कालापन इतना गौण है कि उसे कोई काले रंग की कढ़ाही नहीं कहेगा, वह पीले रंग की ही कढ़ाही कहलायगी।

बहुत से लोग शास्त्रों का वास्तविक अर्थ न समझकर भी ऐसा अर्थ करते हैं, मानों वह स्वयंप्रज्ञ हैं, उन्हें निर्ग्रन्थ-बुद्धि प्राप्त हो गई है। मगर कल्याण का मार्ग यह नहीं है।

आशय यह है कि सुबाहुकुमार धर्म-आजीविका करके जीवन व्यतीत करने लगा। सुबाहु पहले, लोगों की रुचि के अनुसार सामयिक परिस्थिति के अनुकूल, कुल परम्परा के आदर्श को सामने रखता हुआ काम करता था। परन्तु अब स्वतन्त्रता के साथ धर्मानुकूल कार्य ही करता था। पहले वह सोचता था—अगर लोक-रुचि के अनुसार कार्य न किये जाएँगे तो कई प्रकार के षड्यन्त्र रचे जाएँगे। कुल परम्परा को मान दूँगा तो लोक-निन्दा होगी। मगर अब उसने यह परतन्त्र विचार त्याग दिये। उसने धर्म को ही अपना ध्येय मान लिया। अब भले ही उसके विरुद्ध अलग्या हो, षड्यन्त्र

रचा जाय या कोई निन्दा करे, इसकी उसे कोई चिन्ता नहीं थी। अब कोई भी बाहरी वस्तु उसके कार्यों का संचालन नहीं करती थी। धर्म ही उसका पथप्रदर्शक था। अन्तरात्मा की ध्वनि ही उसे प्रेरित करती थी।

इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त करके परतन्त्रता को ठोकर मार देना, मोक्ष का मार्ग पकड़ लेना है।

स्वतन्त्रता से किया हुआ काम कल्याणकारी है और परतन्त्रता से किया हुआ अकल्याणकारी है। स्वतन्त्र विचार से जो शुभकार्य किया जाता है, उसका स्थान बहुत उच्च है। जो काम किसी के दबाव से, लिहाज से या जाति के कानून के डर से किया जाता है, वह उतना उच्च नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ—ओसवाल भाई मांस नहीं खाते। मगर जाति के लिहाज से इसे न खाना उत्तम तो अवश्य गिना जायगा, पर उतना उत्तम नहीं जितना उसके अवगुणों को देखकर हृदय से—स्वतन्त्रतापूर्वक त्यागना उत्तम है।

मूलपाठ—तए णं से सुबाहुकुमारे अण्णया कयाइं (चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु जेणेव पोसहसाला तेणे व उवागच्छइ। उवागच्छित्ता पोसहसालं पमज्जति। पमज्जित्ता उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेइ। पडिलेहित्ता दब्भसंथारं संथरेइ। संथरित्ता दब्भसंथारं दुरूहइ। दुरूहित्ता अट्ठमभत्तं पगिण्हति। पगिण्हित्ता पोसहसालाए पोसहिए अट्ठमभत्तिए पोसहं पडिजागरमाणे विहरति।

अर्थात्—तदनन्तर किसी समय सुबाहुकुमार पोषधशाला में गया। जाकर पोषधशाला का प्रमार्जन किया। प्रमार्जन करके

(पूंज कर) मल-मूत्र त्यागने की जगह का प्रतिलेखन किया। फिर डाभ का आसन बिछाया और आसन बिछाकर उस पर बैठा। बैठकर अष्टमभक्त (तेला) का प्रत्याख्यान किया। प्रत्याख्यान करके पौषधशाला में पौषधयुक्त होकर धर्म जागरण करता हुआ विचरने लगा।

× × × × ×

पिछले समय की वर्तमान समय से तुलना करने पर आकाश-पाताल जितना अन्तर नजर आता है। प्राचीन काल का जीवन जितना स्वतन्त्र था, वर्तमान काल का उतना ही परतन्त्र है। पहले जमाने में छोटे से छोटा काम भी, जहाँ तक सम्भव हो, अपने ही हाथ से करने की तरफ विशेष ध्यान रक्खा जाता था परन्तु आज इस बात का खयाल रक्खा जाता है कि जहाँ तक हो सके अपना काम दूसरे से कराया जाय। पहले के लोग अपने हाथों से काम कराने में सुख और दूसरे से काम कराने में दुःख मानते थे।

समय की बलिहारी है कि जो मनुष्य धार्मिक कार्य करने में अपना गौरव मानते थे, उन्हीं की सन्तान उन कामों को करने में अपना अपमान मानती है।

सुबाहुकुमार के चरित-वर्णन से आपको पता चल जायगा कि प्राचीन काल के महापुरुषों की जीवनचर्या किस प्रकार व्यतीत होती थी!

सुबाहुकुमार पौषध करने के लिए पौषधशाला में गया। यतना के साथ पौषधशाला की प्रतिलेखना की। पश्चात् आवश्यक कार्य करके दर्भ (कुश) के बिछौने पर बैठकर आत्मध्यान करने लगा।

पोषधशाला किसे कहते हैं? और उसकी आवश्यकता क्यों है? यह विचार कर लेना आवश्यक है। जहाँ पोषध किया जाता है, उस स्थान को पोषधशाला कहते हैं। जैसे भोजन करने की जगह भोजनशाला, नाटक करने की जगह नाटकशाला, तथा पाठ पढ़ने की जगह पाठशाला कहलाती है, उसी प्रकार जहाँ बैठकर पोषध किया जाय उस स्थान को पोषधशाला कहते हैं।

पोषधशाला की आवश्यकता क्यों हुई? जिस प्रकार भोजनशाला अलग होने से घर की व्यवस्था ठीक रहती है और काम अच्छा होता है, उसी प्रकार ईश्वरचिन्तन में हल्ला-गुल्ला आदि के कारण बाधा न पड़े, इसी उद्देश्य से पोषधशाला की व्यवस्था की गई है।

सुबाहुकुमार पोषधशाला में जाकर विचार करता है कि कोई काम ऐसा तो नहीं हो रहा है, जो अभी तो अल्पारम्भमय प्रतीत होता हो पर फिर महारम्भी प्रतीत होने लग जाय?

सुबाहुकुमार को कितनी चिन्ता है? क्या आपको भी इस प्रकार की चिन्ता होती है? आप में से बहुत से भाई छोटे-छोटे कामों की तरफ प्रारम्भ में कुछ ध्यान नहीं देते, किन्तु जब वह महा-पाप-जनक मालूम होते हैं, तब कहीं उस ओर ध्यान दिया जाता है। उदाहरणार्थ—पोषधशाला में पानी गिर रहा है। पर उस समय कुछ ध्यान न देकर जब लीलन-फूलन प्रकट हो जाय या घास के अंकुर फूट निकलें तब उन पर मिट्टी आदि डालकर उनसे बचने का उपाय किया जाय। इस प्रकार का काम क्या पुण्य का हुआ?

इसका उपाय तो पहले ही करना चाहिए था, जिससे लीलन फूलन की उत्पत्ति ही न हो सके।

सुबाहुकुमार अपने हाथों से पोषधशाला को पूंजता है। अहा! राजकुमार को कितना धर्मप्रेम है! पूंजने का काम भी वह अपने हाथों करता है।

कभी आपने भी इतनी मुस्तैदी से धर्मजागरणा की है? कभी आपने पोषधशाला में पूंजने का काम किया है? आप क्यों करने लगे? आपके यहाँ तो नौकर-चाकर हैं! पोषधशाला पूंजने का काम किसी नौकर को सौंप कर आप निश्चिन्त हो गये हैं। कदाचित् पोषधशाला बड़ी हुई तो दो नौकर रख लिए। आपने छुट्टी पाई। जरा विचार तो कीजिए। राजा महाराजा जो काम अपने हाथ से करते हैं, उसे आप लोग नौकरों से करवाते हैं! ऐसा करके आप क्या उन राजा-महाराजाओं से भी बड़े बन गये? उनके पास धन कम था और आपके पास ज्यादा हो गया है? आपको नौकर मिल जाते हैं, उन्हें नौकर नहीं मिलते थे? अगर ऐसा नहीं है तो आप अपने ही हाथ से अपना काम करने में क्यों लज्जित होते हैं? क्या इस काम को छोटा समझकर इसे करने में आप अपना अपमान समझते हैं?

जरा ध्यान दीजिए, कृष्ण महाराज हाथी पर बैठे हुए थे। उन्हें ईंट उठाने में लज्जा न आई। क्या उनके पास नौकरों की कमी थी? नहीं, पर उन्होंने दुनिया के सामने आदर्श खड़ा करने के लिए इतना तुच्छ काम भी, अपने हाथ से किया, यद्यपि उनके साथ बड़ी फौज मौजूद थी। उनके जरा से इशारे से ही काम हो सकता था, मगर ऐसा करने से आदर्श खड़ा न होता।

सुबाहु के पास नौकरों की क्या कमी थी ? वह आज्ञा देकर नौकरों से काम करा सकते थे, किन्तु आज्ञा की जड़ काट डालने के लिए उन्होंने यह छोटा काम भी अपने हाथ से किया।

छोटे-छोटे काम स्वयं करने से अभिमान का नाश होता है। छोटे-छोटे काम करने वाले धर्म के भक्त गिने जाते हैं। आप धर्म के भक्त बनना चाहते हैं या धर्म के हाकिम ? अगर आप भक्त बनना चाहते हैं तो ठकुराई को जरा ढीली कर दीजिए।

पोषधशाला में अन्दरूनी स्वच्छता के साथ बाहरी स्वच्छता का भी ध्यान रखना चाहिये। पोषधशाला के आस-पास अशुचि पदार्थ न पड़े रहें, यह देखना आवश्यक है। अशुचि पदार्थों के सामीप्य से ध्यान में एकाग्रता नहीं आती। चित्त चंचल रहता है। ध्यान की एकाग्रता के लिए शुद्धि की आवश्यकता समझनी चाहिए।

पोषधशाला के आस-पास स्त्री और पशु आदि नहीं रहने चाहिए। यह भी ध्यान भंग करने वाले गिने गये हैं।

सुबाहुकुमार तेले का प्रत्याख्यान लेकर कुश के आसन पर बैठकर ध्यान करने लगे। कुश दर्भ या डाभ को कहते हैं। एक राजकुमार डाभ के आसन पर बैठे, यह कितने आश्चर्य की बात है ? क्या आप लोग कभी घास के बिछौने पर बैठे हैं ? आपको मखमल, रेशम और नरम ऊन के बैठके और बिस्तर मिलते हैं। उनके पास यह सब कहाँ रक्खा था ? आपके पास गलीचे हैं, उन्होंने वह शायद देखे ही न होंगे ! भाइयो ! क्या कारण था कि उन्होंने रेशम और मखमल को छोड़कर घास का बिछौना अंगीकार

किया ? इसमें बड़ा ही गूढ़ रहस्य है। कुश के आसन का उल्लेख गीता में भी मिलता है। कुश के आसन पर बैठने से प्रथम तो अभिमान नहीं होता, दूसरे उसमें ऐसा गुण बतलाया जाता है कि उससे टकराकर जो हवा फैलती है, उससे योग-साधन में बड़ी सहायता मिलती है।

सुबाहु कुशासन पर बैठकर आत्मध्यान में लीन होगया। वह 'तत्त्वमसि' का ध्यान करने लगा। अर्थात् 'हे आत्मन्! तू ही परमेश्वर है।' तात्पर्य यह है कि तू है सो ईश्वर है और ईश्वर है सो तू है।

जगत् में असत्य और सत्य दोनों हैं। सत्य कल्याणकारी और असत्य चक्कर में डालने वाला है। इन दोनों का भेद समझकर भी जो असत्य का त्याग और सत्य का अंगीकार नहीं करता उसे महामूर्ख समझना चाहिए।

जो लोग सत्य में भय और असत्य में सुख मानते हैं, वे भ्रम में हैं। उनकी यह आदत निर्बलता के कारण पड़ गई है। बंदर को पींजरे में बन्द कर देने से उसे अटपटा लगता है, उसी प्रकार चंचल-चित्त पुरुष को सत्य-मार्ग का अवलम्बन करना अटपटा मालूम होता है। उन्हें असत्य मार्ग पर चलने का अभ्यास हो गया है। वे उस मार्ग के व्यसनी हैं। जैसे अफीमची को अफीम छोड़ने में बड़ी दिक्कत मालूम होती है, उसी प्रकार असत्य के अभ्यासियों को असत्य का त्याग करना कष्टमय मालूम होता है।

अफीम खाना आरम्भ करने वाले ने शुरू में सोचा था—मैं इससे मन मौज करूँगा और इसके अधीन नहीं होऊँगा। पर ऐसा

नहीं हुआ। अफीम ने उसका बल हर लिया और उसे अपने चंगुल में फाँस लिया। अब अफीमची को अफीम के बिना संसार सूना नजर आता है। अफीम के अभाव में हाथों-पैरों की नसें टूटी हुई सी मालूम होती हैं।

व्यसनी चाहे तो अपना व्यसन धीरे-धीरे भी बिल्कुल छोड़ सकता है। वह अपनी खोई हुई शक्ति और स्वाधीनता पुनः प्राप्त कर सकता है। मनुष्य की संकल्प-शक्ति में अद्भुत क्षमता है। जो आत्मा अपने सामर्थ्य से परमेश्वर बन सकता है, अनादिकालीन संस्कारों-कर्मों से छुटकारा प्राप्त कर सकता है, वह क्या अफीम जैसी साधारण वस्तु से मुक्ति नहीं पा सकता ? क्यों नहीं पा सकता, मगर छुटकारा पाने की तमन्ना जागे तभी। अपने भावना-बल का उपयोग करे तो वही सभी कुछ छोड़ सकता है। इसी प्रकार असत्य का अवलम्बन करने वाला चाहे तो उसे छोड़कर सत्य का अवलंबी बन सकता है।

असत्य वस्तु से कभी शान्ति नहीं मिलती। सत्य का सहारा लेने से ही शान्ति नसीब होती है। असत्य को स्वीकार करने वाले ने अफीमची की तरह सोचा था कि मैं इसे नियंत्रित रक्खूंगा, पर ऐसा न हो सका। असत्य ने उसें ऐसा जकड़ लिया कि निकलना कठिन हो गया। जो असत्य की गुलामी में रहना नहीं चाहता उसे उद्योग करना चाहिए। विश्व में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो उद्योग के द्वारा प्राप्त न की जा सकती हो।

सुबाहुकुमार असत्य को त्याग कर सत्य की उपासना में लीन हो गया। सत्यधर्म को स्वीकार कर ईश्वर-ध्यान में वह ऐसा

लीन हो गया कि संसार के सब सुख उसे तुच्छ दिखाई देने लगे। इस अवस्था का आनन्द कैसा अद्भुत, अलौकिक, अनुपम और अनिर्वचनीय है, यह तो अनुभवी ही जानता है, मगर वह भी वाणी से कह नहीं सकता। पुस्तकों को पढ़कर विद्वान् पुरुष जो आनन्द-लाभ करता है, वह अनपढ़ कैसे समझ सकता है!

मिठाई का स्वाद बच्चा भी ले सकता है और बूढ़ा भी ले सकता है। संसार के भोग भी इसी प्रकार के हैं। हरेक ग्रहण करके इनका आस्वाद ले सकता है। परन्तु पुस्तक का आनन्द जैसे विद्वान ले सकता है, अपढ़ नहीं; इसी प्रकार ईश्वर-चिन्तन का अलौकिक सुख अभ्यासी ही ले सकता है, दूसरा नहीं।

ईश्वर-चिन्तन का सुख निराला है। संसार का कोई भी सुख उसकी बराबरी नहीं कर सकता। धर्मशास्त्रों में बड़े ही मनोहर शब्दों में उसका वर्णन किया गया है। गीता में भी उस पर प्रकाश डाला गया है। मगर भाषा कभी परिपूर्ण अनुभव को व्यक्त नहीं कर पाती। वास्तव में ईश्वरचिन्तन-ध्यान सभी दुःखों का नाश करने वाला है।

सुबाहुकुमार ध्यान में बैठा विचार करता है। वह अपने वर्तमान जीवन के साथ पूर्व-जीवन की तुलना कर रहा है। मन ही मन कहता है—अहा! कहाँ यह धर्ममय सुखकर जीवन और कहाँ वह भोग-जीवन! आकाश और पाताल का अन्तर! मैं पहले भोग में सुख मानता था, अब भोग रोग के रूप में दिखाई देते हैं। भोगों में वास्तविक सुख नहीं था, वास्तविक सुख तो धर्म में है। धर्महीन जीवन वृथा है।

सुबाहु की ओर ध्यान दीजिये। वह कहता है—धर्महीन जीवन वृथा है।' बात एकदम सत्य है। धर्म के बिना मनुष्य की वास्तविक कद्र नहीं होती। जैसे सुगन्ध के बिना फूलों को और पानी के बिना मोतियों की कीमत नहीं होती, उसी प्रकार धर्म के बिना मनुष्य का मूल्य नहीं।

(१६)
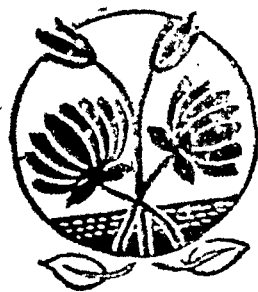
सुबाहु का नूतन सत्संकल्प।
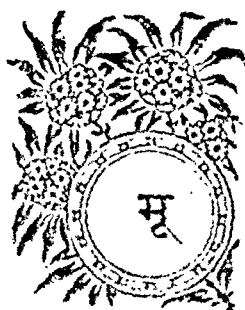
मूल पाठ—तए णं तस्स सुबाहुस्स कुमारस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स इमे एयारूवे अज्झत्थिए ५ समुप्पन्नेः—

धन्ना णं ते गामागर-णगर-जाव सन्निवेसा जत्थ णं समणे भगवं महावीरे जाव विहरइ। धन्ना णं ते राईसर-तलवर। जे णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए पंचाणुव्वइयं जाव गिहिधम्मं पडिवज्जंति। धन्ना णं ते राईसर० जाव जे णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए धम्मं सुणेंति। तं जइ णं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे इहमागच्छिज्जा जाव विहरिज्ज, तए णं अहं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडे भवित्ता जाव पव्वएज्जा।

अर्थात्—तत्पश्चात् सुबाहुकुमार को आधी रात के समय धर्मजागरण करते हुए इस प्रकार का यह विचार उत्पन्न हुआ :—

धन्य हैं वह ग्राम, आकर, नगर यावत् सन्निवेश, जहाँ श्रमण भगवान महावीर यावत् विचरते हैं। धन्य हैं वह राजा, राजकुमार, तलवर आदि जो श्रमण भगवान महावीर के निकट मुंडित होकर दीक्षा धारण करते हैं। धन्य हैं वह राजा, राजकुमार

और तलवर आदि, जो श्रमण भगवान महावीर के निकट पंच अणुव्रत यावत् बारह प्रकार का गृहस्थधर्म स्वीकार करते हैं। धन्य हैं वह राजा और राजकुमार आदि, जो श्रमण भगवान् महावीर के निकट धर्म-श्रवण करते हैं। यदि श्रमण भगवान् महावीर अनुक्रम से चलते हुए, ग्रामानुग्राम विहार करते हुए यहाँ पधारें यावत् विचरें तो मैं श्रमण भगवान् महावीर के निकट मुंडित होकर यावत् दीक्षा धारण करूँ।

× × × × ×

धर्म-जागरण करते हुये सुबाहुकुमार ने सोचा—धन्य है वह भूमि और वह क्षेत्र, जहाँ श्री महावीर विराजते हैं।

यहाँ यह विचारणीय है कि सुबाहु ने उस भूमि और क्षेत्र को धन्यवाद क्यों दिया? धन्यवाद इसलिए दिया कि वह भूमि उसका कल्याण करने वाली थी। उसी भूमि पर धर्म का उपदेश होता था। । कल्याणकारिणी भूमि को धन्यवाद देना ही चाहिए।

अमेरिका के डाक्टर थोअर ने भारतवर्ष के वेदान्त विषय का भलीभाँति अध्ययन किया था। उन्हें आध्यात्मिक विषयों से बहुत प्रेम था। वह एक दिन अपने शिष्यों के साथ जंगल में घूम रहे थे। शिष्य ने प्रश्न किया—'दुनिया की सब से अच्छी भूमि कौनसी है?' डाक्टर थोअर ने उत्तर दिया—'सब से उत्तम भूमि वही है, जिस पर हम लोग दो पैर रख कर खड़े रहें।'

शिष्य इस उत्तर से बहुत चकराया। उसने सोचा—मैंने सुना है कि जहाँ सुन्दर महलों जैसे मकान खड़े हों और सुन्दर

सड़कें हों, जहाँ विलास की समस्त सामग्री सुलभ हो, वही अच्छी भूमि कहलाती है और ऊँची-नीची, खड्डे वाली जमीन खराब मानी जाती है। मगर डाक्टर साहब कहते हैं—ऐसा नहीं। जिस भूमि पर तुम खड़े हो वही उत्तम भूमि है और दूसरी समस्त भूमि, चाहे वह कैसी ही हो, दूसरे के लिए कितनी ही अच्छी हो, तुम्हारे लिए किसी काम की नहीं। जैसे तुम्हारे लिए तुम्हारा ही शरीर लाभ-दायक हो सकता है, वैसा दूसरे का नहीं। अपनी चीज सब को प्यारी होती है। चींटी से कहा जाय कि तू अपना शरीर छोड़कर चक्रवर्ती का शरीर धारण कर ले तो वह स्वीकार नहीं करेगी।

जिस शरीर से आत्मा को आनन्द की उपलब्धि हो, वही बड़ा है। उसके सिवाय और सब तुच्छ हैं। आँख से रत्न देखा जाता है और रत्न की कीमत लाख रुपया है। बताइए, रत्न बड़ा या आँख बड़ी? आँख, क्योंकि आँख के अभाव से रत्न नहीं देखा जा सकता।

सुबाहुकुमार ने महावीर भगवान् के उपदेश का सन्मान किया था, अतएव जहाँ उनका उपदेश होता था, वही क्षेत्र उसके लिए धन्यवाद के योग्य था। उस क्षेत्र के सामने स्वर्ग भी उसके लिये तुच्छ था।

सुबाहुकुमार महापुरुष था। जिसके प्रति उसकी भक्ति थी, उसी को उसने धन्यवाद दिया। उसने स्वर्ग को धन्यवाद नहीं दिया। [illegible] वही क्षेत्र कल्याणकारी होता।

अमेरिका का [illegible] लोगों की दृष्टि में कितने ही भयङ्कर और सौन्दर्यशाली क्यों न हो, हमारे लिए आर्यदेश ही सर्वोत्तम है।

यह भूमि स्वर्ग से भी गरीयसी है। इसी भूमि में हमारा रक्षण हुआ है, पालन-पोषण हुआ है। यही भूमि हमारा कल्याण करेगी। हमें, उसी भूमि की चाह होनी चाहिए जहाँ शान्तिपूर्वक प्रभु का ध्यान हो सके। हमें मोक्ष की भी आकांक्षा नहीं होनी चाहिये। प्रभु का ध्यान करने से मोक्ष तो आप ही हमारे स्वागत के लिए तैयार रहेगा। 'यस्य मोक्षेऽप्यनाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति।' मोक्ष वही पाता है, जिसमें मोक्ष की भी आकांक्षा नहीं रहती।

एक उदाहरण से आशय स्पष्ट हो जायगा। वह इस प्रकार है:—एक बार इन्द्र विमान लेकर व्रजभूमि पर आया। उसने गोपियों से कहा—मैं तुम्हें वैकुंठ-स्वर्ग में ले चलने के लिए आया हूँ। इस विमान में बैठकर चलो और वहाँ का सुख भोगो।'

गोपियों ने उत्तर दिया—

व्रज व्हालुं अमने वैकुंठ नथी आववुं।
त्यां नन्दनो लाल क्यांथी लाववुं।
व्रज व्हालुं० ॥

अहा! इन शब्दों में कितना मर्म भरा है? गोपियाँ इन्द्र से कहती हैं—हमें तुम्हारे वैकुंठ की परवाह नहीं है। तुम्हारा स्वर्ग तुम्हीं को मुबारिक हो।

आश्चर्य के साथ इन्द्र ने कहा—ऐं क्या कहती हो तुम?

गोपियाँ—तुम्हारा स्वर्ग हमें नहीं चाहिए।

इन्द्र—क्यों ? तुम्हें यहाँ क्या सुख है ? दिन भर गौएँ चराती हो और छाछ रोटी खाती हो। स्वर्ग में सभी प्रकार का सुख है। स्वर्ग-सुख के लिए लोग तो बड़ी-बड़ी तपस्याएँ करते हैं, भजन करते हैं। तुम्हें मुफ्त में मिल रहा है। तुम बड़ी ही अभागिनी गिनी जाओगी, अगर स्वर्ग के सुख को ग्रहण न करोगी।

गोपियाँ—जरा यह तो बताओ कि बड़ी-बड़ी तपस्या करने वालों को तो तुम स्वर्ग नहीं देते और जिन्हें इच्छा नहीं है, उन्हें देने आये हो, सो इसका कारण क्या है ?

इन्द्र—तुम में भक्ति है, इसलिए।

गोपियाँ—किसकी भक्ति है ?

इन्द्र—कृष्ण की।

गोपियाँ—कृष्ण कहाँ है ?

इन्द्र—व्रज में, वृन्दावन में।

गोपियाँ—कृष्ण व्रज में हैं और हम कृष्ण की भक्ति करती हैं। तब स्वर्ग जाकर क्या करेंगी ? वहाँ कृष्ण है ?

इन्द्र—नहीं, कृष्ण वहाँ कहाँ से आये ?

गोपियाँ—तो व्रज के सामने तुम्हारा स्वर्ग तुच्छ है।

इन्द्र इस उत्तर से दंग रह गया। गोपियों को कृष्ण की भक्ति के कारण स्वर्ग तुच्छ और व्रज महान मालूम होता है।

पुराणों में कृष्ण का चरित आलंकारिक भाषा में वर्णन किया गया है। उसमें कूट-कूट कर आध्यात्मिक विषय भरा है। मगर अज्ञान लोगों ने उसे शृंगार का रूप दे दिया है। कृष्ण के असली चरित को समझने वाले बहुत थोड़े हैं।

कृष्ण का चरित महान् है। इस चरित को आध्यात्मिक विषय में उतारने से यह अतीव आनन्द-प्रद बन जाता है।

आप में से बहुत से भाई कृष्ण का अर्थ समझते हैं—गोपियों के साथ स्वच्छन्द क्रीड़ा करने वाला पुरुष। खेद! पुरुषोत्तम कृष्ण के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग करने वालों को लज्जा क्यों नहीं आती! कृष्ण का चरित आध्यात्मिक दृष्टि से तो महान है ही, मगर व्यावहारिक दृष्टि से भी कम महान् नहीं है।

आध्यात्मिक दृष्टि से कृष्ण का अर्थ कर्म का क्षय करने वाला—आत्मज्योति प्रकट करने वाला है। गोपी का अर्थ गोपन करने वाली अर्थात् रक्षण करने वाली बुद्धि है। किस प्रकार? गौओं को पालकर अर्थात् इन्द्रियों को ठीक रास्ते पर लाकर।

भीतरी अर्थ को न समझकर अज्ञान लोगों ने कुछ और ही अर्थ लगा लिया है। इसी तरह व्रज का अर्थ है—जिसमें रहकर आत्मा में तल्लीन हो सकें, अर्थात् यह शरीर।

इस शरीररूपी व्रज में रहकर गोपियाँ कृष्ण-आत्मा की भक्ति कर रही हैं। वे इस भक्ति में इतनी लीन हैं कि स्वर्ग सुख भी उन्हें तुच्छ प्रतीत होता है।

अर्जुन, श्रीकृष्ण से पूछता है—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधी: किं प्रभाषेत किमश्नीयात् व्रजेत् किम् ?

—गीता, अ० २, श्लो० ५४

अर्थात्—हे केशव ! आत्मरमण में लीन रहने वाले पुरुष का लक्षण क्या है ? वह ज्ञानी पुरुष संभाषण आदि लोक-व्यवहार में किस प्रकार प्रवृत्त होता है ?

श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ ! मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

अर्थात्—हे अर्जुन ! जब कोई पुरुष अपने मन में उत्पन्न होने वाली समस्त कामनाओं को छोड़कर अपने स्वरूप में ही आप सन्तुष्ट हो जाता है—आत्माराम बन जाता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है ।

कृष्ण ने आत्म-रमण करने वाले पुरुष का स्वरूप कितना स्पष्ट बतलाया है ? ऐसे महान् पुरुष को जो लोग व्यभिचारी कहते हैं, कामी बतलाते हैं, उन्हें क्या कहा जाय ? कृष्ण के आन्तरिक विचारों को गहरे उतर कर समझो । चाहे आप जैन हों या वैष्णव, कृष्ण को ऊपरी दृष्टि से मत देखो ।

मर्यादा पुरुष कृष्ण को कुछ लोगों ने व्यभिचारी, कामी, गोपियों के साथ विलास करने वाला बतलाकर उनकी [illegible] उड़ाई है । उन्होंने कृष्ण का अनादर करके अपना [illegible]

पूरा करने की कल्पना की है। 'प्रजहाति यदा कामान्' कहने वाला कृष्ण कभी व्यभिचारी हो सकता है !

गोपियाँ श्रीकृष्ण की भक्ति में तन्मय थीं। वे कृष्ण की भक्ति में ऐसी डूबी थीं कि स्वर्ग भी उन्हें तुच्छ मालूम होता था। वे स्वर्ग-सुख को ठोकर मारती थीं। उन्हें अपना व्रज ही प्यारा लगता था।

मित्रो ! क्या आप भी प्रभु की भक्ति इसी प्रकार करोगे ? जो प्रभु-भक्ति में लीन हो जाता है वह हँसता हुआ शूली पर चढ़ जाता है। उसे शूली में भी आनन्द का अनुभव होता है। भक्ति सस्ती चीज नहीं। दमड़ी-दमड़ी के लिए हाथ फैलाने वालों से भक्ति नहीं होती। छोकरा-छोकरी के लिए रामदेवजी के आगे मस्तक रगड़ने वाले भक्ति का मर्म नहीं समझ सकते। ईश्वर-भक्त निराला ही होता है :—

> दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
> वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
>
> —गीता, अ० २, श्लो० ५६

दुःख आ पड़ने पर जो घबराता नहीं है और सुखों में आसक्त नहीं होता, जो वीतराग बन गया है, भय और क्रोध को भी जिसने जीत लिया है, वह ईश्वरनिष्ठ या आत्मनिष्ठ अथवा स्थितिप्रज्ञ कहलाता है।

छोकरा-छोकरी के लिये हाथ फैलाने वालों में यह गुण सम्भव है ? जो मनुष्य ऐसे तुच्छ कामों के लिए हाय-हाय करते

फिरते हैं, उन्हें कौन स्थितप्रज्ञ कहेगा ? ऐसी मोहमयी भावना रखने वाले स्वर्ग को ठोकर मार सकते हैं ?

भाइयो, यह आपकी कसौटी है। इस कसौटी पर खरे उतरने से ही आप सच्चे सम्यग्दृष्टि बन सकते हो। ईश्वर-भक्त कभी हाय-हाय नहीं करता। वह संसार की तमाम वस्तुओं को तुच्छ मानता है। उसे सिर्फ प्रभु के चरणों की भक्ति चाहिए। इसके सिवाय वह कुछ भी नहीं माँगता। जैनसिद्धान्त आपको यही शिक्षा देता है।

याद रक्खो, सुख की भीख माँगने वाले को सुख नहीं मिलता। सुख का इच्छा-पूर्वक त्याग करने वाले ही सुख के पात्र होते हैं। आप समझते हैं—सुख का त्याग करने से हम सुख से वञ्चित हो जाएँगे। यह समझ ही सच्चे सुख से वंचित करती है। सुख का दान करने वाले के पास सुख भागा आता है।

सुबाहुकुमार ने कोमल शय्या का सुख त्याग कर डाभ का आसन अंगीकार किया। सुस्वादु आहार का सुख त्याग कर अष्टम-भक्त धारण किया। उन्हें ध्यान में लीन हुये आज तीन दिन हो गये। वह अवर्णनीय आनन्द का अनुभव कर रहा है। ध्यान का आनन्द ध्यान-अनुभवी ही समझ सकता है। जिन्होंने ध्यान का अभ्यास ही नहीं किया, उन्हें वह कष्टदायक प्रतीत होता है।

सुबाहुकुमार ने सर्वप्रथम उन देशों को—ग्रामों को—धन्यवाद दिया, जहाँ श्री महावीर प्रभु विचर रहे हैं। देशों को धन्यवाद देने के साथ उनमें रहने वालों को भी धन्यवाद दिया गया है।

उसने राजा, मन्त्री, सेनापति आदि को भी धन्यवाद दिया, जिन्होंने भगवान् की पवित्र वाणी सुनकर अपने आत्मा के सर्वोत्तम कल्याण के लिए मुनिदीक्षा धारण की अथवा श्रावक के व्रत धारण किये हैं। यही नहीं, जिन्होंने व्रत धारण न करके भक्तिभाव से, श्रद्धा-पूर्वक सिर्फ उपदेश सुना, उन्हें भी उसने धन्यवाद दिया।

धर्मोपदेश सुनने वालों को धन्यवाद देने का आशय आप क्या समझते हैं? धर्म किसी खास समूह, जाति या वर्ग की वस्तु नहीं है। धर्म किसी के ठेके में नहीं है। सब को धर्म-श्रवण करने का समान अधिकार है। कई भाई कहते हैं—'दूसरे लोग हमारे धर्म का उपदेश सुनने क्यों आवें? अन्त्यज धर्म सुनकर क्या करेंगे?' इन भाइयों ने अभी तक धर्म का अर्थ नहीं समझा। समझने वाला ऐसी बात नहीं कह सकता।

सुबाहुकुमार ने धर्म सुनने वालों को धन्य माना है। यह बात याद रखकर आप कभी किसी को धिक्कार न दें। धर्मश्रवण के लिये चाहे ढेड़ आवे, चमार आवे, महतर आवे या और कोई आवे, आप सब को प्रेमपूर्वक आश्वासन दें। आप ऐसा करेंगे तो धर्म की बहुत उन्नति होगी।

भगवान् महावीर के निकट सब प्रकार के मनुष्य धर्म सुनाने के लिये आते थे। धर्म सुनने का अधिकार मनुष्यों को तो क्या, जानवरों को भी है। भगवान् के समवसरण में सिंह और सर्प भी उनकी पावन वाणी सुनकर अपने को धन्य-धन्य समझते थे।

सुबाहुकुमार की धार्मिक वृत्ति बढ़ती-बढ़ती यहाँ तक बढ़ गई कि उसे भगवान् के समीप दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा हुई।

कैसा पवित्र विचार है ? सुबाहु ने राजपाट त्यागने का विचार कर लिया। मन में संयम धारण करने की प्रबल इच्छा जाग उठी। उसका अभिमान गल गया। मन में अपूर्व शान्ति का झरना बहने लगा। उसने संसार के पदार्थों की अस्थिरता पर विचार किया। अन्त में वह इसी निश्चय पर पहुँचा, कि संसार के सब पदार्थ निस्सार हैं। इनमें से अन्त समय साथ देने वाला एक भी नहीं है। यह सुन्दर शरीर भी साथ देने वाला नहीं है, तो और कोई क्या साथ देगा ! साथ देने वाला तो केवल धर्म ही है। आत्मा, अनन्त काल से इस संसार में भटक रहा है—इन सांसारिक पदार्थों पर मोहित हो रहा है—परन्तु इन सांसारिक पदार्थों से आत्मा का जरा भी उपकार नहीं हुआ; हानि अवश्य हुई। इन पदार्थों में उलझे रहने और पाप करते रहने के कारण, यह आत्मा बार-बार ऐसे शरीरों में जन्मता-मरता रहा, कि जो अपूर्णांग थे और जिनसे धर्म का पूरी तरह पालन नहीं हो सकता था।

मनुष्य-शरीर पूर्णांगी है। ऐसा पूर्णांगी और कोई शरीर नहीं है। दूसरे शरीर में यदि बोलने की शक्ति है, तो देखने की नहीं है; देखने की है, तो सुनने की नहीं है; सुनने की है, तो सूँघने की नहीं है और सूँघने की शक्ति भी है, तो अच्छे-बुरे की पहिचान नहीं है। हाथ हैं तो पैर नहीं, पैर हैं तो कान नहीं, कान हैं तो नाक नहीं; और ये सब-कुछ हैं, तो मनुष्य की सी बुद्धि नहीं है। मतलब यह कि मनुष्य-शरीर की विशेषताएँ दूसरे किसी शरीर में नहीं हैं। इसलिए मनुष्य-शरीर पूर्णांगी कहलाता है।

सुबाहुकुमार विचारता है कि इस भव में यह पूर्णांगी मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। इस शरीर के प्राप्त होने पर भी यदि मैं

जन्म-मरण के दुःख से छूटने का उपाय न करूँगा, तो फिर कब करूँगा! इसका होना तभी सार्थक है, जब इसके द्वारा ऐसा धर्म लाभ करूँ, कि इस आत्मा को फिर संसार में जन्मना-मरना न पड़े। लेकिन यह तभी सम्भव है, जब आरम्भपरिग्रह को पूरी तरह त्याग कर मुनि-वृत्ति धारण करूँ, यानी मुनि हो जाऊँ।

आज मैं जिन सांसारिक सुखों को अपना जानकर उनमें लिपट रहा हूँ, वास्तव में वे मेरे मित्र नहीं, किन्तु शत्रु हैं। वे मुझको लाभ पहुँचाने वाले नहीं, किन्तु हानि पहुँचाने वाले हैं। अनन्तकाल से मैं इनको अपना समझकर धोखा खा रहा हूँ। अब इस बात को समझकर भी इन्हीं में लिपटे रहना बुद्धिमानी नहीं है। वे सांसारिक पदार्थ—जिन्हें मैं अपना समझ रहा हूँ—एक दिन निश्चय ही छूट जाएँगे। मैं चाहे इनको चाहता ही रहूँ, परन्तु ये तो मुझे छोड़ ही देंगे। जिस समय ये मुझे छोड़ेंगे, तब मुझे दुःख होगा; इसलिए मैं ही इनको क्यों न त्याग दूँ! अनिच्छा-पूर्वक छूटने का दुःख क्यों सहूँ! इच्छा-पूर्वक ही क्यों न छोड़ दूँ। जब मैं स्वयं ही इनको छोड़ दूँगा, तो मुझे दुःख भी न होगा और मेरा कल्याण भी होगा। इसलिए यही उत्तम है कि मैं इन सब को त्याग कर दीक्षा ले लूँ। कहा है:—

> अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया।
> वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्॥
>
> व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः।
> स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥
>
> भर्तृ० वै० श०

अर्थात्—बहुत काल से ग्रहण किये हुये विषयों को त्यागने में मनुष्य स्वयं चाहे समर्थ न हो, लेकिन ये विषय छूटकर अवश्य ही जावेंगे। परन्तु इन दोनों प्रकार के वियोग में क्या अन्तर है? यही कि यदि विषयों ने अपनी स्वतन्त्रता से छोड़ा तो जिसे विषयों ने छोड़ा है उसे महान् दुःख होगा और यदि विषयों को स्वयं ही त्याग दिया, तो विषयों को त्यागने वाला अनन्त शान्ति तथा सुख का अनुभव करेगा।

सुबाहुकुमार ने, भगवान् महावीर के हस्तिशिखर नगर में पधारने पर दीक्षा लेने का विचार किया। इस पर से प्रश्न होता है, कि सुबाहुकुमार भगवान् महावीर के पास ही क्यों न चला गया? या एक प्रार्थना-पत्र ही क्यों न भेज दिया कि आप पधारिये, मैं दीक्षा लूँगा?

इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है, कि एक तो सुबाहुकुमार यह देखना चाहता है कि मैं दीक्षा के योग्य हूँ या नहीं! क्योंकि भगवान् सर्वज्ञ हैं। अतः यदि वे मेरी इच्छा पर पधार गये, तो मैं समझ लूँगा कि मैं दीक्षा के योग्य हूँ। यदि मैं दीक्षा के योग्य न होऊँगा, तो भगवान् न पधारेंगे। दूसरे, सुबाहुकुमार यदि हस्तिशिखर नगर में दीक्षा लेगा, तो उसके दीक्षित होने में दीक्षा का महत्व रहेगा। हस्तिशिखर नगर में सुबाहुकुमार को सब जानते हैं और सब को यह भी मालूम है कि सुबाहुकुमार राजकुमार है। राज्य त्याग कर दीक्षा लेने का प्रभाव, लोगों पर भी छिपा पड़े नहीं रह सकता। दीक्षा तो वह भगवान् महावीर के पास जाकर भी ले सकता था, परन्तु वहाँ जाकर दीक्षा लेने से दीक्षा का इतना महत्व

न बढ़ता जितना महत्त्व हस्तिशिखर नगर में दीक्षा लेने से बढ़ा। क्योंकि दूसरी जगह उसको जानने वाले नहीं हैं। दूसरी जगह इसका परिचय देने की आवश्यकता होती, परन्तु हस्तिशिखर नगर में इसे सब जानते हैं इससे इसका परिचय देने की आवश्यकता नहीं है।

रही बात प्रार्थना-पत्र भेजने की। लेकिन सुबाहुकुमार को यह मालूम है कि भगवान् सर्वज्ञ से आत्मा द्वारा प्रार्थना भेजना-प्रार्थना करना उचित है, कागज या सन्देश द्वारा प्रार्थना भेजना उनकी सर्वज्ञता का अपमान करना है। कागज या सन्देश द्वारा प्रार्थना भेजने की आवश्यकता छद्मस्थ के ही लिये है; सर्वज्ञ के पास इस प्रकार से प्रार्थना भेजने की आवश्यकता नहीं है। इन्हीं कारणों से सुबाहुकुमार आप भी भगवान् के पास नहीं गया, न प्रार्थना पत्र ही भेजा।

सुबाहुकुमार ने दूर और समीप की वस्तुओं का आत्मा के साथ सम्बन्ध विचार कर, अन्त में यही निश्चय किया कि आत्मा का वास्तविक सहायक कोई पदार्थ नहीं है, केवल धर्म ही वास्तविक सहायक है। इसलिए इन सब को छोड़कर, मैं धर्म ही को पूरी तरह अपनाऊँगा और अपना तन मन उसकी सेवा में लगा दूँगा। अर्थात्—भगवान् के यहाँ पधारने पर दीक्षा लेकर मुनि बनूँगा।

दीक्षा लेने का अर्थ है, अपने शरीर को परोपकार के लिए समर्पण कर देना।

परोपकाराय सतां विभूतयः।

अर्थात्—सज्जनों की सम्पत्ति परोपकार के लिए ही होती है।

यहाँ प्रश्न होता है कि दीक्षा लेकर मुनि बनने वाले लोग क्या परोपकार करते हैं? वे न तो किसी को धन देते हैं, न भोजन देते हैं और न कोई दूसरी ही सहायता करते हैं। ऐसी दशा में दीक्षा लेने वाले अपने तन-मन को परोपकार के लिए समर्पण कर देते हैं, यह कैसे कहा जा सकता है?

परोपकार दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक अस्थायी और दूसरा स्थायी। अर्थात् एक तो थोड़ी देर के लिए किसी की कोई सहायता करना और एक सदा के लिए सहायता करना। धन भोजन आदि देकर जो परोपकार किया जाता है, वह स्थायी नहीं किन्तु थोड़ी देर के लिए—अधिक से अधिक उसके जीवन भर के लिए—होता है। महात्मा लोग, ऐसा अस्थायी उपकार नहीं करते किन्तु वह उपकार करते हैं, जिससे इस लोक में भी लाभ होता है और परलोक में भी। महात्माओं द्वारा किया गया उपकार किसी को वस्तु देने के उपकार के समान नहीं होता, किन्तु वस्तु-निर्माण की विधि बता देने के समान होता है। वस्तु देकर किये गये उपकार का लाभ तभी तक है, जब तक कि उस वस्तु का नाश नहीं होता है, लेकिन वस्तु-निर्माण की विधि बताकर किया गया उपकार जीवनभर के लिये लाभदाता है। यद्यपि विधि बताने में पदार्थ तो कोई नहीं दिया गया, फिर भी पदार्थ देने के उपकार से, पदार्थ-निर्माण की विधि बताने का उपकार कहीं बहुत ज्यादा है। पदार्थ देने और पदार्थ-निर्माण की विधि बताने के उपकार में कितना अन्तर है, यह बताने के लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक मनुष्य ने, एक सिद्ध की सेवा करके उसे प्रसन्न किया। सिद्ध ने प्रसन्न होकर उस मनुष्य से कहा, कि मेरे पास [illegible]

भी है और कुंभकलश बनाने की विधि भी मैं जानता हूँ। कुंभकलश में यह गुण है कि किसी भी वस्तु की इच्छा करने पर वह वस्तु उस कुंभकलश से उसी समय प्राप्त हो जाएगी और कुंभकलश बनाने की विधि जानने पर जब चाहो तभी कुंभकलश बन सकता है। यदि तुम चाहो तो मुझ से कुंभकलश ले सकते हो और यदि चाहो, तो कुंभकलश के निर्माण की विधि सीख सकते हो।

सिद्ध की बात सुनकर सिद्ध के सेवक ने विचार किया, कि प्रत्यक्ष लाभ को छोड़कर अप्रत्यक्ष लाभ के पीछे दौड़ना मूर्खता है। कुम्भकलश से तो मैं अभी ही लाभ उठा सकता हूँ परन्तु कुम्भकलश बनाने की विधि सीखने पर अभी लाभ नहीं उठा सकता। इसके सिवा क्या ठीक है, कि उस विधि से कुम्भकलश बन ही जावेंगे। इसलिये यही उत्तम है कि मैं सिद्ध के पास वाला कुम्भकलश ले लूँ।

इस प्रकार विचार कर, उसने सिद्ध से कुम्भकलश ले लिया और प्रसन्न मन घर को आया। घर आकर उसने अपने सब कुटुम्बियों से कह दिया, कि अब अपने को न तो कोई काम करने की ही आवश्यकता है, न चिन्ता करने की ही। इस कुम्भकलश से जो वस्तु चाहेंगे, यह वही वस्तु देगा। इसलिये अब कोई काम मत करो और जो कुछ चाहिए, इस कुम्भकलश से माँगकर आनन्द उड़ाओ।

कुटुम्ब के सभी लोग, कुम्भकलश के आश्रित हो गये। उन्होंने, खेती–वाड़ी, पीसना–कूटना वाणिज्य–व्यापार आदि सब कुछ छोड़ दिया। सभी लोग अकर्मण्य बनकर उस कुम्भकलश से माँग-माँग कर खाने लगे और इस प्रकार के जीवन को आनन्द का

जीवन मानने लगे। कुम्भकलश से वे जो कुछ चाहते, कुम्भकलश उन्हें वही वस्तु देता।

एक दिन सबने उस कुम्भकलश से अच्छी से अच्छी मदिरा माँगी। कुम्भकलश से मिली हुई मदिरा को सब लोगों ने खूब पिया और उसके नशे में मस्त बन गये। फिर उस कुम्भकलश को एक आदमी के सिर पर रखकर सब लोग नाचने लगे। शराब में मस्त होने के कारण उस समय उन लोगो को त्रैलोक्य की भी पर्वाह नहीं थी, तो कुम्भकलश की पर्वाह वे क्यों करने लगे थे! कुम्भकलश को सिर पर रखकर उपेक्षापूर्वक नाचने और आपस में धौल-धप्पे करने से कुम्भकलश सिर पर से गिरकर फूट गया। कुम्भकलश के फूटते ही उन लोगों का नशा भी उतर गया। जिस कुम्भकलश की कृपा से अब तक कार्य चल रहा था, वह तो नष्ट होगया और जिन उपायों से कुम्भकलश मिलने के पहले जीवन-निर्वाह होता था, उन्हें वे लोग भूल गये थे तथा उनके साधन भी नष्ट हो गये थे, इसलिये वे सब लोग एक साथ ही कष्ट में पड़ गये।

मतलब यह, कि जो कुम्भकलश फूट गया है, उसके बनाने की विधि यदि उन लोगों में से किसी को मालूम होती, तो उन लोगों को कष्ट में न पड़ना पड़ता। इसलिए पदार्थ देकर सुख देने की अपेक्षा, सुख प्राप्ति का उपाय बताना बहुत बड़ा उपकार है। साधु लोग यही उपकार करते हैं। वे पदार्थ द्वारा सुख देकर अपकारक नहीं बनाते, किन्तु धर्म सुनाकर सुख-प्राप्ति का उपाय ही बता देते हैं, जिससे फिर दुःख हो ही नहीं। वे लोग आध्यात्मिक विद्या सिखाते हैं। सब ऋद्धि इस विद्या को जानने वाले की दासी है। यह विद्या जानने वाले को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं रहता। अस्तु।

सुबाहुकुमार पौषध से उठे। घर पर पारणा करने के लिए गये। संयम धारण करने के लिए उनके मन में जो विचार उठे थे, उनके विषय में उन्होंने किसी से सलाह न ली। सुबाहु स्वतन्त्र विचार वाले थे। वह अपनी आत्मा की साक्षी को ही सब से बड़ी सलाह मानते थे। शुद्ध आत्मा जिस बात की साक्षी दे दे, वह काम उन्नति का ही होता है। आत्मा ज्ञानी है। आत्मा साक्षात् ईश्वर है। शान्त मन से, संकल्प-विकल्प त्याग कर अगर कोई सलाह पूछोगे तो वह नेक सलाह देगी। आपका मन चञ्चल रहता है, इसी कारण आपको इस सत्य की प्रतीति नहीं होती।

एक बर्तन में स्वच्छ निर्मल जल स्थिर रूप से पड़ा है। अगर आप देखेंगे तो उसमें आपका मुँह साफ दिखाई देगा। उसी पानी के बर्तन के नीचे आपने आग लगाई और पानी उकलने लगा। क्या उस समय आप अपना मुँह उसमें देख सकेंगे? नहीं। इसी प्रकार जब हवा से पानी चञ्चल हो या स्वयं मैला हो तब भी मुँह दिखाई नहीं देता। यदि आप पानी को उबालना बन्द कर दें, कीचड़ निकाल कर साफ कर दें और उसे स्थिर रक्खें तो मुँह दीख सकता है। पानी में स्थिर रहने की शक्ति है। उस शक्ति को विकृत न करने से मुँह दिखाई दे सकता है।

मन की भी यही दशा है। मन-रूपी पानी के नीचे जब तक कषाय-रूपी अग्नि जलती रहेगी तब तक आपको असली स्वरूप दिखाई न देगा। इसी प्रकार जब तक आपने अपने मन में काम-क्रोध-रूपी कीचड़ घोल रक्खे हैं, तब तक आत्मा का सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। कषाय-अग्नि के बुझ जाने पर और क्रोध आदि रूप कीचड़

के साफ हो जाने पर आपको आत्मा का सच्चा दर्शन होगा। तब आप समझ जाएँगे कि आत्मा में कितनी शक्ति है! आत्मा की अजब-गजब शक्ति का पता शान्त अवस्था में ही लगता है। इस सचाई की साक्षी के लिए एक उपाय किया जा सकता है। रात्रि में बारह बजे सोते समय मन को शान्त रख कर आप आदेश दें कि मुझे तीन बजे जगा देना। यह आदेश देकर आप सो जाएँगे, आप प्रतिदिन जल्दी सोते थे और तीन बजे उठने का भी अभ्यास नहीं था, फिर भी आप देखेंगे कि ठीक तीन बजे आपकी निद्रा भंग हो जाएगी। यह जगाने वाला कौन है? मन। आप जब सोते रहते हैं तब भी आपका मन बराबर काम करता रहता है। मन कभी सोता नहीं। इसे वश में करके इससे उचित काम लेना आपके हाथ में है। मन आपके ऐसे-ऐसे काम कर सकता है कि आप चकित हो जाएँगे।

सुबाहुकुमार धर्म में पूरी तन्मयता के साथ डूब गया। उसकी संयम लेने की इच्छा बलवती हो उठी। महावीर स्वामी तो पहले ही जानते थे कि सुबाहुकुमार संयम ग्रहण करेगा। गौतम के प्रश्न करने पर यह बात उन्होंने पहले ही बतला दी थी। भगवान् घट-घट की बात जानते थे। भूत और भविष्यकाल उन्हें साक्षात् दिखलाई देते थे। उन्होंने सुबाहुकुमार का संयम लेने का संकल्प जान लिया।

(१७)

भगवान् का पुनः पदार्पण

[दीक्षा की तैयारी]

मूलपाठ—तए णं समणे भगवं महावीरे सुबाहुस्स कुमारस्स इमं एयारूवं अज्झत्थियं जाव वियाणित्ता पुव्वाणुपुव्विं जाव दूइज्जमाणे जेणेव हत्थिसीसे णगरे, जेणेव पुप्फकरंडे उज्जाणे, जेणेव कयवणमालपियस्स जक्खस्स जक्खाययणे, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। परिसा राया निग्गया।

तए णं से सुबाहुकुमारे तं महया जहा पढमं तहा निग्गओ। धम्मो कहिओ परिसा राया पडिगया। तए णं से सुबाहुकुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे मेहे जहा अम्मापियरो आपुच्छइ। णिक्खमणाभिसेओ, तहेव अणगारे जाए। इरियासमिए जाव गुत्ते गुत्तबम्भयारी।

अर्थात्—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर, सुबाहुकुमार का यह विचार यावत् जानकर अनुक्रम से विचरते हुये हस्तिशीर्ष नगर के पुष्पकरण्डक उद्यान में, कृतवनमालप्रिय यक्ष के यक्षायतन

में पधारे। पधारकर यथोचित आज्ञा लेकर, स्थान ग्रहण करके संयम और तप-पूर्वक आत्मा को भावित करते विचरने लगे। परिषद् और राजा लौट गये। सुबाहुकुमार भगवान् का उपदेश सुनकर हर्षित और संतुष्ट हुआ। मेघकुमार की तरह माता-पिता से आज्ञा माँगी। दीक्षा-उत्सव हुआ। सुबाहुकुमार साधु हो गये। वह ईर्यासमिति और गुप्ति से युक्त एवं ब्रह्मचारी हुये।

× × × × ×

भगवान महावीर को शिष्य बनाने की लालसा नहीं थी। शिष्य न बनने से उन्हें मुक्ति प्राप्त करने में भी कोई बाधा नहीं आती थी। फिर भी जगतहित की भावना से भगवान् कोसों पैदल चलकर हस्तिशीर्ष नगर आये और पुष्पकरण्डक बगीचे में ठहर गये।

सारे नगर में भगवान् के पधारने की खबर बिजली की तरह फैल गई। सब लोग भगवान् के दर्शन करने, उन्हें वन्दना नमस्कार करने और भगवान् के मुख-कमल से निकले हुये अमृत-मय उपदेश को श्रवण करने के लिए पुष्पकरण्डक उद्यान की ओर चले। सुबाहुकुमार को भी भगवान् के पधारने की शुभ-सूचना मिली। उसके हर्ष का पार न रहा। उसे ऐसी प्रसन्नता हुई जैसे प्यासे को पानी, भूखे को भोजन, निर्धन को धन, अन्धे को आँख और पंखी को पंख मिलने पर होती है। वह भी पहले की ही तरह भगवान् की सेवा में उपस्थित हुआ। सब लोगों के वन्दना नमस्कार कर चुकने पर और यथा-स्थान बैठ जाने पर, भगवान् सब को धर्मोपदेश सुनाने लगे। वे फरमाने लगे :—

"हे संसार के प्राणियो! अपने भूत और भविष्य का विचार करो। एक दिन वह था, जब कि तुम निगोद में पड़े थे। उस समय

तुम्हें क्या-क्या कष्ट भोगने पड़े, वह तुम्हें आज मालूम नहीं है। किसी पुण्य के उदय होने से, तुम उस निगोद से निकलकर क्रमशः एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चौन्द्रिय शरीर में आये। पश्चात् तुम्हारी पुन्यवानी और बढ़ी, जिससे तुम्हें पंचेन्द्रिय और उसमें भी यह उत्तम मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ। मनुष्य-शरीर प्राप्त होने से पूर्व तुम्हें किन-किन कष्टों को सहना पड़ा है, इसके लिए तुम वनस्पति, पतंगा कीड़े-मकोड़े और पशुओं को देखो। उन्हें देखकर और उनके कष्टों का पता लगाकर अपने भूत का निश्चय करो, कि हमने इन कष्टों को न मालूम कितनी बार सहा है! तुम लोग यदि उतनी दूर की बात न देखना चाहो, तो इस मनुष्य-शरीर पर से ही अपने कष्टों का पता लगाओ। इस मनुष्य-शरीर में जन्म धारण करने के पूर्व माता के गर्भ में तुम लोगों ने कितना कष्ट सहा है! नौ मास तक एक संकुचित स्थान में उल्टे टंगे रहना, मल-मूत्रादि में लिपटे रहना, क्या कम कष्ट है? इन कष्टों को निरन्तर भोगते-भोगते तुम्हें यह मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। यह शरीर क्यों प्राप्त हुआ है? इस शरीर के प्राप्त होने से क्या लाभ है? क्या उस शरीर को भी तुम लोग उसी प्रकार गँवाना चाहते हो, जिस तरह कि अन्य शरीरों को गँवाया है? मनुष्य-शरीर के सिवा दूसरे शरीर में तो तुम में भूत भविष्य के विचारने की शक्ति नहीं थी, इसलिये उन शरीरों को उस तरह व्यतीत कर देने पर तुम्हें कोई मूर्ख नहीं कह सकता। परन्तु इस मनुष्य-शरीर को जिसमें कि भूत-भविष्य के विचारने की शक्ति है, उसी तरह व्यतीत कर देना क्या मूर्खता न होगी? क्या यह शरीर भी उन्हीं कार्यों के लिये मिला है, जिन कार्यों को अन्य शरीर में रहकर भी किया जाता है? तुम जिन भोगों में सुख

मानकर निश्चिन्त बैठे हो, वे भोग ही तुम्हारे शत्रु हैं। इन भोगों से ही तुम्हारा पतन होगा। यह मनुष्य-शरीर इन भोगों को भोगने के लिए नहीं है। ये भोग तो पशु-शरीर में भी भोगे जा सकते हैं, इसलिए इनको भोगना ही मनुष्यता का चिह्न नहीं है। मनुष्य-शरीर तुम्हें तप के लिए मिला है। इस मनुष्य-शरीर को पाकर तप द्वारा आत्म-कल्याण करो और ऐसा सुख प्राप्त करो, जिसके पीछे दुःख न हो। यदि यह मनुष्य-शरीर भी तुमने उसी प्रकार व्यतीत कर दिया-जिस प्रकार कि अन्य शरीरों को व्यतीत किया है, तो तुम्हारे लिए वे ही कष्ट तैयार हैं, जिन्हें तुम भूतकाल में भोग चुके हो। इसलिए ऐसा कार्य करो, जिससे वे दुःख फिर न भोगने पड़ें।

श्रोतागण! मेरा और तुम्हारा आत्मा समान है। जो मैं हूँ, वही तुम हो। अन्तर केवल इतना ही है कि मेरा आत्मा अज्ञान-आवरण से ढँका हुआ नहीं है और तुम्हारा आत्मा ढँका हुआ है। जिन कष्टों का मैंने दिग्दर्शन कराया है, वे कष्ट मैं भी भोग चुका हूँ और अपने भूतकाल के अनुभव पर से ही मैं सतत इस उद्योग में लगा हूँ कि अब मुझे वे कष्ट न भोगने पड़ें। मैं तुम लोगों से भी यही कहता हूँ कि भूतकाल में भोगे हुए कष्टों का स्मरण करके अपना भविष्य देखो और ऐसे कार्य करो, कि जिनसे भविष्य में पुनः वे कष्ट न भोगने पड़ें।

तुम्हारा आत्मा भविष्य के कष्ट से तभी मुक्त हो सकता है, जब वह मोक्ष प्राप्त कर ले। जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं करता है, तब तक तुम्हें यों ही जन्म-मरण करना पड़ता है और तब तक इसी से कष्ट भोगने ही पड़ेंगे, जिन्हें कि तुम भोग चुके हो। इसलिये उन उपायों को काम में लाओ, जिनके काम में लाने पर आत्मा मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

तुम्हें क्या-क्या कष्ट भोगने पड़े, यह तुम्हें आज मालूम नहीं है।
किसी पुण्य के उदय होने से, तुम उस निगोद से निकलकर क्रमशः
एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चौन्द्रिय शरीर में आये। पश्चात्
तुम्हारी पुन्यवानी और बढ़ी, जिससे तुम्हें पंचेन्द्रिय और उसमें भी
यह उत्तम मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ। मनुष्य-शरीर प्राप्त होने से पूर्व
तुम्हें किन-किन कष्टों को सहना पड़ा है, इसके लिए तुम वनस्पति,
पतंगा कीड़े-मकोड़े और पशुओं को देखो। उन्हें देखकर और
उनके कष्टों का पता लगाकर अपने भूत का निश्चय करो, कि
हमने इन कष्टों को न मालूम कितनी बार सहा है! तुम लोग यदि
इतनी दूर की बात न देखना चाहो, तो इस मनुष्य-शरीर पर से ही
अपने कष्टों का पता लगाओ। इस मनुष्य-शरीर में जन्म धारण
करने के पूर्व माता के गर्भ में तुम लोगों ने कितना कष्ट सहा है!
नौ मास तक एक संकुचित स्थान में उल्टे टंगे रहना, मल-मूत्रादि में
लिपटे रहना, क्या कम कष्ट है? इन कष्टों को निरन्तर भोगते-
भोगते तुम्हें यह मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। यह शरीर क्यों प्राप्त
हुआ है? इस शरीर के प्राप्त होने से क्या लाभ है? क्या उस शरीर
को भी तुम लोग उसी प्रकार गँवाना चाहते हो, जिस तरह कि अन्य
शरीरों को गँवाया है? मनुष्य-शरीर के सिवा दूसरे शरीर में तो तुम
में भूत भविष्य के विचारने की शक्ति नहीं थी, इसलिये उन शरीरों
को उस तरह व्यतीत कर देने पर तुम्हें कोई मूर्ख नहीं कह सकता।
परन्तु इस मनुष्य-शरीर को जिसमें कि भूत-भविष्य के विचारने
की शक्ति है, उसी तरह व्यतीत कर देना क्या मूर्खता न होगी?
क्या यह शरीर भी उन्हीं कार्यों के लिये मिला है, जिन कार्यों को
अन्य शरीर में रहकर भी किया जाता है? तुम जिन भोगों में सुख

मानकर निश्चिन्त बैठे हो, वे भोग ही तुम्हारे शत्रु हैं। इन भोगों से ही तुम्हारा पतन होगा। यह मनुष्य-शरीर इन भोगों को भोगने के लिए नहीं है। ये भोग तो पशु-शरीर में भी भोगे जा सकते हैं, इसलिए इनको भोगना ही मनुष्यता का चिह्न नहीं है। मनुष्य-शरीर तुम्हें तप के लिए मिला है। इस मनुष्य-शरीर को पाकर तप द्वारा आत्म-कल्याण करो और ऐसा सुख प्राप्त करो, जिसके पीछे दुःख न हो। यदि यह मनुष्य-शरीर भी तुमने उसी प्रकार व्यतीत कर दिया-जिस प्रकार कि अन्य शरीरों को व्यतीत किया है, तो तुम्हारे लिए वे ही कष्ट तैयार हैं, जिन्हें तुम भूतकाल में भोग चुके हो। इसलिए ऐसा कार्य करो, जिससे वे दुःख फिर न भोगने पड़ें।

श्रोतागण! मेरा और तुम्हारा आत्मा समान है। जो मैं हूँ, वही तुम हो। अन्तर केवल इतना ही है कि मेरा आत्मा अज्ञान-आवरण से ढँका हुआ नहीं है और तुम्हारा आत्मा ढँका हुआ है। जिन कष्टों का मैंने दिग्दर्शन कराया है, वे कष्ट मैं भी भोग चुका हूँ और अपने भूतकाल के अनुभव पर से ही मैं सतत इस उद्योग में लगा हूँ कि अब मुझे वे कष्ट न भोगने पड़ें। मैं तुम लोगों से भी यही कहता हूँ कि भूतकाल में भोगे हुये कष्टों का स्मरण करके अपना भविष्य देखो और ऐसे कार्य करो, कि जिनसे भविष्य में पुनः वे कष्ट न भोगने पड़ें।

तुम्हारा आत्मा भविष्य के कष्ट से तभी मुक्त हो सकता है, जब यह मोक्ष प्राप्त कर ले। जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं करता है, जब तक इसके पीछे जनमना मरना लगा है तब तक इसे वे कष्ट भोगने ही पड़ेंगे, जिन्हें कि यह भोग चुका है। इसलिये उन उपायों को काम में लाओ, जिनके काम में लाने पर आत्मा मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

कामानां हृदये वासः संसार इति कीर्त्तितः ।
तेषां सर्वात्मना नाशो मोक्ष उक्तो मनीषिभिः ॥

अर्थात्—हृदय में जो कामनाओं का निवास है, उसी को संसार कहते हैं और उनके सब तरह से नाश हो जाने को ही मोक्ष कहते हैं ।

किसी प्रकार की लालसा का न होना ही मोक्ष का मार्ग है। जब तक लालसाएँ बनी हुई हैं—हृदय से निकली नहीं हैं, तब तक मोक्ष की इच्छा करना, पवन को मुट्ठी में रोकने की चेष्टा करना है। इसलिए लालसाओं का त्याग करो । लालसाओं को त्यागने के लिए सब से पहले हिंसा का त्याग करना होता है । बिना हिंसा का त्याग किये, लालसाएँ नहीं मिट सकतीं । हिंसा का त्याग करने के लिए झूठ को छोड़ना पड़ता है । जहाँ झूठ है, वहाँ हिंसा है और जहाँ हिंसा है वहाँ लालसा है । बिना झूठ छोड़े हिंसा नहीं छूट सकती और बिना हिंसा छोड़े लालसा नहीं मिट सकती । झूठ का त्याग करने के लिए चोरी का त्याग करना आवश्यक है । बिना चोरी त्यागे, झूठ नहीं छूट सकता और जहां झूठ है, वहाँ हिंसा भी है तथा लालसा भी है । चोरी को त्यागने के लिए, ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है । बिना ब्रह्मचर्य पालन किये—बिना इन्द्रियों को वश में किये—न तो चोरी छूट सकती है, न झूठ [illegible] हिंसा [illegible] ब्रह्मचर्य पालन करने के लिए परिग्रह का त्याग [illegible] ता [illegible] ग्रह है, वहीं अब्रह्मचर्य, चोरी, झूठ और [illegible] वाला, परिग्रह ही है । आत्मा को संसार [illegible] परिग्रह ही है । इसलिए प[illegible] को छोड़ो । आत्मा को ममत्व है, [illegible] लिए व[illegible]

संसार की प्रत्येक वस्तु से ममत्व त्याग दो। इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिए सब से पहले परिग्रह का, फिर अब्रह्मचर्य, चोरी, झूठ और हिंसा का क्रमशः त्याग करना होता है। जो आत्मा इनका जितने अंश में त्याग करेगा, उसकी लालसाएँ उतनी ही कम होंगी और लालसाएँ जितनी कम होंगी, मोक्ष के वह उतना ही समीप होगा। इनको पूर्ण रूप से त्यागने वाला मोक्ष के बिल्कुल ही समीप होगा और कभी न कभी वह मोक्ष प्राप्त कर लेगा। इसलिये अस्थायी तथा अवास्तविक हानि, लाभ, सुख और दुःख का विचार छोड़कर अपनी उस हानि, लाभ और दुःख का विचार करो, जो वास्तविक तथा स्थायी है। मोक्ष को प्राप्त कर लेने पर, आत्मा के लिए दुःख का अस्तित्व ही उठ जाता है, अतः मोक्ष प्राप्ति का उपाय करो, जिससे आत्मा का कल्याण हो।

भगवान् के मर्म-स्पर्शी उपदेश को सुनकर, श्रोता-समाज आह्लादित हो उठा। चारों ओर से, धन्य-धन्य और जय-जय की ध्वनि सुनाई देने लगी। भगवान् के उपदेश का प्रभाव सब पर उत्तम पड़ा। भगवान् के उपदेश का विचारपूर्वक मनन करने और उसके अनुसार कार्य करने वालों में से, एक सुबाहुकुमार का इतिहास हमारे सामने मौजूद है। इस उपदेश ने, सुबाहुकुमार के हृदय के उस रात वाले विचार को और पुष्ट कर दिया। अब उसने आत्म-कल्याण का दृढ़ संकल्प किया।

उपदेश-कार्य समाप्त हो जाने पर, सब लोग भगवान को वन्दना नमस्कार कर-करके अपने-अपने घर चले गये, लेकिन सुबाहुकुमार वहीं ठहरा रहा। सब के चले जाने के पश्चात् उसने भगवान् को वन्दना-नमस्कार किया।

कामानां हृदये वासः संसार इति कीर्त्तितः।
तेषां सर्वात्मना नाशो मोक्ष उक्तो मनीषिभिः॥

अर्थात्—हृदय में जो कामनाओं का निवास है, उसी को संसार कहते हैं और उनके सब तरह से नाश हो जाने को ही मोक्ष कहते हैं।

किसी प्रकार की लालसा का न होना ही मोक्ष का मार्ग है। जब तक लालसाएँ बनी हुई हैं—हृदय से निकली नहीं हैं, तब तक मोक्ष की इच्छा करना, पवन को मुट्ठी में रोकने की चेष्टा करना है। इसलिए लालसाओं का त्याग करो। लालसाओं को त्यागने के लिए सब से पहले हिंसा का त्याग करना होता है। बिना हिंसा का त्याग किये, लालसाएँ नहीं मिट सकतीं। हिंसा का त्याग करने के लिए झूठ को छोड़ना पड़ता है। जहाँ झूठ है, वहाँ हिंसा है और जहाँ हिंसा है वहाँ लालसा है। बिना झूठ छोड़े हिंसा नहीं छूट सकती और बिना हिंसा छोड़े लालसा नहीं मिट सकती। झूठ का त्याग करने के लिए चोरी का त्याग करना आवश्यक है। बिना चोरी त्यागे, झूठ नहीं छूट सकता और जहां झूठ है, वहाँ हिंसा भी है तथा लालसा भी है। चोरी को त्यागने के लिए, ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है। विना ब्रह्मचर्य पालन किये—बिना इन्द्रियों को वश में किये—न तो चोरी छूट सकती है, न झूठ या हिंसा ही। ब्रह्मचर्य पालन करने के लिए परिग्रह का त्याग करना पड़ता है। जहाँ परिग्रह है, वहीं अब्रह्मचर्य, चोरी, झूठ और हिंसा भी है। पाप कराने वाला, परिग्रह ही है। आत्मा को संसार में भटकाने का मूल कारण परिग्रह ही है। इसलिए परिग्रह को छोड़ो। संसार की जिस वस्तु से आत्मा को ममत्व है, आत्मा के लिए वही परिग्रह है। इसलिए

संसार की प्रत्येक वस्तु से ममत्व त्याग दो। इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिए सब से पहले परिग्रह का, फिर अब्रह्मचर्य, चोरी, झूठ और हिंसा का क्रमशः त्याग करना होता है। जो आत्मा इसका जितने अंश में त्याग करेगा, उसकी लालसाएँ उतनी ही कम होंगी और लालसाएँ जितनी कम होंगी, मोक्ष के वह उतना ही समीप होगा। इनको पूर्ण रूप से त्यागने वाला मोक्ष के बिल्कुल ही समीप होगा और कभी न कभी वह मोक्ष प्राप्त कर लेगा। इसलिये अस्थायी तथा अवास्तविक हानि, लाभ, सुख और दुःख का विचार छोड़कर अपनी उस हानि, लाभ और दुःख का विचार करो, जो वास्तविक तथा स्थायी है। मोक्ष को प्राप्त कर लेने पर, आत्मा के लिए दुःख का अस्तित्व ही उठ जाता है, अतः मोक्ष प्राप्ति का उपाय करो, जिससे आत्मा का कल्याण हो।

भगवान् के मर्म-स्पर्शी उपदेश को सुनकर, श्रोता-समाज आह्लादित हो उठा। चारों ओर से, धन्य-धन्य और जय-जय की ध्वनि सुनाई देने लगी। भगवान् के उपदेश का प्रभाव सब पर उत्तम पड़ा। भगवान् के उपदेश का विचारपूर्वक मनन करने और उसके अनुसार कार्य करने वालों में से, एक सुबाहुकुमार का इतिहास हमारे सामने मौजूद है। इस उपदेश ने, सुबाहुकुमार के हृदय के उस रात वाले विचार को और पुष्ट कर दिया। अब उसने आत्म-कल्याण का दृढ़ संकल्प किया।

उपदेश-कार्य समाप्त हो जाने पर, सब लोग भगवान को वन्दना नमस्कार कर-करके अपने-अपने घर चले गये, लेकिन सुबाहुकुमार वहीं ठहरा रहा। सब के चले जाने के पश्चात् उसने भगवान् को वन्दना-नमस्कार किया।

वन्दना-नमस्कार करके, सुबाहुकुमार नम्रता सहित भगवान् से प्रार्थना करने लगा—प्रभो ! आपकी गम्भीरता और भक्तवत्सलता को धन्य है। आपके गाम्भीर्य और वात्सल्यपूर्ण हृदय की थाह मिलना सर्वथा असम्भव है। मेरा हृदय कहता है कि आप मेरे हृदय के भावों को जानकर की पधारे हैं, फिर भी आपने मुझसे कुछ नहीं कहा। आपने अपने पधारने का कारण मुझे नहीं बताया, न ऐसा करके मुझ पर किसी प्रकार का दबाव ही डाला। आपका कुछ न कहना तो गम्भीरता का परिचायक है, परन्तु यदि मैं भी चुप रह जाऊँगा, आपसे अपने हृदय की बात न कहूँगा—तो ऐसा करना मेरे कल्याण-मार्ग का बाधक होगा। इसलिए मैं वह बात निवेदन करना उचित समझता हूँ, जिसके लिये मेरे आत्मा ने आपको इधर पधारने की प्रेरणा की है।

हे जगतारण ! श्रावक के बारह व्रत धारण करने के समय मैंने अपने आपको साधु-व्रत धारण तथा पालन करने के लिए असमर्थ बताया था। वास्तव में उस समय मैं असमर्थ ही था। लेकिन अब मैं समर्थ हो गया हूँ। मैंने, अपने निकट और दूर के सब सम्बन्धों को देखकर, भूत और भविष्य पर भी विचार किया है। संसार में मेरा सच्चा साथी कोई नहीं है, जो मुझे कष्ट के समय सहायता दे। साथ ही, मैं इस बात का भी इच्छुक हूँ कि जिन कष्टों को मैं अनन्त बार सह चुका हूँ उन्हें अब न सहूँ। अब उन कष्टों से मैं बचना चाहता हूँ।

'प्रभो ! धर्म पर पहले भी मेरी श्रद्धा थी और अब भी है। किन्तु उस श्रद्धा को सफल करने का अब अवसर आया है। संयम

को उत्कृष्ट तो पहले भी जानता था, किन्तु ग्रहण करने का समय अब आया है। मैं माता-पिता से आज्ञा प्राप्त करके आपके निकट दीक्षा धारण करना चाहता हूँ।'

कई नामधारी जैन माता-पिता को कुपात्र बतलाते हैं और उनकी आज्ञा मानने में पाप कहते हैं। इस विषय में उनकी युक्ति यह है कि अगर माता-पिता की आज्ञा मानना धर्म हो और वे मुनि-दीक्षा लेने की मनाई कर दें तो क्या संसार में ही पड़े रहना चाहिये? कदाचित् माता-पिता सामायिक आदि धर्मक्रिया करने का निषेध करें तो उस समय क्या कर्त्तव्य होगा? अगर कोई माता या पिता कभी बकरा मारने की आज्ञा दें तो उसका पालन करना चाहिये या नहीं? इस प्रकार की युक्तियाँ देकर माता-पिता को कुपात्र और उनकी सेवा करना पाप बतलाया जाता है।

दीक्षा जैसा काम भी यदि माँ-बाप की आज्ञा के बिना ही हो सकता होता तो शास्त्रकार इसका उल्लेख शास्त्र में क्यों करते? दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट करने पर दीक्षाभिलाषी को ऐसा क्यों कहा जाता कि माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर लो तो दीक्षा दी जा सकती है अन्यथा नहीं। यदि माता-पिता कुपात्र ही होते तो उनसे आज्ञा लेने की क्या आवश्यकता थी?

भगवान् ने कहा है, जो साधु माता-पिता की आज्ञा के बिना उनकी सन्तान को दीक्षा दे देता है, वह सहधर्मी का चोर है और पुनर्दीक्षा लेने का पात्र है।

माता-पिता की आज्ञा के बिना दीक्षा देने वाले साधु को जब इतना दोष होता है तो दीक्षा लेने वाले को कितना पाप न लगता होगा?

शास्त्र में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं कि माता-पिता कुपात्र होते हैं। अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही अपने माता-पिता की सेवा करता है, पापी मनुष्य उनकी सेवा नहीं करता। माता अपने मातृत्व धर्म का और पिता अपने पितृत्व-धर्म का पालन करते हैं, फिर उन्हें एकान्त कुपात्र कैसे कहा जा सकता है?

सुबाहुकुमार की बात सुनकर भगवान् ने कहा—'जैसे सुख हो वैसा करो।'

भगवान् को वन्दन-नमस्कार करके सुबाहुकुमार अपने माता-पिता के पास आया। उसने उनके समक्ष अपना दीक्षा-ग्रहण करने का विचार उपस्थित किया। उनकी आज्ञा चाही। दीक्षा का नाम सुनते ही उन लोगों को बहुत दुःख हुआ।

माता-पिता अपनी विवाह योग्य कन्या का विवाह स्वेच्छा से करते हैं। तब भी विदाई के समय मातृ-पितृ-स्नेह उन्हें व्यथित कर देता है। इसी प्रकार सुबाहुकुमार के माता-पिता दीक्षा को अच्छा मानते हैं, साधु-संगति और संयम को आदर्श समझते हैं, तथापि उसके मुँह से दीक्षा लेने का विचार सुनकर माता का ममतामय हृदय व्यथित हो गया। ममता की असीमता ने उसे मूर्छित कर दिया। वह पृथ्वी पर गिर पड़ी। जब संज्ञा में आई तो सुबाहुकुमार से कहने लगी—बेटा, हम वृद्ध हैं। तुम्हारे वियोग को हम सह नहीं सकेंगे। हमारे न रहने पर चाहे दीक्षा ले लेना, पर हमारी मौजूदगी में दीक्षा न लेते तो अच्छा होता। इसके अतिरिक्त फिर दीक्षा लेने के समय तक तुम भी भुक्तभोगी हो जाओगे। अतएव अभी ठहरो। फिर दीक्षा ले लेना।

सुबाहुकुमार ने उत्तर दिया—आप वृद्ध हैं और आपको इस अवस्था में छोड़कर दीक्षा लेना उचित नहीं है, यह मैं जानता हूँ। मगर मैं एक बात सोचता हूँ। आपकी गोद में रहकर मैंने यह सीखा है कि जिस काम में अपना और संसार का कल्याण हो, उस काम में विलम्ब न किया जाय। आप कहते हैं—हमारे जीवित रहते दीक्षा न लो, किन्तु क्या यह बात निश्चित हो चुकी है कि पहले किसकी मृत्यु होगी? माता-पिता की मौजूदी में क्या पुत्र परलोक का यात्री नहीं बन जाता?

सुबाहुकुमार के प्रश्न के उत्तर में माता-पिता ने कहा—हाँ, यह ठीक है। पहले किसकी मृत्यु होगी, यह निश्चित नहीं है।

सुबाहु बोला—ऐसी अनिश्चित स्थिति में रुकने के लिये क्या आधार है? मैं महाकल्याण के कार्य में जुटता हूँ। कर्मशत्रु का नाश करने के लिये जा रहा हूँ। मेरा यह कार्य आपको क्या पसन्द नहीं है? अगर काल का निश्चय होता तो मैं आपका आदेश शिरोधार्य करके रुक रहता। किन्तु जब काल का निश्चय नहीं है तो मुझे कल्याण पथ पर चलने से रोक रखना कहाँ तक उचित होगा?

सुबाहुकुमार का कथन सुनकर माता ने सोचा—बात तो सुबाहु की ठीक है। फिर यह कल्याण के लिये जा रहा है। मैं क्षत्रियाणी हूँ। अवसर पड़ने पर अपने पुत्र को वैरियों से जूझने के लिये हँसते-हँसते भेजने वाली शक्ति हूँ। कायर की तरह घर में छिपाकर रखने वाली मैं नहीं हूँ। सुबाहु अपने कर्मशत्रुओं का ध्वंस करने जा रहा है। ऐसे समय कायरता प्रदर्शित करना मेरे लिए योग्य नहीं है।

सुबाहुकुमार के पिता नीतिनिपुण क्षत्रिय थे। उन्होंने सोचा—'नवयुवक भावुकता के प्रवाह में जल्दी ही बह जाते हैं। कभी-कभी अन्तरंग के स्थायी और सुदृढ़ संकल्प के अभाव में भी स्थायी प्रभाव रखने वाले कार्य में जुट पड़ते हैं। फल यह होता है कि तीर हाथ से छूट जाता है और फिर पछतावा ही रह जाता है। सुबाहु यद्यपि दूरदर्शी और विवेकशील है, तथापि नवयुवक ही है। देखना चाहिये कि उसके निश्चय में कितनी दृढ़ता है। ऐसा विचार कर उन्होंने सुबाहुकुमार से कहा :—

वत्स, तू वीर है। संसार को अपनी वीरता से सुख पहुँचा। संयम लेकर कायरवेश क्यों धारण करता है? तलवार के बल से तू जितना कल्याण कर सकेगा, उतना साधु बनकर कदापि नहीं कर सकता। अपने ऊपर गृहस्थावस्था का भार आया देख कायर की भाँति भाग निकलना ठीक नहीं है। लोग तुझे क्या कहेंगे? संसार को तेरी शक्ति से क्या लाभ पहुँचा? अगर तू संसार का कल्याण ही करना चाहता है तो शासनदण्ड धारण करके प्रजा का पालन कर। इससे तेरा और जगत् का कल्याण होगा।

नम्रतापूर्वक सुबाहुकुमार ने उत्तर दिया—'तात, संयम धारण करना कायर का काम नहीं, वीर पुरुष का काम है। तलवार संसार का कल्याण नहीं कर सकती। तलवार के ज़ोर पर रिपुगण ऊपर-ऊपर से भले ही दब जाएँ, मगर महाशत्रुओं का सामना तलवार से नहीं किया जा सकता। जिसने महाशत्रुओं को नहीं जीता, वह वीर कैसा? सच्चा वीर तो वही है जो महान् शत्रुओं पर स्थायी विजय प्राप्त कर सकता है। ऐसे वीर पुरुष को संसार की कोई शक्ति नहीं हरा सकती।

देखिए, एक ओर राम और दूसरी ओर रावण था। रावण ने सब शत्रुओं को जीत लिया। उसने अनेक युद्ध किये। पर अन्त में राम ने उसे जीत लिया। अब विचार कीजिये कि रावण बड़ा ठहरा या राम? वास्तव में रावण तो काम, क्रोध आदि आन्तरिक शत्रुओं द्वारा पहले ही मारा जा चुका था। अगर उसने इन आन्तरिक शत्रुओं को जीत लिया होता तो एक राम क्या, हजार राम भी उसे नहीं जीत सकते थे। रावण ने काम के अधीन होकर सीता का हरण किया। इसीलिये काम के मारे मुर्दे बने हुये रावण को राम ने पराजित कर दिया।

पिताजी, मैं मनुष्य को मुर्दा बनाने वाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं को मारना चाहता हूँ। उनसे युद्ध करने के लिए कमर कस रहा हूँ। ऐसी अवस्था में मैं कायर कैसे कहा जा सकता हूँ?

पूज्यवर, आप तलवार द्वारा शान्ति फैलाने का परामर्श देते हैं, मगर आज तक तलवार से संसार में कभी शान्ति नहीं फैली और न फैल सकती है।'

भाइयो, सचमुच तलवार कभी शान्ति स्थापित करने में समर्थ नहीं हो सकती। एक मुर्दे को दो कुत्ते शान्ति के साथ नहीं खा सकते। वे एक-दूसरे को घुर्राया ही करते हैं। इसी प्रकार एक राज्य के लिए दो शक्तियाँ—राजा—सदैव आपस में लड़ती-रहती हैं। एक शक्ति अपना अधिकार जमाना चाहती है, दूसरी उसे नेस्तनाबूद करके अपनी सत्ता स्थापित करना चाहती है।

राज्यलक्ष्मी के लिए जब दो सल्तनतें आपस में लड़ती हैं, तब संसार में हा-हाकार मच जाता है। ऐसी अवस्था में सुख और शान्ति स्वप्न हो जाते हैं।

मित्रो ! आप राज्यलक्ष्मी की तरफ से ध्यान हटाकर जरा अपनी ही ओर ध्यान दीजिये। दो सगे भाई एक जमीन के टुकड़े के लिए क्या जानी दुश्मन नहीं बन जाते ? क्या यह जमीन रूपी टुकड़े के लिए दो कुत्तों का लड़ना नहीं है ? आप जरा रामचन्द्र के चरित की ओर दृष्टि दौड़ाइये। राम अपने भाई भरत के लिए राज्य छोड़ कर वन को चले गये। क्या राज्य पर राम का हक नहीं था ? दशरथ और कैकयी को अपने मन के मुताबिक व्यवस्था करने का क्या हक था ? राम ही राज्य के अधिकारी थे। सारी प्रजा उन्हें चाहती थी। फिर भी रामचन्द्र ने राज्य को ठोकर मारकर भ्रातृप्रेम का ज्वलंत आदर्श खड़ा कर दिया।

रामचन्द्र के इस त्यागमय व्यवहार से अवध में शान्ति रही और एक सुन्दर आदर्श यावच्चन्द्रदिवाकर खड़ा हो गया। अगर रामचन्द्र तलवार का उपयोग करते तो घोर अशान्ति फैल जाती। तात्पर्य यह है कि तलवार अशान्ति की प्रतिनिधि है। जहाँ तलवार का नृत्य हुआ वहाँ अशान्ति का अट्टहास आरम्भ हुए बिना नहीं रहता।

सुबाहु बोला—पिता जी, मैं शाश्वत शान्ति के लिए उद्योग करने जा रहा हूँ, जो तलवार द्वारा साध्य नहीं है। ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य में आप सरीखे पूजनीय पुरुष ही क्या बाधक बनेंगे ? नहीं। मैं अपने विवेकशील और धर्मनिष्ठ पिताजी से यह आशा नहीं करता। आप मुझे आशीर्वाद दीजिये कि मेरी साधना सफल हो और मैं आपका यश विश्व में विश्रुत कर सकूं।

सुबाहु के पिता मौन हो गये। माता ने भी समझ लिया कि अब जबर्दस्ती रोकने से पुत्र को दुःख होगा। अपने दुःख के

प्रीतकार के लिये पुत्र को दुःख पहुँचाना माता का हृदय सहन नहीं कर सकता। अतएव उसने कहा—लाल, यदि यही तुम्हारी इच्छा है तो मंगलमूर्ति बनकर संसार को उद्भासित करो। लेकिन माता के हृदय की एक लालसा पूरी किये जाओ। मैं एक दिन के लिए तुम्हारी राज्यलक्ष्मी देखना चाहती हूँ। कम से कम एक दिन राज्य कर लो।

माता के इस करुण आवेदन में कुछ मर्म भी है। मातापिता का यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात की जांच कर लें कि हमारा पुत्र किसी बात की कमी से तो साधु नहीं हो रहा! ऐसी जांच किये बिना साधु होने की आज्ञा दे देने से लोग यह अपवाद करने लगते हैं कि फलां के पुत्र को अमुक बात की कमी थी, इससे वह साधु हो गया। सुबाहुकुमार के माता-पिता इस अपवाद से बचना चाहते थे, इस कारण उन्होंने राज्यग्रहण करने का आग्रह किया। दूसरे वह जानना चाहते थे कि उनका बेटा राज्य पर लुभाता तो नहीं है! वह संयम को श्रेष्ठ समझता है या राज्य को? तीसरे, जब वह राज्य त्यागकर संयम लेगा तो संसार पर विशिष्ट प्रभाव पड़ेगा। यह सब सोचकर सुबाहुकुमार के माता-पिता ने उसे राज्य ग्रहण करने का आग्रह किया।

सुबाहुकुमार माता-पिता का अभिप्राय समझ गया। उसने विचार किया—जैसे सुवर्ण को परीक्षा देने के लिये अग्नि में तपना पड़ता है, उसी प्रकार मुझे भी राज्य करके परीक्षा देनी होगी। इससे माता-पिता का अपवाद भी न होगा और राज्य की स्वतन्त्रता से संयम की स्वतन्त्रता की तुलना करने के लिए भी साधन मिल जायगा। अतएव माता-पिता के इस आग्रह को शिरोधार्य करना ही उचित है।

(१८)

दीक्षा--महोत्सव

—★—

दूसरे दिन सुबाहुकुमार को राज्य दिया गया। सुबाहु राजसिंहासन पर आसीन हुए। ऊपर छत्र लगाया गया और बगल में चामर ढोरे जाने लगे। राजा के समस्त अधिकार सुबाहु को प्रदान किये गये। उन्हें राज्य-सम्बन्धी सम्पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई।

यह सब हो जाने के पश्चात् उनके माता-पिता ने पूछा—'अब आपको किसी बात की कमी नहीं रही। बताओ, अब क्या इच्छा है?'

राजा सुबाहु ने कहा—'मुझे दो वस्तुएँ और चाहिए। उनके लिये राजकीय कोष से तीन लाख मोहरें निकाली जाएँ। उनमें से दो लाख मोहरों से मेरे लिए ओघा और पात्र मँगवा दिये जाएँ और एक लाख मोहरें देकर नाई से मेरा मुंडन करा दिया जाय।'

माता-पिता ने समझ लिया कि सुबाहु को राज्य की अभिलाषा नहीं है। वह संयम ही लेगा। उन्होंने सुबाहु के कथनानुसार ओघा और पात्र मँगवा लिये।

सुबाहुकुमार आज राजा है। फिर भी उसने दीक्षा-महोत्सव की इच्छा न की। हाथी, घोड़ा, पालकी, वस्त्र, आभूषण आदि की चाह करने वाला वैरागी नहीं हो सकता। सुबाहुकुमार ने केवल दीक्षा में सहायक वस्तुओं की ही माँग की, आडम्बर की नहीं। यह वैराग्य की कसौटी है।

यद्यपि सुबाहु ने आडम्बर की कोई वस्तु न माँगी, परन्तु माता-पिता ओघा-पात्र देकर यों ही उसे निकाल दें तो धर्म भी जोखिम में पड़ जाता है और लोगों में भी अपवाद होता है कि लड़के को ऐसे ही निकाल दिया! इसके अतिरिक्त माता-पिता की ममता को भी इससे सन्तोष नहीं होता।

सुबाहु के माता-पिता कहने लगे—मेरे पुत्र को धन्य है, जिसने और कोई वस्तु न माँगकर दीक्षा की सामग्री माँगी और वह मुंडित होना चाहता है।

सबसे पहले सुबाहुकुमार को एक सिंहासन पर बैठाकर सोने चाँदी के कलशों से स्नान कराया गया। फिर शरीर पोंछकर अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण पहनाये गये और सुगन्धित द्रव्य का लेपन किया गया। पश्चात् अदीनशत्रु ने, सेवकों को पालकी लाने की आज्ञा दी। आज्ञा पाकर सेवक लोग एक सुन्दर तथा सुसज्जित एक हजार आदमियों द्वारा उठाई जाने वाली पालकी ले आये। उस पालकी में बनी हुई वेदी पर, पूर्व की ओर मुंह करके सुबाहुकुमार बैठे। उसके पास ही, दाहिनी ओर राजमाता धारिणी अच्छे-अच्छे वस्त्रालंकार पहनकर बैठ गईं। सुबाहुकुमार के बाईं ओर उसकी धाय रजोहरण और पात्र लेकर बैठी। एक तरुण स्त्री

छत्र लेकर सुबाहुकुमार के पीछे की ओर बैठी। हाथों में चँवर लिए हुए दो तरुणी, पालकी पर चढ़ी और सुबाहुकुमार पर दोनों बाजुओं से चँवर ढोरने लगीं। एक सुन्दर तरुणी पंखा लेकर पालकी पर चढ़ी जो सुबाहुकुमार के सामने पंखा करने लगी। एक तरुण स्त्री जल की झारी लेकर पालकी पर चढ़ी। इस प्रकार ठाट-बाट से सुबाहुकुमार को पालकी में सवार कराया।

पालकी तैयार हो जाने पर, राजपिता अदीनशत्रु ने समान रंग, समान आयु और समान वस्त्र वाले—एक हजार तरुण पुरुषों को बुलाया। आज्ञा पाकर एक सहस्त्र ऐसे सेवक—स्नान करके तथा अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनकर अदीनशत्रु के पास उपस्थित हुये। अदीनशत्रु ने उन्हें पालकी उठाने की आज्ञा दी। आज्ञानुसार उन्होंने पालकी अपने कंधों पर उठा ली।

एक राजा, अपने राज्य को त्यागकर दीक्षा ले रहा है, अतः कौन आदमी ऐसा होगा, जो इस दीक्षा-महोत्सव को देखने का इच्छुक न हो? सारे नगर निवासी दीक्षा-महोत्सव देखने के अभिप्राय से उमड़ आये। हस्तिशिखर राज्य की समस्त सेना भी आ उपस्थित हुई और इस प्रकार बहुत भीड़ हो गई। सब लोग जय-जयकार करने लगे।

बाजे गाजे के साथ सुबाहुकुमार की पालकी, नगर के बीच में होकर चली। सब से आगे सेना थी और अदीनशत्रु भी उसी के साथ थे। सेना के पीछे मंगलद्रव्य थे। मंगलद्रव्य के पीछे सुबाहुकुमार की पालकी थी और पालकी के पीछे जन-समुदाय था। इस प्रकार धूमधाम से सुबाहुकुमार की पालकी—जहाँ भगवान् महावीर विराजते थे, उस पुष्पकरण्डक उद्यान की ओर चली।

उद्यान के समीप पहुँचने पर, पालकी नीचे रक्खी गई। सुबाहुकुमार आदि सब उसमें से उतर पड़े। सुबाहुकुमार को आगे करके राजा अदीनशत्रु और धारिणी रानी वहाँ गये, जहाँ भगवान् महावीर विराजमान थे। सब ने भगवान् की प्रदक्षिणा की और उन्हें वन्दना-नमस्कार किया।

सुबाहुकुमार की ओर संकेत करके धारिणी और अदीनशत्रु भगवान् महावीर से प्रार्थना करने लगे—प्रभो ! हम आपको शिष्य की भिक्षा देते हैं। यह सुबाहुकुमार हमारा इकलौता पुत्र है। यह हमें बहुत प्रिय है, लेकिन इसकी इच्छा आपके पास दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण करने की है। यद्यपि इसका जन्म और पालन-पोषण काम-भोगों में ही हुआ है, लेकिन यह उन काम-भोगों में उसी प्रकार लिप्त नहीं हुआ, जिस प्रकार कीचड़ में पैदा होकर भी कमल उसमें लिप्त नहीं होता है। यह उन दुःखों से डरा हुआ है, जिन्हें कि इसने भूतकाल में अनन्त बार सहा है और उनसे बचने के लिये ही यह आपकी शरण में आने का अभिलाषी है। कृपा करके आप हमारी दी हुई इस शिष्य की भिक्षा को स्वीकार कीजिये।

अपने माता-पिता के प्रार्थना कर चुकने पर, सुबाहुकुमार ने अपने शरीर के अलंकार और बहुमूल्य वस्त्रों को उतारकर माता को दे दिये। धारणी रानी ने उन्हें अपने अंचल में ले लिया। फिर अदीनशत्रु तथा धारिणी दीक्षा के लिये आये हुये सुबाहुकुमार से कहने लगे—हे पुत्र ! तुमने जिस कार्य के लिये घरबार आदि का त्याग किया है, उसे अच्छी तरह करना। तुम वीरपुत्र हो, अतः संयम पालने और काम-क्रोधादि दोषों को मारने में पराक्रम से काम

लेना। इस विषय में प्रमाद मत करना। जिन गुणों को तुम अब तक प्राप्त नहीं कर सके हो, उन्हें प्राप्त करना। यह निर्ग्रन्थ-धर्म सर्वोत्तम है। तुम्हारे भाग्य धन्य हैं, जो तुम इसमें प्रवृत्त हो रहे हो। वह दिन न मालूम कब होगा, जब हम भी इसी मार्ग के पथिक बनेंगे। बेटा ! अन्त में हम यही कहते हैं, कि साधु के पालन करने योग्य सब नियमों का भलीभांति पालन करना। इस विषय में बहुत सावधानी रखना।

इस प्रकार सुबाहुकुमार को सिखावन तथा आशीर्वाद देकर अदीनशत्रु और धारिणी आदि सब लोग भगवान महावीर को वन्दना नमस्कार करके, घर को लौट गये। उनके चले जाने पर— पंचमुष्टि लोच करके—सुबाहुकुमार भगवान् के पास आये और प्रदक्षिणा तथा वन्दना-नमस्कार करके, हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे—हे प्रभो ! यह संसार जरामरण रूपी अग्नि से जल रहा है। जिस प्रकार अपने जलते हुये घर में से लोग अधिक मूल्य की, परन्तु थोड़े बोझ वाली वस्तु को निकालते हैं उसी प्रकार मैं भी अपने आत्मा को इस संसार की अग्नि से निकालना चाहता हूँ। मैं चाहता हूं कि मुझे अब संसार की जागरण-रूपी अग्नि में न जलना पड़े। इसलिए मैं आपसे दीक्षा लेना चाहता हूँ। कृपा करके मुझे आप अपना शिष्य बनाकर ऐसे उपायों का उपदेश दीजिये, जिनके करने से पूर्व-पाप तो कटे, लेकिन नया पाप न बंधे। साथ ही उन नियमों की भी मुझे शिक्षा दीजिये, जिनका साधु होने पर पालन करना आवश्यक है।

सुबाहुकुमार की प्रार्थना सुनकर, भगवन ने उसे दीक्षा दी। दीक्षा देकर, वे नव-दीक्षित सुबाहुकुमार मुनि को आचारादि धर्म

की शिक्षा देते हुए कहने लगे—हे देवानुप्रिय ! अब तुम मुनि हुए हो। तुमने आत्म-कल्याण की भावना से ही घर-बार आदि त्यागा है। इसलिए अब ईर्यासमिति से चलना। जहाँ की पृथ्वी ठहरने योग्य निर्दोष हो, वहीं ठहरना। पृथ्वी का प्रमार्जन किये बिना मत बैठना। सोना, तब कपड़े तथा शरीर का प्रमार्जन करके और समाधिभाव का उच्चारण करके। भोजन वही करना, जो निर्दोष हो। बोलना भी वही, जो हितकारी और प्रिय हो। इस प्रकार प्रमाद को त्यागकर, प्राणीमात्र की संयम-पूर्वक रक्षा करना।

पंचमहाव्रत के साथ ही साथ भगवान् ने जो उपदेश किया, उसे मुनि सुबाहुकुमार ने भले प्रकार स्वीकार किया। इतना ही नहीं, वह भगवान के उपदेश का सदा ध्यान रखता और पालन भी करता। वह उसी प्रकार चलता-बैठता, खाता, सोता और जीवों की रक्षा करता, जैसा कि भगवान् ने बताया था।

श्री चिम्मनसिंह लोढ़ा, के प्रबन्ध से
श्री वीर राजस्थान प्रिं० प्रेस, ब्यावर में मुद्रित

को शिक्षा देते हुए कहने लगे—ऐ देवानुप्रिय ! अब तुम मुनि हुए हो। तुमने आत्म-कल्याण की भावना से ही घर-बार आदि त्यागा है। इसलिए अब ईर्यासमिति से चलना। जहाँ की पृथ्वी ठहरने योग्य निर्दोष हो, वहीं ठहरना। पृथ्वी का प्रमार्जन किये बिना मत बैठना। सोना, तब कपड़े तथा शरीर का प्रमार्जन करके और समाधिभाव का उच्चारण करके। भोजन वही करना, जो निर्दोष हो। बोलना भी वही, जो हितकारी और प्रिय हो। इस प्रकार प्रमाद को त्यागकर, प्राणीमात्र की संयम-पूर्वक रक्षा करना।

पंचमहाव्रत के साथ ही साथ भगवान् ने जो उपदेश किया, उसे मुनि सुबाहुकुमार ने भले प्रकार स्वीकार किया। इतना ही नहीं, वह भगवान के उपदेश का सदा ध्यान रखता और पालन भी करता। वह उसी प्रकार चलता-बैठता, खाता, सोता और जीवों की रक्षा करता, जैसा कि भगवान् ने बताया था।

लेना। इस विषय में प्रमाद मत करना। जिन गुणों को तुम अब तक प्राप्त नहीं कर सके हो, उन्हें प्राप्त करना। यह निर्ग्रन्थ-धर्म सर्वोत्तम है। तुम्हारे भाग्य धन्य हैं, जो तुम इसमें प्रवृत हो रहे हो। वह दिन न मालूम कब होगा, जब हम भी इसी मार्ग के पथिक बनेंगे। बेटा! अन्त में हम यही कहते हैं, कि साधु के पालन करने योग्य सब नियमों का भलीभांति पालन करना। इस विषय में बहुत सावधानी रखना।

इस प्रकार सुबाहुकुमार को सिखावन तथा आशीर्वाद देकर अदीनशत्रु और धारिणी आदि सब लोग भगवान महावीर को वन्दना नमस्कार करके, घर को लौट गये। उनके चले जाने पर—पंचमुष्टि लोच करके—सुबाहुकुमार भगवान् के पास आये और प्रदक्षिणा तथा वन्दना-नमस्कार करके, हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे—हे प्रभो! यह संसार जरामरण रूपी अग्नि से जल रहा है। जिस प्रकार अपने जलते हुये घर में से लोग अधिक मूल्य की, परन्तु थोड़े बोझ वाली वस्तु को निकालते हैं उसी प्रकार मैं भी अपने आत्मा को इस संसार की अग्नि से निकालना चाहता हूँ। मैं चाहता हूं कि मुझे अब संसार की जागरण-रूपी अग्नि में न जलना पड़े। इसलिए मैं आपसे दीक्षा लेना चाहता हूँ। कृपा करके मुझे आप अपना शिष्य बनाकर ऐसे उपायों का उपदेश दीजिये, जिनके करने से पूर्व-पाप तो कटे, लेकिन नया पाप न बंधे। साथ ही उन नियमों की भी मुझे शिक्षा दीजिये, जिनका साधु होने पर पालन करना आवश्यक है।

सुबाहुकुमार की प्रार्थना सुनकर, भगवान ने उसे दीक्षा दी। दीक्षा देकर, वे नव-दीक्षित सुबाहुकुमार मुनि को आचारादि धर्म

की शिक्षा देते हुए कहने लगे—हे देवानुप्रिय ! अब तुम मुनि हुए हो। तुमने आत्म-कल्याण की भावना से ही घर-बार आदि त्यागा है। इसलिए अब ईर्यासमिति से चलना। जहाँ की पृथ्वी ठहरने योग्य निर्दोष हो, वहीं ठहरना। पृथ्वी का प्रमार्जन किये बिना मत बैठना। सोना, तब कपड़े तथा शरीर का प्रमार्जन करके और समाधिभाव का उच्चारण करके। भोजन वही करना, जो निर्दोष हो। बोलना भी वही, जो हितकारी और प्रिय हो। इस प्रकार प्रमाद को त्यागकर, प्राणीमात्र की संयम-पूर्वक रक्षा करना।

पंचमहाव्रत के साथ ही साथ भगवान ने जो उपदेश किया, उसे मुनि सुबाहुकुमार ने भले प्रकार स्वीकार किया। इतना ही नहीं, वह भगवान के उपदेश का सदा ध्यान रखता और पालन भी करता। वह उसी प्रकार चलता-बैठता, खाता, सोता और जीवों की रक्षा करता, जैसा कि भगवान् ने बताया था।

———

साधु सुबाहुकुमार

मूल पाठ—तए णं से सुवाहू अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एकारस अंगाइं अहिज्जति, अहिज्जता बहूहिं चउत्थछट्टट्ठम० तवोविहाणेहिं अप्पाणं भावित्ता बहूइं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं भूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता आलोइयपडिक्कते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववन्ने।

से णं तओ देवलोगा ओ आउक्खएणं, भक्खएणं, ठिइक्खएणं, अणंतरं चयं चइत्ता माणुस्सं विग्गहं लभिहिति, २ त्ता केवलं बोहिं बुज्झिहिति, २ त्ता तहारूवाणं थेराणं अंतिए मुंडे जाव पव्वइस्सति। से णं तत्थ बहूइं वासाइं सामण्णं परियागं पाउणिहिति; आलोइयेपडिक्कंते समाहिपत्ते कालं करिहिति, सणंकुमारे कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिति। से णं तओ देवलोगाओ माणुस्सं, पव्वज्जा, बंभलोए, तओ माणुस्सं, महासुक्के, ततो माणुस्सं, आणतेदेवे, ततो माणुस्सं, ततो आरणे देवे, ततो माणुस्सं, सव्वट्ठसिद्धि। से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता महाविदेहे वासे जाव अड्ढाइं जहा दढपइन्ने सिज्झिहिति ५। जाव एवं खलु जम्बू! समणेणं जाव संपत्तेणं सुहविवागाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते।

अर्थात्—तत्पश्चात् सुबाहु अनगार श्रमण भगवान् महावीर के तथारूप स्थविरों के समीप सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन करता है। बहुतसे चतुर्थ भक्त षष्ठ और अष्टमभक्त आदि तपस्या के द्वारा आत्मा को भावित करके बहुत वर्षों तक साधु-पर्याय पालकर, मासिक संलेखना द्वारा आत्मा को भूसित करके, अनशन से षष्ठिभक्त छेदन करके, आलोचना-प्रतिक्रमण करके समाधि प्राप्त करके, काल-मास में काल करके सौधम-स्वर्ग में देव हुआ।

उस स्वर्ग से आयु क्षय करके, भव और स्थिति का क्षय करके वहाँ से चय कर मनुष्य-शरीर धारण करेगा। केवली प्ररूपित धर्म का बोध होगा। तथा रूप श्रमणों के निकट मुंडित होकर यावत् दीक्षित होगा। वहाँ बहुत वर्षों तक साधु पर्याय पालन करेगा। फिर आलोचना-प्रतिक्रमण करके समाधि के साथ काल करके। सनत्कुमार कल्प में उत्पन्न होगा। उस देवलोक से च्युत होकर मनुष्य होगा। दीक्षा लेकर ब्रह्मलोक कल्प में उत्पन्न होगा। फिर मनुष्य-भव धारण करके महाशुक्र विमान में, फिर मनुष्य-भव में फिर आनत देवलोक में, मनुष्य होकर फिर आरण देवलोक में फिर मनुष्य होकर सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पादन होगा। तत्पश्चात् महाविदेह वर्ष में उत्पन्न होकर दृढ़प्रतिज्ञ की तरह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होगा।

सुधर्मा स्वामी कहते हैं—हे जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर ने सुखविपाक के प्रथम अध्ययन का यह अर्थ कहा है।

★ ★ ★ ★ ★

सुबाहुकुमार आज भिक्षु-साधु है। कुछ दिन पहले वह राजकुमार था। घर में रहकर जो राजपुत्र भाँति-भाँति के सुस्वादु

भोजन करता था, आज वही पराये घर भोजन की भिक्षा माँग रहा है। जो बहुमूल्य से बहुमूल्य वस्तु भी किसी को देने में संकोच नहीं करता था, आज वही दूसरों से आवश्यक वस्तु माँगता है। हजारों दास-दासी जिसकी सेवा में सदा काल प्रस्तुत रहते थे, वही राजकुमार आज साधु होने पर छोटे से छोटे मुनि की सेवा में उद्यत रहता है। यहाँ तक कि उनके मल-मूत्र का परिष्ठापन करने (परठने) में भी संकोच नहीं करता। जिसके सामने दूसरे लोग 'खमा खमा' करते थे, वही सुबाहु मुनियों की सेवा करने में अपना अहोभाग्य मानता है। अनगारता का जन्म होने के साथ ही मनुष्य में यह गुण उत्पन्न हो जाते हैं। मनुष्य का विचार बदलते ही उसका स्वभाव भी बदल जाता है।

सुबाहु अनगार ने पाँचों समितियों पर ध्यान लगाया। वह मन, वचन और काय का बड़ी ही यतना के साथ प्रयोग करता था। उसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया। पूर्ण ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान किया। जिसका ब्रह्मचर्य सुरक्षित है, उसके लिए संसार में किसी बात की कमी नहीं है। जैसे गृहस्थ अपने बहुमूल्य रत्न सावधानी के साथ सँभाल कर रखता है, उसी प्रकार सुबाहु अनगार ब्रह्मचर्य रत्न की रक्षा करते हैं। ब्रह्मचर्य रूपी यह लोकोत्तर रत्न जिसके पास है, देव, दानव, गन्धर्व आदि सभी उसके दास हैं। ऐसी कोई शक्ति नहीं जो ब्रह्मचारी से दूर हो। पूर्ण ब्रह्मचारी परमात्मा की पदवी पाता है।

सुबाहु अनगार इस प्रकार क्रिया में प्रवीण हो गये। ज्यों-ज्यों आत्मा का विकास होता जाता था, त्यों-त्यों क्रिया भी उज्ज्वल होती जाती थी।

ज्ञान के बिना आत्मा उच्च स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता। ज्ञान संसार का श्रेष्ठ रत्न है। कहा भी है :—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

अर्थात्—संसार में ज्ञान के समान पवित्र और उससे ऊँची कोई भी वस्तु विद्यमान नहीं है।

भगवती सूत्र में भी कहा है :—

प्रश्न—इह भवे नाणे, परभवे नाणे ?

उत्तर—गोयमा ! इह भवे नाणे, परभवे नाणे।

प्रश्न—इह भवे चरित्ते, परभवे चरित्ते ?

उत्तर—गोयमा ! इह भवे चरित्ते, नो परभवे चरित्ते ?

अर्थात्—परलोक में साथ जाने वाला ज्ञान ही है। चारित्र तो इसी लोक में रह जाता है। ज्ञान आत्मा के साथ जाता है।

छह महीने में एक पद का अभ्यास हो तो भी ज्ञान का अभ्यास नहीं छोड़ना चाहिए। ज्ञान का अभ्यास करते-करते किसी समय केवलज्ञान भी प्राप्त हो जाता है।

एक कथानक में कहा है—किसी शिष्य ने उत्तराध्ययन सूत्र के तीन अध्ययन सीख लिए थे। उसे चौथा नहीं आता था। चौथा अध्ययन सीखने में वह कायर-सा बन गया। तब उसके गुरु ने कहा—'तू कायर मत हो और अभ्यास किये जा। तुझे निर्जरा करनी है, अतएव अंतिम श्वास तक ज्ञान का अभ्यास करता रह।'

ब्रह्मचर्य का पालन करने से विद्या जल्दी गृहीत होती है। सुबाहुकुमार ने ग्यारह अंग पढ़कर कण्ठस्थ कर लिये। विनय और नम्रता के साथ उसने गुरु से विद्या सम्पादन की।

प्रश्न होता है—सुखविपाक सूत्र में तो सुबाहुकुमार का ही चरित वर्णन किया गया है, फिर सुबाहुकुमार ने कौनसा सुखविपाक पढ़ा होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पहले के सुखविपाक सूत्र में कुछ और ही रहा होगा, इस समय में कुछ और है तथा आगे के सुखविपाक में कुछ और रहेगा। भगवान् के ग्यारह गणधर थे, पर वाचना नौ ही थीं। अन्यान्य वाचनाएँ तो सुधर्मा स्वामी और जम्बू स्वामी से प्रचलित हुई हैं।

ज्ञानाभ्यास के पश्चात् सुबाहुकुमार ने चतुर्थभक्त, षष्ठभक्त और अष्टमभक्त आदि तप प्रारम्भ किये। वह तपस्या में मग्न हो गये। इस प्रकार बहुत समय तक उन्होंने तप और संयम का पालन किया। अन्त में एक मास अर्थात् षष्ठिभक्त में अपनी आत्मा को झौंक दिया।

सुबाहु अनगार ने पूरे तीस दिन का संथारा किया अर्थात् साठ भक्त छोड़े। शास्त्रकार ने मास के साथ दिन और भक्त का उल्लेख स्पष्टता के लिए कर दिया है। महीना और दिन आदि भी मौसिम-मौसिम के और निराले-निराले होते हैं। इसलिये सब प्रकार का सन्देह मिटाने के लिये यह स्पष्टीकरण है।

अनागर सुबाहु आलोचना-प्रतिक्रमण करके पाप से निवृत्त हो गये। यथासमय काल करके सौधर्म नामक पहले देवलोक में देवता हुए।

(२१)

सुबाहु का भविष्य

—★—

गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा--भगवन् ! सुबाहुदेव पहले स्वर्ग से च्युत होकर कहाँ उत्पन्न होगा ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! सुबाहु देव प्रथम स्वर्ग की आयु और स्थिति क्षय करके फिर मनुष्य-जन्म धारण करेगा। उस मनुष्य-जन्म में भी केवल ज्ञानी के वचन का प्रतिबोध पाकर तथारूप स्थविर से अनगारपन धारण करेगा। बहुत वर्षों तक संयम और तप का आचरण करके आलोचन-प्रतिक्रमण करके तीसरे देवलोक में उत्पन्न होगा। वहाँ से फिर च्युत होकर मनुष्य-जन्म ग्रहण करेगा और फिर उसी प्रकार पाँचवे स्वर्ग में उत्पन्न होगा। इसी तरह क्रमशः सातवें, नौवें और ग्यारहवें देवलोक में बीच-बीच में मनुष्य-शरीर धारण कर-करके उत्पन्न होगा। अन्त में मनुष्य होकर संयम धारण करके सर्वार्थसिद्धि विमान में देव होगा वहाँ की आयु पूर्ण करके महाविदेह क्षेत्र में अन्तिम बार मनुष्य-भव धारण कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा--परमात्मा बन जायेगा।

—

उपसंहार
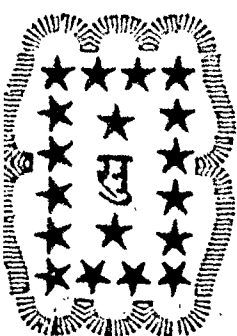
बाहुकुमार के चरित्र के रूप में सुखविपाक सूत्र का प्रथम अध्ययन समाप्त हुआ। 'सुखविपाक' का अर्थ है—सुख रूप रस। जीव को सच्चे सुख की प्राप्ति किस उपाय से हो सकती है, यही इस शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। साधारण जनता भी इस विषय को भलीभाँति समझ ले, इस उद्देश्य से यह शास्त्र कथा के रूप में कहा गया है।

कुछ विषय ऐसे होते हैं, जिनका सम्बन्ध विशेष रूप से विद्वानों के साथ ही होता है और कोई-कोई विषय सार्वजनिक होते हैं। विचार करने से सहज ही मालूम हो जायगा कि संसार का प्रत्येक प्राणी सुख का अभिलाषी है। क्या नर और क्या सुर, क्या कीड़ी, क्या कुंजर, छोटे से छोटे और बड़े से बड़े जीवधारी का मुख्य प्रयोजन सुख प्राप्त करना है। प्रत्येक प्राणी निरन्तर इसी उद्देश्य में लगा रहता है। संसार के समस्त व्यवसाय सुख के लिए ही किये जाते हैं। सभी जीवों का एकमात्र जीवन--साध्य सुख--एकमात्र सुख ही है। अतएव सुख का सम्बन्ध किसी खास श्रेणी के जीवों के साथ नहीं, सभी के साथ है।

दलदल में फँसा हुआ मनुष्य ज्यों-ज्यों निकलने की चेष्टा करता है त्यों-त्यों अधिक फँसता जाता है। कफ में उलझी हुई मक्खी उसमें से निकलने के लिए अपने छोटे-छोटे पंख फड़फड़ाती है, मगर परिणाम विपरीत होता है। सुलझने के बदले वह ज्यादा उलझ जाती है।

यही दशा अधिकांश सुखार्थियों की है। सुख पाने के लिये लोग नाना प्रकार की साधन-सामग्री जुटाते हैं। कोई धन-दौलत का आश्रय लेते हैं, कोई कुटुम्बी जनों का सहारा लेते हैं, कोई और ही उपाय करते हैं। ऐसा करके वे लोग समझते हैं कि हमने सुख की कुंजी खोज निकाली है और अब हमें सुख की कोई कमी नहीं रहेगी। मगर खेद ! 'मर्ज बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की ।'

एक मनुष्य पुत्रहीन था। वह पुत्र के अभाव में अपना जीवन निष्फल, निराधार और अन्धकारपूर्ण मान रहा था। उसके दुःख का पार न था। दैवयोग से उसे पुत्र की प्राप्ति हुई। अंधे को लकड़ी मिल गई। घोर अन्धकार में दैवी दीपक का आलोक दृष्टि-गोचर हुआ। मानों संसार के समस्त सुखों का द्वार खुल गया। सुख की सीमा न रही। बाहर पुत्र-जन्म की खुशी में उत्साह मनाया जा रहा था—मंगलगीत गाये जा रहे थे कि अचानक भीतर से नवजात शिशु के चल बसने का हृदयभेदी संवाद मिलता है !

इष्ट वस्तु का संयोग न होने से दुःख तो होता है, मगर संयोग के बाद वियोग होने पर तो दुःख की सीमा नहीं रहती। ऐसी स्थिति में संयोग सुख का कारण कैसे कहा जा सकता है ?

सच बात यह है कि जहाँ पर का संयोग है, वहीं दुःख है। जितने-जितने अंशों में संयोग की कमी होगी, उतने ही अंशों में सुख की वृद्धि होगी।

संयोग मात्र विनश्वर है। संयोग का वियोग के साथ नित्य सम्बन्ध है। जहाँ हम अपने सुख के लिए परकीय वस्तु पर निर्भर हुये कि हमने दुःख को आमन्त्रण दिया। आत्मा से भिन्न समस्त पदार्थ पर हैं और उनका संयोग अनित्य है। जब आत्मा उनमें

स्वत्व बुद्धि धारण करता है और उनके संयोग में सुखी होता है तो उनके वियोग में उसे दुःखी होना ही पड़ेगा।

मगर मोही जीव यह नहीं समझता। अज्ञान के अधीन होकर वह सुख के लिए पर-पदार्थों का निमित्त चाहता है। यही चाह उसके दुःख का असली कारण है।

स्पष्ट है कि सुख का मार्ग निराला है। पर-पदार्थों से ममता का भाव हटा लेने में, उनमें स्वत्व की बुद्धि न स्थापित करने में ही सुख का रहस्य है। अगर आप सच्चा सुख प्राप्त करना ही चाहते हैं तो बाह्य पदार्थों पर अवलम्बित रहने वाले सुख को त्याग दें। यह सुख कर्माधीन है, पुद्गलाधीन है, अल्प काल तक ही ठहर सकता है, इसके बीच-बीच में दुःख आया करते हैं, यह पाप का बीज है और अन्त में घोर दुःख देकर विदा हो जाता है। सच्चा सुख आत्मनिर्भर होने में है। आत्मा जब पर-पदार्थों में पूर्ण मध्यस्थ-भाव धारण करता है, किसी भी वस्तु में राग या द्वेष नहीं करता, तब उसे सच्चा सुख प्राप्त होता है। आत्मा में अनन्त आनन्द भरा है। आत्मा का स्वभाव ही आनन्द है। मगर अज्ञान आत्मा अपने अक्षय खजाने से अनभिज्ञ है। वह पुद्गलों से आनन्द की भीख माँगता है। इसीलिए वह दुखी है।

सुख के लिए कहीं भी बाहर की तरफ नजर फैलाने की जरूरत नहीं है। अपनी ही ओर देखने से, अपने में ही लीन होने से सुख की प्राप्ति होगी। बाह्य वस्तुएँ सुख नहीं दे सकतीं। उनसे जो सुख मिलता मालूम होता है, वह सुख नहीं, सुखाभास है। शहद लपेटी हुई तलवार की धारा चाटने से क्षणभर सुख-सा प्रतीत होता है, मगर उसका परिणाम कितना दुःखप्रद है? यही बात

संसार की समस्त सुखसामग्री का है। अन्ततः राजपाट, महल-मकान, मोटर, गाड़ी, भोजन, वस्त्र, कुटुम्ब-परिवार आदि सभी पदार्थ धोखा देने वाले हैं। अथवा इनमें जो मनुष्य का अनुराग है वह चिर दुःख का कारण है। अतएव इन सब से निरपेक्ष होकर एकमात्र आत्मपरायण बनना सुख का सच्चा मार्ग है।

जहाँ बाह्य पदार्थों का संसर्ग होगा, वहाँ व्याकुलता होना अनिवार्य है, और जहाँ व्याकुलता है वहाँ सुख नहीं है। निराकुलता ही सुख है और निराकुलता तभी आती है जब संयोगमात्र का त्याग कर दिया जाता है।

सुबाहुकुमार की कथा का यही रहस्य है। सुबाहुकुमार राजकुमार था। फिर वह राजा भी हो गया। संसार का समस्त वैभव उसके चरणों में लोटता था। भोगोपभोग की सारी सामग्री उसे प्राप्त थी। फिर भी उसके विवेक को वह रुचिकर न हुई। उसे उसमें सुख दिखाई न दिया। उसने तिनके की तरह सभी कुछ त्याग दिया। मोह के पर्दे को फाड़ डाला। राग पर विजय प्राप्त कर ली। फल यह हुआ कि वह सुख-प्राप्ति के पथ पर अग्रसर हुआ और सच्चे सुख का अधिकारी होगा।

एक पुरुष सुख रूपी पुरुष को पकड़ने दौड़ा। सुख रूपी पुरुष भागा। पकड़ने वाला उसके पीछे-पीछे दौड़ा और सुख आगे-आगे भागता ही गया। आखिर सुख हाथ न आया। पकड़ने के लिये दौड़ने वाला पुरुष थक गया। वह अशक्त होकर एक झरने के समीप, वृक्ष की छाया में बैठकर सुख न पा सकने की चिन्ता में मग्न हो गया। सुख को न पा सकने से उसे इतना दुःख हुआ कि उसे अपने कपड़े और यहाँ तक कि शरीर भी भारी मालूम होने लगा। उसके पास खाने को था, मगर चिन्ता के कारण उसे खाना न सूझा।

इतने ही में उधर से एक मनुष्य निकला। उसने इस चिन्ता-ग्रस्त पुरुष से चिल्लाकर कहा—'मुझे सुख दे!'

यह चिन्ताग्रस्त पुरुष आश्चर्य में डूब गया। सोचा—यह कौन है जो मुझ से सुख माँग रहा है? अगर मेरे पास सुख होता तो इतना भटकने की जरूरत ही क्या थी? उसने उसकी ओर मुड़ कर देखा तो एक दरिद्र-सा पुरुष उसे नजर आया। उस दरिद्र ने फिर उससे कहा—'मुझे सुख दे।'

इसने उत्तर दिया-मेरे पास सुख कहाँ है? मैं कहाँ से तुझे सुख दूँ?

दरिद्र ने कहा-तेरे पास सुख न होता तो मैं माँगता ही क्यों?

पीले प्याला हो मतवाला, प्याला प्रेम-दया रस का रे।
नाभिकमल बिच है कस्तूरी, कैसे भर्म मिटे मृग का रे ॥ पीले० ॥

दरिद्र पुरुष ने फिर कहा—मृग की नाभि में ही कस्तूरी होती है। फिर भी वह कस्तूरी की खोज में इधर-उधर भागता फिरता है और यह नहीं जानता कि कस्तूरी मेरी ही नाभि में है। इसी प्रकार तू सुख के लिए दौड़-दौड़ कर थक गया परन्तु तुझे यह पता नहीं कि सुख तो तेरे ही पास है। और वह सुख भी थोड़ा नहीं, अनन्त है, अक्षय है, असीम है, अद्भुत है।

दरिद्र पुरुष की यह बात सुनकर वह आश्चर्य में आ गया। वह सोचने लगा—क्या यह मेरी हँसी करता है? फिर उससे पूछा-मेरे पास सुख कहाँ है?

दरिद्र ने कहा—मैं बता सकता हूँ। तुम्हारे पास यह जो खाना पड़ा है, यह मुझे दे दो तो मैं बतलाऊँ।

सुख के अभिलाषी पुरुष ने अपना खाना उसे दे दिया। दरिद्र खाना खाकर हँसते हुये चेहरे से उसके सामने खड़ा हुआ।

फिर कहने लगा—अब देख। मैं कितना सुखी हो गया हूं। यह सब तेरा ही प्रताप है। तू ने मुझे सुख दिया, इसी कारण मैं सुखी हो गया हूँ।

दरिद्र पुरुष की बात सुनकर वह कहने लगा—अब मैं समझ गया। वास्तव में दूसरे से सुख मांगने में सुख नहीं है, किन्तु दूसरे को सुख पहुंचाने में सुख है। सुख भिखारी को नहीं, दाता को होता है।

यह दृष्टान्त है। इसे दार्ष्टान्त में घटाइए। मनुष्य जब जन्म लेता है तो कुछ दिन बाद घूघरे आदि खिलौनों में ही सुख मानता है। फिर जब कुछ बड़ा होता है तो वह सुख भाग जाता है और गुल्ली, डंडा, पतंग आदि में उसे सुख जान पड़ता है। जब कुछ और बड़ा होता है तो यह सुख भी भाग जाता है और पढ़ने-लिखने में ही सुख मालूम होता है। किन्तु अधिक बड़ा होने पर इस सुख से भी संतोष नहीं होता। इस समय पैसे में सुख प्रतीत होता है। किन्तु अकेला पैसा भी अब सुखी नहीं बना सकता। कदाचित् पैसे मिल गये तो स्त्री में सुख दिखाई देता है। दैवयोग से स्त्री भी मिल गई तो फिर बाल-बच्चों में सुख नजर आता है। बाल-बच्चे भी पुण्ययोग से प्राप्त हो गये तो फिर भी नई नई आकांक्षाएं मनुष्य को सताती ही रहती है।

मतलब यह है कि मनुष्य सुख के पीछे दौड़ता है, फिर भी उसे सुख नहीं मिलता। सुख उसी के पास है, मगर वह उसे भूला हुआ है।

सुबाहु की यह कथा पाठकों को सुख का राजमार्ग प्रदर्शित करती है। इस कथा के प्रकाश में मनुष्य अपने आन्तरिक नेत्र खोल कर देखेगा तो उसे अपने ही समीप सुख का अथाह महासागर लहराता दृष्टिगोचर होगा। उसमें मग्न होने पर चिरकालीन सन्ताप और व्याकुलता समाप्त हो जायगी और मनुष्य शाश्वत शिव-स्वरूप प्राप्त करेगा।